प्रकाशक :
हीराचन्द वैद
पारसमल कटारिया
—मानद मंत्री

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन
श्री आत्मानंद जैन सभा, भवन
घी वालों का रास्ता,
जयपुर-३

वि० सं० २०२७
प्रथमा वृत्ति ; प्रति : १०००

मूल्य : ४ रु०

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स, जयपुर-३

प्रकाशकीय

हिन्दी-साहित्य प्रकाशन की यह १२वीं किताव है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजना के तीन वर्ष पूर्ण हुये।

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन-जयपुर द्वारा नैतिक-धार्मिक व आध्यात्मिक साहित्य का प्रकाशन कार्य सुचारु रूप से हो रहा है। हिन्दी-भाषी जनता का हमें सहयोग प्राप्त हुआ है और साहित्य का अच्छा प्रसार हो रहा है।

पूज्य मुनिराज **श्री भद्रगुप्तविजयजी** म. सा. की हिन्दी-भाषी जनता के प्रति जो मनोभावना है 'सवको मोक्ष मार्ग वनाऊं' यह मनोभावना को सफल करने में हम किंचित् सफल बने हैं।

अब चौथे वर्ष में—

(१) वनवास [रामायण का चौथा भाग]

(२) युद्ध और मुक्ति [रामायण का पांचवा भाग]

(३) रामायण में जीवन दृष्टि [प्रेरक ७ प्रवचन]

(४) अन्तरनाद [मौलिक]

इस प्रकार कितावें प्रकाशित होगी।

यदि आप इस पंचवर्षीय योजना के सदस्य नहीं बने हैं तो अव अवश्य वन जायं। चूंकि पांचवे वर्ष में प्रथम वर्ष

की किताबें प्राय: प्राप्त नहीं होगी। इस वर्ष में सदस्य बनने वालों को योजना की सब किताबें हम देंगे।

आप शुभ प्रसंग में, जैसे पर्व दिनों में प्रभावना, वर्षीतप के पारणे में प्रभावना, स्नेही-स्वजनों को भेंट....किताबों को दे सकते हैं।

सम्यग् ज्ञान ही अज्ञानता मिटा सकता है। अज्ञानता मिटे बिना मोक्षमार्ग दिखता नहीं है। अत: ज्ञानप्राप्ति के लिये विशेष पुरुषार्थ करें।

मानद मंत्री
हीराचन्द वैद
पारसमल कटारिया

भाद्रपद- पूर्णिमा
दि. सं. २०२७

इतना पढ़ लो

'ज्ञानसार' मात्र एक वार पढ लेने का ग्रन्थ नहीं है, इस ग्रन्थ को तो वार-वार पढ़ना पड़ेगा, उस पर चिन्तन और मनन करना पड़ेगा....।

यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करने हेतु इस ग्रन्थ का मननपूर्वक अध्ययन होना चाहिये। आप इस ग्रन्थ में अपनी मानसिक समस्याओं का समाधान ढूंढो। आप इस ग्रन्थ में अपनी आध्यात्मिक उन्नति का पथ देखो। आप इस ग्रन्थ में तत्व गवेषणा करो।

अनन्त उपकारी पूजनीय उपाध्याय श्री यशोविजय जो गणिवर ने 'ज्ञानसार' की अद्‌भुत रचना की है। अपनी वृद्धावस्था में की हुयी यह ग्रन्थरचना वास्तव में श्रेष्ठ रचना है, ३२ अष्ठक में ३२ विषयों का मर्मस्पर्शी प्रतिपादन किया है। मैंने स्वयं इस ग्रन्थ को हजारों वार स्वाध्याय किया हैं और इस से प्रेरणा प्राप्त की है। मन की शान्ति और आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त की है। संसार के जीव भी ऐसी शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त करें इस हेतु से ही इस ग्रंथ पर सरल एवं सामान्य विवेचन लिखा है। मैं अल्पमति हूं, अतः विवेचन में अनेक त्रुटियां हो सकती है, अतः विद्वान् पुरुषों से मेरी प्रार्थना है कि वे मेरी त्रुटियां को न देखें, इस में जो सारभूत हों ग्रहण

मेरा यह विवेचन लिखने का प्रयत्न है वह अल्पमति

जीवों के लिये हैं। आचार्यों का कथन है कि "शुभे यथाशक्ति यतनीयम्" 'शुभ कार्य में शक्ति अनुसार प्रयत्न करना चाहिये' इस कथनानुसार मैने प्रयत्न किया है। मेरी छद्मस्थता, अल्पज्ञता और अज्ञानता से यदि कोई स्खलना हुई हो तो मैं क्षमा चाहता हूँ, विद्वान् पुरुष मुझे क्षमा प्रदान करें।

कर्मपरवश जीव के जीवन में अनेकविध अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां उपस्थित होती हैं, उनमें फंसकर जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान कर अशुभ कर्म बांधता है....और दुर्गति में चला जाता है...इस से बचने का एक ही मार्ग है सम्यग्ज्ञान] ऐसा ज्ञान प्राप्त हों कि जीव आर्तध्यान व रौद्रध्यान से बच जायँ ! 'ज्ञानसार' ऐसा ज्ञान देता है। सब जीवों को ऐसा ज्ञान प्राप्त हों, शुभ कामना करता हूँ।

दि. सं. २०२७,
भाद्रपद-पुर्णिमा
शीव (बंबई २२)

भद्रगुप्तविजय

सुकृत के सहभागी

स्व० पूज्य मुनिराज श्री गुणभद्र विजयजी म. सा., पूज्य मुनिराज श्री मुनिचन्द्र विजयजी म. सा., पूज्य मुनिराज श्री कीर्तिचन्द्र विजयजी म. सा. एवं पूज्य मुनिराज श्री जिनचन्द्र-विजयजी म. सा. की प्रेरणा से श्री श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ-रोहीड़ा [राजस्थान] ने ज्ञान खाते में से रु० १५००/ इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु प्रदान किये हैं। हम पूज्य मुनिवरों का व रोहीडा जैन संघ के आभारी हैं।

मानद मंत्री
श्री विश्वकल्याण प्रकाशन

मूल ग्रन्थकार

न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय श्री

यशोविजयजी

विवेचनकार

सिद्धान्त महोदधि स्व० आचार्य देव श्री प्रेमसूरिश्वरजी म. सा. के विद्वान शिष्यरत्न तपोनिधि पू. पं. श्री भानुविजयजी गणिवर के शिष्यरत्न पू० मुनिराज श्री भद्रगुप्तविजयजी ।

हिन्दी-अनुवादक

जसराज सिंघी [सिरोही वाले] पृष्ट १ से १५४

पारसमल कटारिया [शिवगंज] पृष्ठ १५५ से ३७७

अनुक्रम

१७ निर्भयता

यस्य नास्ति परापेक्षा स्वभावाद्वैतगामिनः ।
तस्य किं नु भयभ्रान्ति क्लांति सन्तानतानवम् ॥१॥१२६॥

श्लोकार्थ

जिसे दूसरे की अपेक्षा नहीं तथा जो स्वभाव की एकता को प्राप्त करने वाला है, उसे भय की भ्रान्ति से हुए खेद की परंपरा की अल्पता कैसे न हो ।

श्लोक विवेचन

क्या आप जानते हैं कि आपके जीवन गगन में भय के बादल क्यों छाये हुए हैं ? क्या आपने कभी भी सोचा है कि भय की भ्रान्ति किस प्रकार पैदा होती है ? भय—नाना प्रकार के भय—इस भय-परंपरा से आप निरन्तर अशांत और संतप्त हैं—फिर भी आप सोचते नहीं कि भय की भट्टी में आप क्यों जल रहे हैं !

क्या आप चाहते हैं कि आपका जीवन भय मुक्त बने ? निरभ्र जीवन गगन में निर्भयता का सूर्य चमक उठे और उस प्रकाश के सहारे आप शिवमार्ग पर बढ़ते चलें, ऐसी आपकी

इच्छा है क्या ? यहाँ पू. उपाध्यायजी भयमुक्त बनने के दो मार्ग दो उपाय बताते हैं।

१. पर-पदार्थों की अपेक्षा का त्याग करो।

२. स्व-भाव के अद्वैत की उपेक्षा का त्याग करो।

भय भ्रान्त दशा का निदान भी इस मार्ग-सूचन में से प्राप्त होता है।

पर-पदार्थों की अपेक्षा

स्व-भाव अद्वैत की उपेक्षा

आओ ! हम इस निदान को स्पष्टता से समझें।

'पर-पदार्थ' अर्थात् आत्मा से भिन्न वस्तु। ये पर-पदार्थ अनंत हैं। जीव अनादिकाल से इन पर-पदार्थों के सहारे ही जीने का आदी है, पर पदार्थों की अपेक्षा से ही जीवित रहना संभव है ऐसी उसकी दृढ़ मान्यता बन चुकी है। शरीर, वैभव, संपत्ति, स्नेही, स्वजन, कुटुम्ब परिवार, मान-कीर्ति—और इन सबसे संबंधित पदार्थों की स्पृहा, उन पर ममत्व और राग जीव को बार बार भयभीत करता है।

'यह किस प्रकार प्राप्त होगा ? यदि यह नहीं मिला तो ? मैं क्या करूँगा ? मेरा क्या होगा ? यह····नहीं सुधरे तो ? यह···· बिगड़ गया तो ?

पर-पदार्थों के अभाव में अथवा पर-पदार्थ बिगड़ जाने की कल्पना में जीव को दुःख के पर्वत टूटते नजर आते हैं···· वह काँप उठता है—उसका मन खिन्न बन जाता है। उसका मुख म्लान हो जाता है। इन पर-पदार्थों के चारों ओर रात दिन भटकने में जीव अपने आत्म स्वभाव को भूल जाता है।

आत्मा की सरासर उपेक्षा कर रहा है। आत्मा! आत्म-स्व-भाव—यह आत्मस्वभाव की रमणता-लीनता-जीव ने इस आत्म रमणता की घोर उपेक्षा की है। फिर भय-भ्रान्त नहीं तो क्या होगा।

पर-पदार्थों की अपेक्षा का त्याग करो। आत्म स्वभाव की उपेक्षा का त्याग करो, भय भ्रान्त दशा की विवशता, व्याकुलता और विषाद का नामोनिशान मिटाने के लिये इतना अवश्य करना पड़ेगा, तब पर-पदार्थों की अपेक्षा टूट जायगी अर्थात् पर-पदार्थों के अभाव में जब आप दुःखी न वनें, चिन्ता न करें, निराश न हों तब आत्म स्वभाव की मस्ती जाग उठेगी। भय के परिताप में सुलगता हृदय खिल उठेगा। निर्भयता की खुमारी और विषय विराग की प्रभापूर्ण अभिव्यक्ति होगी। भय की सुलगती हुई तीव्र इच्छाओं की भट्टियाँ ठंडी हो जायँगी! शरद की शुभ्र चाँदनी जैसी निर्भयता की शीतलता छा जायगी।

भव सौख्येन किं भूरिभयज्वलन भस्मना ?
सदा भयोज्झित ज्ञान सुखमेव विशिष्यते ॥२॥ १३०

श्लोकार्थ

अधिक भयरूप अग्नि से भस्मीभूत वने संसार के सुख से क्या ? सदा भयरहित ज्ञान सुख ही सर्वाधिक है।

श्लोक विवेचन

संसार का सुख ? भस्म है, राख है राख! भय की प्रचंड-आग में से उत्पन्न राख है यह संसार का सुख। राख जैसे संसार-सुख का आपको क्या काम है ?

संसार के सुख अर्थात् शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के सुख। ये शब्द आदि संसार-सुखों के अनंत रूप—अनंत प्रकार

चर्म चक्षुओं से देखने पर राख नहीं दीखते। ये राख हैं—यह देखने-समझने के लिये इन सुखों का पृथक्करण करना पड़ता है।

भय आग है क्या ? यदि भय को आप प्रचंड आग मानते हैं तभी संसार सुख राख लगेगा। अतः पहिले भय को आग मानें-समझें-अनुभव करें। आग का स्पर्श होते ही आग जलाती है, भय का स्पर्श हृदय को जलाता है। इस ज्वाला की वेदना असह्य होती है।

भय का स्पर्श कब होता है ? भय की आग कब लगती है, कुछ पता है ? जहाँ संसार-सुख की अभिलाषा जागी—संसार सुख के उपभोग की तमन्ना पैदा हुई कि भय की आग भभक उठती है—उपभोग करने से पहिले तो ये संसार सुख भय की आग में जलकर राख हो जाते हैं—! फिर वे छोटे २ बच्चे राख को शरीर पर मल कर प्रसन्न होते हैं और नाचने लगते हैं उस तरह आप भी भले ही इस संसार सुख की भस्मी को शरीर पर मल कर प्रसन्न हों और नाचें !

संसार के एक २ सुख के पीछे अनेक भयों के भूत लगे रहते हैं। रोग का भय, विनाश का भय, अपकीर्ति का भय, चोर का भय, सरकार का भय, भवभ्रमण का भय, ऐसे अनेक भय लगे रहते हैं। अतः ऐसे सुखों की इच्छा भी न करो कि जिन सुखों को भय की आग लगने की संभावना-शक्यता हो।

विश्व में सुख के अनंत प्रकार हैं, उनमें एक मात्र 'ज्ञान सुख' ही एक ऐसा सुख है कि जिसे भयकी आग नहीं छू सकती—फिर उस सुख को जलाने की तो बात ही कहाँ ? ज्ञान सुख को भय की अग्नि जला नहीं सकती, भय के भूत खा नहीं सकते, न भय के घनघोर बादल छिपा सकते हैं।

ज्ञान की विश्व मंगला वर्षा से आत्म भूमि पर वेदना विषाद की आग बुझ जाती है और सुख-आनंद के अमर पुष्प खिल उठते हैं। इन पुष्पों की दिव्य सुगंध से मन में ब्रह्म की मस्ती, कंठ में अलख का कूजन और यौवन में अलख का स्पंदन जाग उठता है।

रंक जीवन को वैभवशाली बनाने की 'ज्ञान सुख' में शक्ति है। आत्मा के अतल उदधि की अगाधता को स्पर्श कर सकने की ज्ञान सुख के पास कला है! संसार सुख में नहीं ऐसी कला और न ऐसी शक्ति। संसार सुख की अपेक्षा ज्ञान सुख बढ़-कर है-उसका यही कारण है। ज्ञान में से सुख और आनंद मिल जाएगा, फिर संसार सुख भस्म जैसे लगेंगे-समझ में आयेंगे-तथा वैसा अनुभव होगा।

न गोप्यं क्वापि नारोप्यं हेयं देयं च न क्वचित्।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ॥३॥१३१

श्लोकार्थ

जानने योग्य तत्त्व को स्वानुभव के द्वारा देखते हुए मुनि के लिये कहीं भी छिपाने योग्य नहीं और रखने योग्य नहीं। कहीं छोड़ने योग्य नहीं या देने योग्य नहीं। तो भय से कहाँ रहना उचित है? अर्थात् मुनि को कहीं भी भय नहीं।

श्लोक विवेचन

हे मुनिराज! क्या आपने कुछ छिपा रक्खा है? क्या आपने कोई वस्तु किसी के यहाँ रख छोड़ी है? क्या आपने कोई चीज जमीन में छिपा रक्खी है? क्या आपको कुछ छोड़ देना पड़े-ऐसा है। क्या आपको कुछ दे डालना पड़े-ऐसा है? तो भला! आपको भय किस बात का?

महा मुनि ! आप निर्भय हैं। आपको निर्भय बनाने वाली ज्ञान दृष्टि है। ज्ञान दृष्टि से विश्वावलोकन करते हुए आप निर्भयता पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

जहाँ ज्ञान दृष्टि वहां निर्भयता। जगत जानना पर राग द्वेष किये विना। जगत की उत्पत्ति-विनाश और स्थिति को देखना-जानना.... ! यह है ज्ञान दृष्टि। ज्ञान दृष्टि से आप जगत को देखें तब राग-द्वेष-मोह नहीं होने पाए यदि जगत के अवलोकन में राग द्वेष अथवा मोह हो जाए तो समझना चाहिये कि यह अवलोकन ज्ञान दृष्टि से नहीं, अज्ञान दृष्टि से किया हुआ था।

राजा क्रोध पूर्वक हाथ में खुली तलवार लेकर झांझरिया मुनि के पास आया था तब उन महामुनि ने जगत की इस घटना को किस दृष्टि से देखा था ? ज्ञान दृष्टि से उन्हें राजा पर क्रोध नहीं आया। उन्हें अपनी देह पर मोह नहीं हुआ। ज्ञान दृष्टि में उन्होंने राजा को कैसा देखा था ? राजा की तलवार और राजा का क्रोध-यह सब कैसा देखा था ? राजा मेरा कुछ लूट सके ऐसा नहीं...मेरे पास कुछ भी छिपाने योग्य नहीं। यह देह भी बचाने योग्य नहीं। देह विनाशी है...राजा की तलवार देह पर गिरेगी तब मैं जिन ध्यान में-समता-समाधि में रहूंगा— मेरा कुछ भी लुटने का नहीं....महामुनि निर्भयता की परम ज्योति के सहारे परमज्योतिर्मय बन गए।

जहाँ तक कुछ भी छिपाना चाहते हो. गुप्त रखना चाहते हो, देने या लेने की भावना रखते हो, तब तक भय का भूत आपके साथ लगा ही रहेगा। यह भूत आपके मोक्षमार्ग की आराधना में वार २ मानसिक विघ्न डालता रहेगा। ऐसे भूत

को भगाने की सामर्थ्य है डुगडुगी की डुहडुहाट और मिर्चों के धूँए में। ज्ञान दृष्टि की डुगडुगी और मोक्षमार्ग की आराधना की क्रियाओं के मिर्च।

★ इस जगत में कुछ भी छिपाने योग्य नहीं।

★ इस जगत में कुछ भी लेने देने योग्य नहीं।

★ इस जगत में कुछ भी संग्रह करने योग्य नहीं।

ये तीन बातें घोंट २ कर इनका रस अन्तरात्मा में उतारने का है। फिर भय नहीं रहेगा। मुनिमार्ग निर्भयता का मार्ग है क्यों कि वहाँ कुछ भी छिपाने का नहीं जड़ पदार्थों की लेन-देन करने की नहीं—भौतिक पदार्थों का संग्रह करने का नहीं। हे मुनीश्वर! आपके आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में निर्भयता की मस्ती छाई हुई है। उसके आगे स्वर्ग की मस्ती भी तुच्छ है।

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय विघ्नन् मोहचमूं मुनिः।
विभेति नैव संग्राम शीर्षस्थ इव नागराट् ॥४॥ १३२

श्लोकार्थ

एक ब्रह्मज्ञान रूपी शस्त्र को धारण कर मोहरूपी सेना का संहार करते हुए मुनि सबसे आगे रहे हुए उत्तम हाथी की भांति भयभीत नहीं होते।

श्लोक विवेचन

भय किस बात का? मुनि और भय? मुनि के पास 'ब्रह्म ज्ञान' का शस्त्र होता है। यह शस्त्र मुनि को निर्भय रखता है।

मुनि अर्थात् रण के मोर्चे पर संघर्ष करता हुआ मदोन्मत्त हाथी। निर्भीक होकर संघर्ष करता हुआ उत्तम हाथी। उसे

पराजय का भय नहीं। उसे शत्रु मोह की सेना को हुंकार और ललकार कंपित नहीं कर सकती।

मोह की सेना के साथ लड़ते हुए भी मुनि निर्भय होता है। उसका ब्रह्मास्त्र उसे प्रबल उत्साह और जोश देता है। मोह-शत्रु के जोश को ठंडा करने वाला मुनिराज का व्यह 'ब्रह्मास्त्र' की सहायता से सांगोपांग सफल हो रहा होता है। उकसायी हुई, फुलाई हुई मोह सेना का जोश मुनिराज के सामने मिट्टी के कच्चे घड़े जैसा हो जाता है। फिर भी मोह सेना की उखाड़ पछाड़ कम नहीं।

महाव्रतों के पालन की सांगोपांग सफलता, सार्वत्रिक समता, विश्व मैत्री की भव्य भावना और इन सब के ऊपर परमात्म-भक्ति और आज्ञा पालन, मुनि की शक्ति में बिजली का संचार करती है। मुनि के मुख पर एक नई खुमारी प्रकट होती है। यह खुमारी होती है निर्भयता की, शत्रु पर विजय प्राप्त करने की निःशंक श्रद्धा की।

महामुनि दो प्रकार का जंग खेल रहे हैं, उकसाने का और रक्षा का (Offensive and defensive) शत्रु पर आक्रमण कर शत्रु को हराने के साथ २ स्व संपत्ति का संरक्षण भी करते हैं। दूसरे रास्ते से शत्रु घुस कर लूट न जाए इसकी भी सावधानी रखते हैं।

मुनि उपवास, छठ, अट्ठम करते हैं—मोह सेना के साथ यह ओफेन्सिव युद्ध है, परन्तु मोह मुनि को फँसाने के षडयन्त्र भी कम नहीं करता। 'आहार संज्ञा' के सामने मुनि को लड़ते रहने देकर, दूसरी ओर क्रोध, अभिमान को प्रवेश दिलाने में प्रयत्न-शील रहता है। पर मुनि ऐसे सरल नहीं। डिफेन्सिव जंग में

भी निपुण होते हैं । तपश्चर्या के साथ वे क्रोध करते नहीं, अभिमान करते नहीं ।

ब्रह्मास्त्र के सहारे महामुनि रणमैदान में मोह शत्रु के सैनिकों को धराशायी करते हुए और शस्त्रों के प्रहार की आँधी को चीरते हुए आगे कदम बढ़ाते जाते हैं । विचारा मोह शत्रु ! जगत को वश में करने वाला मोह स्वयं मुनिराज के वश में हो जाता है, उसकी ताकत मिट्टी में मिल जाती है । मोह शत्रु की अभेद्य ताकत को चूर करने का दृढ़ संकल्प कर महामुनि मोर्चा लेते हैं । मोह सेना की कुटिल इच्छाओं को मिट्टी में मिलाते हुए मुनि दृढ़ कदमों के साथ निर्भय होकर आगे बढ़ते जाते है ।

एक बात है कि शत्रु के चाहे जैसे प्रहार में भी 'ब्रह्मज्ञान' का शस्त्र हाथ में से छूटना नहीं चाहिये । इस शस्त्र को छीनने के लिये शत्रु चाहे जितने पाँव पटके, संघर्ष करे, पर यह शस्त्र छिनने न पाए–इतनी सावधानी महामुनि को रखनी चाहिए—बस, फिर कोई भय नहीं ।

आत्मज्ञान से मुनि निर्भीक होकर आराधना के मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं।

मयूरी ज्ञान दृष्टिश्वेत् प्रसर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भयसर्पाणां न तदानन्दचन्दने ॥५॥ १३३

श्लोकार्थ

यदि ज्ञान दृष्टि रूपी मयूरी मनरूपी वन में स्वच्छन्द रूप से विचरण करती हो तो आनन्द रूपी बावना-चंदन के वृक्ष पर भय रूपी सर्पों का लिपटना संभव नहीं होता ।

श्लोक विवेचन

मन बावना-चंदन का वन है।

आनंद बावना-चंदन का वृक्ष है।

भय-भयंकर सर्प है।

ज्ञानदृष्टि—वन में विहार करती, कूजती मयूरी है।

मुनि का मन अर्थात् बावना-चंदन का वन। इस वन में सुगंध ही सुगंध, चंदन की मधुर महक! इस मन-वन में जहाँ देखो वहाँ चंदन के वृक्ष! सामान्य चंदन के वृक्ष नहीं। बावना-चंदन के वृक्ष। आनंद ही आनंद........

मुनि का मन अर्थात् आनंद वन! इस आनंद वन में मयूरी का कूजन होता रहता है। इस मयूरी का नाम है ज्ञान दृष्टि। फिर वे भय-सर्प चंदन वृक्ष पर लिपट ही नहीं सकते।

ज्ञान दृष्टि मुनि जीवन में महत्व की वस्तु है। ज्ञान दृष्टि के सहारे ही मुनि निर्भय रह सकते हैं, ज्ञान दृष्टि के सानिध्य में ही आत्मानंद की अनुभूति हो सकती है।

ज्ञान दृष्टि अर्थात् ज्ञान की दृष्टि—सम्यग्ज्ञान की दृष्टि। जगत को, जगत के पदार्थों को, जगत के प्रसंगों को और जो कुछ भी देखने-सोचने का वह सम्यग्ज्ञान की दृष्टि से देखना-सोचना। अनादि काल से जीव को देखने की-सोचने की यह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, इसलिये जो भी वह देखता है, सोचता है वह रागदृष्टि या द्वेष दृष्टि से। इससे वह कर्म बंधनों से बंधता है। ज्ञान दृष्टि में न तो होता है राग और न होता है द्वेष! ज्ञान दृष्टि अर्थात् मध्यस्थ दृष्टि। ज्ञान दृष्टि अर्थात् यथार्थ दृष्टि।

अनादिकालीन अज्ञान मन के झुकावों, मलीन प्रवृत्तियों और मिथ्या वासनाओं के सहारे जगत को देखने में, सोचने में भय ही रहता है, निर्भयता प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिये शरीर में कोई रोग हुआ। यह जगत की एक घटना हुई। इस घटना को अज्ञान मन के झुकावों से देखने वाला भयभीत हो जाएगा। मलीन वृत्तियों वाला इन रोगों को दूर करने के प्रयत्नों में लग जाएगा। मिथ्या वासनाओं से घिरा हुआ—इस शरीर के रोग की ही चिंता में डूब जाएगा! भय रूपी सर्प इसके मन-चंदन वन के आनन्द वृक्षों पर लिपट जाएँगे तथा मन-वन में भय-सर्पों की वहुलता होगी।

परन्तु जहाँ मयूरी का कूजन हो, ज्ञान दृष्टि मन-वन में प्रवेश करे, भय-सर्पों के बंधन विल्कुल ढीले हो जाते हैं। ज्ञान दृष्टि, शरीर के रोगों के आक्रमण के समय, शरीर की नश्वरता, रोग प्रचुरता और परिवर्तनशीलता वताती है। साथ ही आत्मा और शरीर का भेद समझाती है। आत्मा की शाश्वतता सम्पूर्ण निरोगिता और आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर निर्देश करती है। 'रोग के कारण पाप कर्म हैं' ऐसा कहकर पाप कर्मों को दूर करने का पुरुषार्थ करवाती है। सनत् कुमार चक्रवर्ती के शरीर में एक साथ सोलह (मतांतर से सात महा रोग) रोग उत्पन्न हुए थे। चक्रवर्ती के मन-वन में ज्ञान-दृष्टि-मयूरी की कूजन होती थी। उन्होंने सभी रोगों के मूल कारण कर्मों को दूर करने का पुरुषार्थ किया। सात सौ वर्षों तक कर्मों के साथ लड़े। ज्ञान दृष्टि ने उन्हें निर्भयता दी, प्रसन्नता दी। अपने मन वन में ज्ञान दृष्टि रूपी मयूरी कूजती ही रहे ऐसा प्रयास करना चाहिये।

कृतमोहास्त्रवैफल्यं ज्ञानवर्म विभर्ति यः।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्ग कर्मसंगरकेलिषु ।।६।। १३४

श्लोकार्थ

जिसने मोहरूपी अस्त्र को निष्फल किया है ऐसा ज्ञान रूपी कवच जो धारण करता है, उसे कर्म के संग्राम की क्रीड़ा में भय कहाँ से हो अथवा पराजय कहाँ से हो ?

श्लोक विवेचन

कर्मों के साथ संग्राम ।

संग्रामकर्ता हैं मुनिराज़ ।

मुनिराज इस संग्राम में निर्भय हैं ।

भय का नाम नहीं, पराजय की गंध नहीं ।

कर्म के सनसनाते मोहास्त्र आते हैं फिर भी मुनिराज के मुख पर मुस्कराहट है। मन में मस्ती है और युद्ध में जोश है ।

जिन मोहास्त्रों के सामने बड़े २ सुल्तानों की कमर ढीली हो जाए, अच्छे २ पहलवानों की टाँगें पानी २ हो जाएँ, धरती को कंपायमान करने वाले महारथी होश हवाश खो बैठें—उन मोहास्त्रों के सतत प्रहारों के सामने मुनिराज अडिग खड़े रहते है–! आश्चर्य नहीं ? इस आश्चर्य का समाधान तो हो मुनि-राज के निकट जाकर, उन्हें टकटकी बाँध कर देखा जाय, देखा ?

मुनिराज के अंग पर कवच देखा ? यह लोहे का नहीं, यह कछुए की ढाल का नहीं । यह कोई रासायनिक या प्लास्टिक की बनावट नहीं । यह कवच है ज्ञान का ।

हाँ,

ज्ञान का कवच मुनिराज ने धारण कर रखा है । कर्म चाहे जितने प्रहार करे, मोहास्त्रों के भंडार खाली कर दे ... ज्ञान रूपी

कवच के सामने सब निष्फल ! कोश्या की चित्रशाला में मुनि-राज श्री स्थूलभद्र यह ज्ञान का कवच धारण करके बैठे थे। महिनों तक मोहास्त्र""सनसनाते मोहास्त्र तीक्ष्ण और तमतमते मोहास्त्र मुनिराज पर फेंके गए। कोई असर नहीं। कोई फल नहीं ! मुनिराज को भय नहीं था। मुनिराज का पराजय नहीं हुआ। स्थूलभद्र जी विजयी बनकर बाहर निकले थे।

बस, 'ज्ञान-कवच' को सम्हाल कर रखें। इसे उतार कर यदि दीवार पर लटकाया या आलमारी में बंद कर दिया और यदि मोहास्त्र आकर चिपक गया तो बारह बजा देगा ! हाँ, आप जानते देखते हुए ज्ञान रूपी कवच को न उतारें, पर यह सरक न जाए। इस बात का ध्यान रखें, क्योंकि ज्ञान-कवच इस प्रकार फिसल गिरता है—

★ इन्द्रियपरवशता

★ कषाय (क्रोधादि)

★ गारव (रसादि)

★ परिषह भीरुता

इन चार में से कोई भी आपको प्रिय लगा कि ज्ञान कवच फिसल जायगा और मोहास्त्र आपके सीने को बींध कर आर-पार निकल जाएगा—आप पराजित होकर भूमि पर गिर पड़ेंगे।

संवेग-वैराग्य और मध्यस्थ दृष्टि को विकसित करने वाले, पुष्ट करने वाले शास्त्रों-ग्रन्थों का अध्ययन, मनन और परि-शीलन करते रहें; आपके विचार और आचरण उनसे रंग डालें।

तूलवल्लघवो मूढा भ्रमन्त्यभ्रे भयानिलैः।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञानगरिष्ठानां तु कम्पते ॥७॥ १३५

श्लोकार्थ

आक की रुई की भाँति हल्के मूढ पुरुष भय रूपी वायु द्वारा आकाश में उड़ते फिरते हैं, परन्तु ज्ञान द्वारा अत्यन्त भारी महा-पुरुषों का एक रोम भी कम्पित नहीं होता।

श्लोक विवेचन

प्रचंड आंधी में आपने धूल उड़ती देखी होगी, कपड़े उड़ते देखे होंगे, पत्थर उड़ते देखे होंगे—पर लोग उड़ते देखे हैं क्या? हाँ, वड़े-वड़े व्यक्ति उड़ते हैं। प्रचंड वायु के झोंके उन्हें आकाश में चक्कर कटवाते हैं और फिर जमीन पर पछाड़ते हैं।

जान लो इस प्रचंड पवन को।

इसका नाम है भय।

जैसे प्रचंड वायु के वेग में आक की रुई उड़ जाती है और आकाश में निराधार उड़ती रहती है, उसी प्रकार वायु में मानव उड़ता है और इधर-उधर भटकता फिरता है। विकल्पों के आकाश में भटकता रहता है। बिल्कुल निराधार! कोई भय लगा कि जीव उड़ता है।

रोग का भय, इज्जत चली जाने का भय, धन सम्पत्ति चली जाने का भय, कुटुम्ब परिवार विगडने का भय। ऐसे अनेक प्रकार के भयों के वायु प्रवाहित होते रहते हैं और मूढ जीव इसमें उड़ते रहते हैं। इन्हें न होती है स्थिरता और न होती है शांति।

मुनि ज्ञान से बोझिल होते हैं। सत्त्व गुण का वोझ बढ़ता है और तमो-रजो गुण का भार हल्का नहींवत् हो जाता है।

हाँ, हिमाद्रि जैसे ज्ञानी पुरुषों का तो रोम भी नहीं हिलता। भले ही सौ मील की गति से या डेढ़ सौ मील की तीव्र गति से

आँधी चले। ज्ञानी पुरुष हिमाचल जैसे निश्चल और निष्प्रकंप रहेंगे। झांझरिया मुनि को बदनाम करने के लिये उस निर्लज्ज स्त्री ने मुनि के पाँव में झाँझर पहना दिया और मुनि का पीछा किया—'दौड़ो! इसने मेरी इज्जत लूटी है……' फिर भी ये महा-मुनि तो निर्भयता से त्रंबावटी नगरी के राजमार्ग पर आगे बढ़ते जाते थे। कोई भय नहीं। कोई विकल्प नहीं। "हाय! अब मेरा क्या होगा? मेरी इज्जत क्या रहेगी? लोग क्या मानेंगे और क्या करेंगे……?" ऐसी कोई हाय-तोबा नहीं……क्योंकि वे ज्ञानी थे। पहाड़ जैसे अविचल थे।

ज्ञानी बनें तभी भय पर विजय प्राप्त की जा सकती है। भय पर विजयी बने हुए मानव का आनन्द…उसकी प्रसन्नता का कौन वर्णन कर सकता है। यह तो अनुभव करने की होती है–कहने की नहीं। भयभ्रान्त व्यक्ति इस आनन्द की–इस प्रस-न्नता की कल्पना भी नहीं कर सकता।

ज्ञानी बनने का अर्थ मात्र जानकार होना ही नहीं। मात्र-पांच-पचास या सौ-दो सौ शास्त्र पढ़ लेना ही नहीं। ज्ञानी बनना अर्थात् अपने आसपास घटित होती घटनाओं को ज्ञान दृष्टि से देखना। इस प्रकार देखना कि जिस घटना को देखकर अज्ञानी थरथर कांपता हो, ज्ञानी वहां निश्चल और निष्प्रकंप रहे। जिस प्रसंग को देखकर अज्ञानी फूट २ कर रोए, ज्ञानी वहाँ स्थिर, गंभीर और मध्यस्थ रहे। जिस घटना को देखकर अज्ञानी छिपने, भागने का प्रयत्न करे, ज्ञानी वहाँ सीना तान कर खड़ा रहे। जरा भी डर नहीं, भय नहीं।

ऐसे ज्ञानी बनने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी भय के झंझावातों से तन-मन की तन्दुरुस्ती टिका सकेंगे, मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ सकेंगे।

निर्भयता के मार्ग ज्ञानी को मिलते हैं।

चित्ते परिणतं यस्य चारित्रमकुतोभयम्।
अखण्डज्ञानराज्यस्य तस्य साधोः कुतो भयम् ॥८॥१३६

श्लोकार्थ

जिसके चित्त में, जिसे किसी से भय नहीं ऐसा चारित्र्य परिणमित है, ऐसे अखंड ज्ञान रूपी राज्य वाले साधु को कहाँ से भय हो ?

श्लोक विवेचन

चारित्र्य।

अभय चारित्र्य।

अभय का भाव प्रकट करवाने वाला चारित्र्य जिनके पास है उन्हें भय किस बात का ? क्योंकि वे तो अखंड ज्ञान रूपी राज्य के महाराजा हैं।

अखंड ज्ञान का राज्य;

उसके महाराजा हैं मुनि !

ऐसे राज्य के ऐसे महाराजा भय भ्रान्त हों भी ? व्याकुल हों? उन्हें भय प्रेरित व्यथाएं नहीं होती। चारित्र्य की भावनाओं से मुनिकी मति भावित हुई होती है। समस्त संसार के वाह्य भौतिक पदार्थों और कर्म जन्य भावों की तरफ वे इस दृष्टिकोण से देखते हैं:—

'क्षणविपरिणाम धर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे।
सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥'

—प्रशमरतिः

'मनुष्यों की ऋद्धि और संपत्ति क्षण में बदलने की स्वभाव वाली है। सभी ऋद्धि के समूह शोकदायी हैं। संयोग वियोग में परिणत होते हैं।

अब यह ऋद्धि या संपत्ति चली जाय, बदल जाय अथवा नष्ट हो जाए-इसके भविष्य का ज्ञान जिसे होता है, उसे शोक होता नहीं, भय लगता नहीं।

चारित्र्य में स्थिरता लाने वाली तथा अभय देने वाली दूसरी भी भावनाओं को मुनि अपने मन में स्थान देते हैं:-

भोग सुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम्॥

—प्रशमरतिः

'अनित्य, भययुक्त और पराधीन भोग सुखों को क्या करना? नित्य, अभय और आत्मस्थ प्रशमसुख हेतु ही प्रयत्न, पुरुषार्थ करना चाहिये।

वेदों के उदयों के जिन्होंने नकेल डाली है, कषायों के उत्पात को जिन्होंने वश में रखा है, हास्य-रति-अरति और शोक-उद्वेग की आग पर जिन्होंने पानी छिड़का है-जिन्होंने अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाई है, ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या का बल प्राप्त किया है, लोक व्यापार को जिन्होंने तिलांजली दे दी है-ऐसे मुनि को भय नहीं होता, डर नहीं होता। वे तो निर्भय और नित्यानंद होते हैं।

अखंडज्ञान-साम्राज्य में भय नहीं। ज्ञान-साम्राज्य की सरहदों के उस पार भय है, शोक है, उद्वेग है। बस, मुनिराज तो

इस बात कि सावधानी रखें की सरहद पार कर दूसरी ओर न चले जाएं । ज्ञान-साम्राज्य के सिंहासन पर मुनिराज निर्भय हैं। इस साम्राज्य में रहने वालों के लिये अभयदाता हैं । अभय का आनंद ही सच्चा आनंद है। भयभीत दशा में आनंद नहीं होता, आनंद का आभास मात्र होता है। कृत्रिम आनंद होता है।

अखंड ज्ञान-साम्राज्य में ही अभय का आनंद मिलता है।

---

१८ अनात्मशंसा

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि कृतमात्मप्रशंसया ।
गुणैरेवासि पूर्णश्चेत् कृतमात्मप्रशंसया ॥१॥१३७

श्लोकार्थ

यदि तू गुणों से पूर्ण नहीं है तो अपनी प्रशंसा व्यर्थ है, और यदि तू गुणों से पूर्ण है तब भी अपनी प्रशंसा व्यर्थ है।

श्लोक विवेचन

प्रशंसा

स्व-प्रशंसा!

मनुष्य मात्र में यह वृत्ति जन्मजात होती है कि उसे अपनी प्रशंसा सुनना प्रिय लगता है, उसे अपनी प्रशंसा करना प्रिय लगता है, अध्यात्म मार्ग में यह वृत्ति अवरोध रूप है। मोक्षमार्ग की आराधना के मार्ग में स्व-प्रशंसा' की अभिलाषा त्याज्य है।

हाँ, तुझ में गुण हैं, तू ज्ञानी है, तू दानवीर है, तू तपस्वी है, तू पर-उपकारी है, तू ब्रह्मचारी-फिर भी तू अपनी प्रशंसा न कर, न सुन, स्व प्रशंसा में से उत्पन्न आनंद तुझे उन्मत्त बनाएगा फिर तू अध्यात्म मार्ग से भ्रष्ट हो जाएगा। यदि तेरे पास गुण

हैं, तो फिर तेरे 'आत्म प्रशंसा की क्या आवश्यकता है। इस प्रशंसा से तेरे गुण वढ़ेंगे नहीं, हां, स्व-प्रशंसा करने या सुनने से ये गुण चले जाने का भय तो निश्चित है।

'मेरा सत्कार्य अन्य जानें, मेरे गुण दूसरे जानें- -मुझे सज्जन समझें- ऐसी इच्छा, अभिलाषा स्व-प्रशंसा करने के लिये मानव को प्रेरित करती है, और मनुष्य प्रशंसा कर वैठता है। इसमें इने 'पाप' नहीं समझ में आता, भूल समझ में नहीं आती। न समझ में आए! पर साधना उपासना-आराधना के मार्ग पर जो न हो उसे न समझ में आए पर जिन्हें मोक्षमार्ग की साधना में से आनंदामृत प्राप्त हो जाता है, जिन्हें आत्म स्व-रूप की उपासना में से आनंद की डकार आ जाती है, उन्हें 'स्वप्रशंसा' करने का विचार भी नहीं आता, 'स्वप्रशंसा' को वे पाप समझते हैं, स्व-प्रशंसा में से प्राप्त आनंद उन्हें कृत्रिम और क्षणिक लगता है।

जबकि कई लोगों को जिनके पास ऐसे गुण नहीं, सत्कार्य नहीं या शक्ति नहीं-स्व-प्रशंसा करने की कुटेव पड़ी हुई होती है। अरे भाई! तेरे किस वात की प्रशंसा? गुण नहीं, फिर भी प्रशंसा? जितना समय प्रशंसा करने में निकालता है उतना समय गुण प्राप्त करने में विताए तो! नहीं, गुण प्राप्त करने की साधना कठिन है जवकि विना गुणों के प्रशंसा प्राप्त करने की साधना पागल जीव को सरल लगती है।

स्वप्रशंसा के साथ पर निंदा का पाप तो लगा ही रहता है! पर निंदा के माध्यम से स्वप्रशंसा करना ऐसे जीवों को पसंद आता है जिनमें वास्तव में गुण नहीं होते और प्रशंसा के भूखे होते हैं। दूसरे की निर्वलता प्रकाश में लाने से अपनी उच्चता

स्वतः सिद्ध हो जाती है, ऐसी वृत्ति वाले जीव भी देखने को मिलते हैं ।

आत्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म नीचै र्गोत्र
प्रतिभवमनेकभव कोटिदुर्मोचम् ।।

भगवान उमास्वाति कहते हैं : आत्म प्रशंसा से ऐसा 'नीच गोत्र' कर्मबंध होता है कि जो करोड़ों भवों में भी नहीं छूटता !

और भी एक सच्ची बात कहूँ ? यदि हम धर्माराधक हैं तो अपने मुँह अपनी प्रशंसा हमें शोभा नहीं देती !

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि स्वोत्कर्षाम्भः प्रवाहतः ।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन् फलं किं समवाप्स्यसि ।।२।।१३८

श्लोकार्थ

कल्याणरूप वृक्ष के पुण्यरूप मूल को अपने उत्कर्षवादरूप पानी के प्रवाह से प्रकट करता हुआ तू क्या फल प्राप्त करेगा ?

श्लोक विवेचन

कल्याण वृक्ष है।
उसके पुण्य मूल हैं ।

मूल मजबूत—मूल गहरा तो वृक्ष मजबूत । मूल ढीले तो वृक्ष ढल पड़ा समझें । सुख का छायादार वट वृक्ष पुण्यरूपी मूल पर खड़ा रहता है ।

इस वृक्ष के मूल में पानी का प्रवाह पहुँच गया है और जड़ें बाहर दिखाई देने लगी हैं, इसका आपको पता भी है? पानी के प्रवाह ने जड़ें ढीली कर दी है और वृक्ष डगमगा गया है क्या आपको ज्ञान है? आंखे खोलो और देखो—कल्याण वृक्ष नष्ट भ्रष्ट हो जायगा । इतनी भारी उपेक्षा करने से नहीं चलेगा ।

क्या आपको पानी का प्रवाह नहीं दिखता ? आपने स्वयं तो पानी का पंप खुला छोड़ रखा है और आप नहीं जानते ? आश्चर्य ! क्या आप स्व प्रशंसा नहीं करते ? क्या आप अपने सत्कार्यों का कीर्तिगान नहीं करते ? क्या आप अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करते ?

हाँ, यही स्व प्रशंसा के पानी का पंप आपने पूरे वेग के साथ खुला छोड़ रखा है। यह पानी 'कल्याण-वृक्ष' की जड़ों तक पहुँच गया है……देखो, ये जड़ें दिखने लगी हैं और वृक्ष धराशायी होने ही वाला है। 'कल्याण वृक्ष' गिरा कि वस, फिर दुःख ही दुःख भोगना रहेगा, और स्वप्रशंसा करने के होश उड़ जायँगे ।

संभवतः स्वप्रशंसा कर आप कुछ आनंद का अनुभव करते होंगे और सुख भी मिलता हुआ लगता होगा, परन्तु स्वप्रशंसा में से प्राप्त आनंद क्षणभंगुर और परिणामस्वरूप दुःखदायी होता है, इस वात को आप न भूल जायँ। क्या आप इतने आनंद का त्याग नहीं कर सकते ? यदि कर सकें तो 'कल्याण-वृक्ष' खड़ा रहेगा और उस पर परम सुख के फल लगेंगे। इन फलों का स्वाद आपको अमर वना देगा। हां, वहाँ तक आपकी धीरता चाहिये। दूसरों को स्वप्रशंसा द्वारा आनंद लूटते देखकर उनका अनुकरण करने की वृत्ति न चाहिये। दूसरों को स्व-प्रशंसा द्वारा आनंद लूटने दो। आपके ऐसा आनंद 'अकल्प्य', 'अभोग्य' समझना चाहिये।

हम अपने ही मुँह अपनी प्रशंसा करें तो शोभा नहीं देता। अपना मूल्य खुद ही आँकें, अपना महत्व स्वयं ही गाया करें, अपने गुण स्वयं ही वताया करें, तो एक आराधक आत्मा के

लिये तो वह उचित नहीं समझा जाता । मोक्ष मार्ग की आराधक आत्मा को 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनना घोर पाप समझना चाहिये । मोक्ष मार्ग का आराधक तो अपने दोष ही देखे । दूसरे के गुण ही देखे । और स्वयं में गुण ही न दिखें, तो उन्हें गाने की तो बात ही कहाँ रही ?

'स्व प्रशंसा से कल्याण वृक्ष की पुण्य जड़ें उखड़ जाती हैं; इसका अर्थ यह है कि स्व प्रशंसा करने से पुण्य क्षीण होता है और पुण्य क्षीण होने से सुखों का नाश होता है । स्व प्रशंसा सुखों का नाश करने वाली होती है ।

आलम्बिता हिताय स्युः परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहोस्वयं गृहीतास्तु पातयन्ति भवोदधौ ।।३।। १३६

श्लोकार्थ

दूसरे के ग्रहण किये हुए अपने गुण रूपी रस्से हित के लिये होते हैं । आश्चर्य है कि स्वयं ने ग्रहण किये हों तो भव समुद्र में डुबोते हैं ।

श्लोक विवेचन

आप में गुण हैं ? वे गुण दूसरों को देखने दो, दूसरों को अनुवाद करने दो, दूसरों को प्रशंसा करने दो । वे गुण दर्शन, गुणानुवाद और गुण प्रशंसा द्वारा इस रौद्र संसार सागर से पार उतर जाएँगे ।

पर मित्र ! आप स्वयं के गुण देखेंगे नहीं, न बोलेंगे । यदि आप अपने गुणों की प्रशंसा करने की कुटेव में फंसे तो यह कुटेव—यह व्यसन आपको भीषण भव समुद्र में गिरा देगा ।

गुण प्रशंसा तिराती भी है और डुबोती भी है ! किसके गुणों की कौन प्रशंसा करता है इसी पर तिरने और डूबने का ।

आपके गुणों की प्रशंसा यदि आपने स्वयं ने की तो डूबे समझें। दूसरे जीवों के गुणों की प्रशंसा आपने की तो तिरे समझें। जब-जब गुणों की प्रशंसा करने का मन हो तब दूसरे जीवों के गुणों की प्रशंसा करें। अपने गुणों की प्रशंसा करने की कुटेव को तो किसी भी प्रकार से दूर रखें। यद्यपि यह कुटेव अनादि काल की है और जीव मात्र को यह कुटेव सताती है। इस कुटेव में से जो मुक्त हुआ उसे महात्मा समझना चाहिये।

अपने गुणों की प्रशंसा करने से—

(१) गुणों की वृद्धि का कार्य स्थगित हो जाता है।

(२) अपने दोषों की ओर उपेक्षा होती है।

(३) दूसरे जीवों के गुण देखे नहीं जा सकते।

(४) दूसरे जीवों के गुण सुनकर द्वेष होता है।

(५) गाढ कर्म बंध होता है।

दूसरे जीवों की दृष्टि में उत्तम, सज्जन, गुणवान् दिखने की इच्छा मनुष्य को स्व प्रशंसा' करने के लिये प्रेरित करती है। वह इच्छा सर्वजन-साधारण इच्छा है। इस इच्छा को दूर किये बिना 'स्व प्रशंसा' के पाप में से जीव का उद्धार हो नहीं सकता, परन्तु इस इच्छा के मूल में रही हुई मान्यता कैसी गलत है! "मैं अपनी प्रशंसा करूँगा तो दूसरे मुझे सज्जन, उत्तम समझेंगे क्या यह मान्यता सही है? अपने गुणों की जाहिरात करने की यह रीति प्रभावशाली नहीं, लाभकारी भी नहीं, हां, आज के 'चुनाव' के युग में निर्वाचित होने की इच्छावाला उम्मीदवार अपने गुणों को खूब गाता है! धार्मिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, राजकीय क्षेत्र में—सर्वत्र सत्ता हेतु स्व प्रशंसा करना आवश्यक समझा गया है।

खैर, संसार क्षेत्र में स्व प्रशंसा भले ही आवश्यक समझी गई हो, मोक्ष मार्ग पर तो 'स्व प्रशंसा' पाप ही है। यदि हम मोक्ष मार्ग पर चल रहे हैं अथवा चलने की अभिलाषा वाले हैं तो 'स्व प्रशंसा' न करने की प्रतिज्ञा ही होनी चाहिये। स्व-प्रशंसा नहीं करने से कदाचित् ऐसा लगेगा कि आपकी उत्तमता, आपके गुणों से दुनिया अनभिज्ञ है, आपका मूल्यांकन नहीं करती, पर कोई बात नहीं, एक दिन ऐसा आएगा जब आपके गुण दुनिया के लिये महान् आलंबन बन जाएँगे। ये गुण दुनिया के जीवों को पाप मुक्त करने वाले बन जाएँगे। धैर्य रक्खें। जल्दबाजी न करें। हां, दूसरे जीवों के गुणों की प्रशंसा करते ही चलें तो आप निर्भय हैं।

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थस्वोत्कर्षज्वर शान्तिकम्।
पूर्व पुरुषसिंहेभ्यो भृशं नीचत्वभावनम् ॥४॥१४०

श्लोकार्थ

उच्चत्व की दृष्टि के दोष से उत्पन्न हुए अपने अभिमान रूपी ज्वर की शांति करने वाले, पूर्व पुरुष रूपी सिंहों से अत्यन्त न्यूनता की भावना करना है।

श्लोक विवेचन

उच्चत्व का ख्याल !

खतरनाक ख्याल !

"मैं ऊँचा····'मैं दूसरे मनुष्यों से ऊँचा····'तप से ऊँचा, ज्ञान से ऊँचा, सेवा से ऊँचा, सादगी से ऊँचा····'यदि ऐसा किसी को किसी उच्चता का ख्याल है तो वह खतरनाक है—इस बात को याद रक्खें। इस ख्याल में से एक 'ज्वर' पैदा होता है।

ज्वर ! बुखार ! 'मलेरिया' 'न्यूमोनिया', 'टाइफोइड' इन सबसे भी भयानक बुखार । इस बुखार का नाम है 'अभिमान; शायद बुखार का यह नाम आप पहली बार ही सुन रहे होंगे ।

बुखार में व्यक्ति को मिठाई भी कड़वी लगती है, बुखार की तीव्रता में व्यक्ति पागलपन की बातें भी करता है, अपनी सुध बुध भी खो बैठता है; अभिमान के बुखार में भी ये सभी ही प्रतिक्रियायें होती हैं, परन्तु ये प्रतिक्रियाएँ, अभिमानी को दिखाई नहीं देतीं ।

नम्रता, लघुता, विवेक-ये सभी मिठाईयां अभिमान के ज्वर में रुचिकर नहीं लगतीं, कड़वी लगती हैं । अभिमान के ज्वर में पर-अपकर्ष की मूर्खतापूर्ण बातें होती रहती है—स्वयं क्या बोलता है, ऐसा बोलने में स्वयं कैसा लगता है, इस बात का होश हवाश उसे रहता नहीं । वह उपकारी माता-पिता की अवगणना कर डालता है । परमोपकारी सद्गुरुओं का उपहास करता है । अन्य गुणी व्यक्तियों को तुच्छ गिनता है; उनके दोषों को आगे रखकर, उन्हें दोषी स्थापित करने का प्रयत्न करता है ।

ऐसा भयंकर बुखार दूर करना है क्या ? 'अभिमान' एक बुखार है—यह बात आत्म-साक्षी द्वारा मानने में आती है क्या ? तभी उसे दूर करने का प्रयत्न हो सकता है । आत्म-कल्याण के मार्ग पर ऐसे बुखार वाला व्यक्ति चल नहीं सकेगा । ऐसे बुखार वाला शायद कहेगा कि मैं मोक्षमार्ग पर चल रहा हूँ तो उसे मिथ्या प्रलाप समझें ।

इस बुखार को उतारने की औषधि भी पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने बताई है ?

'जिस विषय का आपको अभिमान हो, उस विषय में वहुत ऊँची सिद्धि प्राप्त करने वाले पूर्वकालीन महापुरुषों के विषय में सोचें। उनकी सर्वोत्तम सिद्धि के साथ अपनी तुलना करें।

यह विचारौषधि चमत्कारिक है। ज्यों ही आप इन पूर्व कालीन पुरुषसिंहों के सामने स्वयं को खड़ा हुआ देखेंगे, आप स्वयं को वामन पाएँगे। आपको आपका अस्तित्व नहीं तुल्य लगेगा। आपका अभिमान ज्वर 'नोर्मल' हो जाएगा।

ज्ञान, विज्ञान, वुद्धि, वल, कला, त्याग, व्रत, तप-आदि विषयों में, भूतकाल में हो चुके महापुरुषों की अद्भुत सिद्धियों का स्मरण आप में यह बुखार चढ़ने नहीं देगा। साधना के मार्ग पर यह स्मरण निरन्तर रखना होगा। तदुपरान्त वर्तमान काल में भी अपने से वहुत आगे वढ़े हुए महापुरुषों का विचार करना चाहिये। "इन सव के सामने मेरे अन्दर क्या है? कुछ नहीं—तो फिर मिथ्या अभिमान क्यों करना ?"

शरीर रूपलावण्य ग्रामारामधनादिभिः।
उत्कर्षः परपर्यायैश्चिदानन्द घनस्य कः? ॥५॥१४१

श्लोकार्थ

शरीर के रूप लावण्य, ग्राम, वगीचे और धन, पुत्र पौत्रादि समृद्धि रूप पर द्रव्य के धर्म द्वारा, ज्ञानानन्द से भरपूर आत्मा को क्या अभिमान हो ?

श्लोक विवेचन

पर-पर्याय,

आत्मा से पर-भिन्न, उसके पर्याय।

शरीर का सौन्दर्य, शरीर की कान्ति, ग्राम, नगर, उद्यान, धन-संपत्ति और पुत्र-पत्नी आदि पर-पर्याय हैं। आत्मा से भिन्न

जो पुद्गल है, उस पुद्गल की रचनाए हैं । पुद्गल की वे परिवर्तनशील अवस्थाएँ हैं ।

आत्मन् ! तेरे इन पौद्गलिक रचनाओं के साथ क्या लेना देना है ? सुन, ये तेरी अवस्थाएँ नहीं, तेरी रचनाएँ नहीं । ये पर हैं—परायी हैं—इनकी समृद्धि से तू अपने आप को श्रीसंत-समृद्ध न मान। इस समृद्धि का अभिमान तू न कर। इस अभिमान में से प्रकट होता आनंद तू न मना।

हे चिदानन्दघन । तू ज्ञानानन्द से पूर्ण है। पुद्गलानंद का विष बिल्कुल निचोड़ दिया गया है। ज्ञानानन्द की मस्ती के आगे तुझे इन पुद्गलों की परिवर्तनशील अवस्थाओं में से प्राप्त होने वाला आनन्द तुच्छ लगता है । आनंद नहीं, परन्तु पागल-पन लगता है। दुनिया तुझे भले ही इन पुद्गल पर्यायों की समृद्धि से सुन्दर देखे, सौन्दर्यशाली समझे, नगरपति माने, पुत्र-पुत्री और पत्नी से पुण्यशाली समझे, धन के ढेरों का मालिक रूप देखे, परन्तु दुनिया की इन पर पर्यायों के दर्शन से उत्पन्न प्रशंसा, कीर्ति तेरे एक रोएँ को भी हिला नहीं सकती, तुझे रोमांचित नहीं कर सकती—क्योंकि तूने अपने मन में आत्म साक्षी पूर्वक निर्णय किया है, 'शरीर के रूप सौन्दर्य, धन-धान्य और परिवार—ये सभी पुद्गल के उत्पादन हैं—मेरा कुछ नहीं—मेरे साथ इनका कोई संबंध नहीं ।

फिर इस पर अभिमान—उत्कर्ष करने का तो रहता ही कहाँ है ? पर पर्याय का मूल्यांकन ही रहा नहीं, तो उस पर अभिमान का तो प्रश्न ही नहीं रहता ।

❀ पर पुद्गल के पर्यायों का मूल्यांकन समाप्त करो ।

❀ ज्ञानानंद को अखंडित रक्खो ।

आत्म प्रशंसा के अभिमान से बचने हेतु ये दो उपाय यहाँ बताए हैं। मोक्ष मार्ग पर जिन्होंने प्रयाण शुरू किया है, व्रतों-महा व्रतों का जीवन जीने की जिन्होंने प्रतिज्ञा की है तपश्चर्या और त्याग का जो उच्च मूल्यांकन करते हैं, ऐसी मुमुक्षु आत्माओं को आत्म प्रशंसा के पाप से बचना चाहिये। उसके लिये परपुद्गल के पर्यायों के गुणगान करना उन्हें बन्द करना चाहिये तथा ज्ञानानंद में निमग्न हो जाना चाहिये।

स्व प्रशंसा के साथ परनिंदा जुड़ी रहती है, स्व प्रशंसा और परनिंदा का आनंद आने लगा कि ज्ञानानंद कम होने का। जैसे-जैसे ज्ञानानंद घटता चलेगा वैसे-वैसे आत्म तत्व भूलते जाएंगे और पुद्गल तत्व जीवन में प्रधान बनता जाएगा।

मुनि तो चिदानंदघन होते हैं।

उन्हें पर पर्यायों का अभिमान नहीं होता।

वे तो ज्ञानानंद के महोदधि में विलसित रहते हैं।

मुनि का निरभिमान पन इसीलिये होता है।

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन पर्यायाः परिभाविताः।

अशुद्धाश्चापकृष्टत्वाद् नोत्कर्षाय महामुनेः ॥६॥१४२

श्लोकार्थ

सोचे हुए (शुद्ध नय की दृष्टि से) शुद्ध पर्याय प्रत्येक आत्मा में समान रूप से होते हैं। (इसलिये और) अशुद्ध विभाव पर्याय तुच्छ होने से, महामुनि को (सर्व नय में मध्यस्थ परिणति वाले मुनि को) अभिमान के लिए नहीं होते।

श्लोक विवेचन

महामुनि तत्वचिंतन द्वारा अभिमान पर विजय प्राप्त करते हैं ! कैसा यह अपूर्व, अद्‌भुत और सत्य चिंतन है; यह यहाँ देखना है।

महामुनि शुद्ध नय की दृष्टि से आत्मा को देखते हैं—अपनी आत्मा को देखते हैं—फिर विश्व की सभी आत्माओं को देखते हैं। उन्हें कोई भेद-अन्तर-उच्चता-नीचता-भारी-हल्कापन नहीं दीखता। प्रत्येक आत्मा के शुद्ध पर्याय समान दीखते हैं। दूसरी आत्माओं की अपेक्षा अपनी आत्मा में कोई अधिकता या विशेषता नहीं दीखती, तो कहो कि उन्हें अभिमान कैसे हो ? दूसरों की अपेक्षा स्वयं बढ़कर लगें, ऊँचे लगें तो अभिमान पैदा होता है।

आत्मा के शुद्ध पर्यायों का विचार शुद्ध नय की दृष्टि से होता है। इस विचार में सभी आत्माएँ ज्ञानादि अनंत गुणों से युक्त, अरूपी, दोषरहित दीखती हैं— दूसरी आत्माओं की अपेक्षा अपनी अपेक्षा एक भी गुण अधिक दीखता नहीं—किसी भी आत्मा में दोष दीखता नहीं—फिर उत्कर्ष किस बात पर ?

हाँ, शुद्ध स्वरूप के चिंतन में तो अभिमान के घोड़े पर चढ़ना न हो, परन्तु अशुद्ध पर्याय भी आत्मा में दीखते हैं न ? अशुद्ध पर्यायों में समानता नहीं दीखती ! उसमें तो अभिमान के टट्टू पर चढ़ लिया जाता है न ?

नहीं ! महामुनि अशुद्ध पर्यायों को तुच्छ समझ कर फेंक देते हैं। अशुद्ध पर्यायों के ढेर पर महामुनि अभिमान करे भी ? दूसरों की अपेक्षा बढ़कर रूप हो, विशिष्ट लावण्य हो, दूसरे जीवों की अपेक्षा अधिक बुद्धि हो अथवा शास्त्रज्ञान हो, दूसरी

आत्माओं की अपेक्षा अधिक शिष्य हों—या मान-सम्मान अधिक मिलता है पर महामुनि के मन से तो यह सब तुच्छ होता है। तुच्छ वस्तु की अधिकता पर उत्तम पुरुष अभिमान नहीं करता।

पड़ोसी के घर के कचरे की अपेक्षा तुम्हारे घर का कचरा अधिक हो, तो क्या तुम अभिमान करोगे? 'तेरे घर की अपेक्षा मेरे घर में अधिक कचरा है,' ऐसे फूलोगे क्या? नहीं! कचरे को आप तुच्छ समझते हैं इसलिये इसकी अधिकता पर अभिमान नहीं होता। तो जिन महामुनि ने सर्व विभाव—पर्यायों को तुच्छ गिने कचरे के समान गिने, क्या वे उनकी अधिकता पर अभिमान करेंगे?

❀ शुद्ध पर्यायों में समानता का दर्शन।

❀ अशुद्ध पर्यायों में तुच्छता का दर्शन।

महामुनि को मध्यस्थ भाव में रखता है। आत्म-उत्कर्ष की खाई में गिरने नहीं देता। आत्मा की स्वभाव दशा और विभाव दशा का दर्शन चिंतन महामुनि का अमोघ शस्त्र बन जाता है। इस अमोघ शस्त्र के सहारे वह अभिमान के पहाड़ को चूर-चूर कर डालता है। मुनिवर यदि इस प्रकार चिंतन के मार्ग पर चलें तो अभिमान उनके पास फटकने भी न पाएगा। स्वोत्कर्ष का विषधर उनकी गंध से ही दूर भाग जाएगा।

क्षोभं गच्छन् समुद्रोऽपि स्वोत्कर्षपवनेरितः।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य विनाशयसि किं मुधा? ॥७॥१४३

श्लोकार्थ

मर्यादा रहित होते हुए भी अपने अभिमान रूपी पवन से प्रेरित बना हुआ और व्याकुलता को प्राप्त करता हुआ, गुण

के समुदाय को बुलबुला रूप करके व्यर्थ क्यों विनाश करता है ?

श्लोक विवेचन

तू साधु है।

साधुवेष की मर्यादा में है—

अभिमान की प्रचंड वायु फूँकी जा रही है····आत्म समुद्र हिलोरें मार रहा है—गुण समूह का पानी बुलबुले बन कर नष्ट हो रहा है—तुझे शोभा देता है क्या ? तू अपनी मर्यादा तो देख।

अभिमान की वायु गुणों का नाश करती है; यह सत्य यदि हृदय में घर कर जाए तो गुणों का नाश रुक जाए। गुणों का संरक्षण करने के लिये अभिमान न करने का पू. उपाध्यायजी महाराज का निर्देश है।

तू साधु का स्वांग वनाकर अभिमान करता है ? क्यों गुणों का व्यर्थ नाश करता हैं ? अभिमान से गुणों का नाश होता ही है, यह वात क्या तेरी समझ में नहीं आती ? तो वह जमालि क्यों भव में भटका ? अभिमान से वह कैसा अक्कड़ वना था ? परम उपकारी वीर वर्धमान स्वामी के उपकार को भूला; विनय को भूला, अपनी अल्पज्ञता का ख्याल न रख सका, कितने गुणों का नाश किया ? अभिमान के मद और वेग में अच्छी-अच्छी गुण-इमारतें भूमिसात् हो जाती हैं।

अभिमान की वायु के उत्पत्तिस्थानों पर ही 'सील' लगा दो। कुल, रूप, वल, यौवन, धन, वुद्धि—आदि दूसरे जीवों की अपेक्षा आपके पास वढ़कर होंगे—और इन सव पर यदि आपने उत्कर्ष किया—तो वस, पवन की आंधी चली समझो। आप

साधु हैं, तो शास्त्र ज्ञान, शासन प्रभावकता, वक्तृत्व शक्ति, लेखन कला, शिष्य-परिवार, भक्त-परिवार-आदि बातों पर अभिमान पैदा हो सकता है। यदि तात्विक दृष्टि बिन्दु से इन सब को 'तुच्छ' न गिना और शुद्ध नय की दृष्टि को खुली रखकर सभी जीवों के प्रति 'समानता' का विचार न किया, तो अभिमान के चक्रवात में आप घवरा जाएँगे। गुण वुलवुले जैसे वनकर नष्ट हो जाएँगे। फिर एक नया अनिष्ट पैदा होगा। गुणों का नाश होने पर भी, 'मैं गुणवान् हूँ' यह वताने और साधु की तरह इज्जत वनाए रखने का आप दंभ करने लगेंगे: आप जैसे नही, वैसा वताने का प्रयत्न करेंगे। स्वयं में गुण न होते हुए भी गुणी दीखने का मोह आत्मा का कैसा अधः पतन कर डालता है—यह समझाने की आवश्यकता है क्या ?

वड़े परिश्रम से गुण आत्मा में प्रकट होते हैं, उनका संरक्षण यदि न किया जाय तो समझना चाहिये कि गुणों का मूल्यांकन हम भूल वैठे हैं। गुणों का उच्च मूल्यांकन भूलने वाले मनुष्य के गुणों का विनाश होते देर नहीं लगती। गुणों का नाश करने वाले शत्रु ताक लगाकर वैठे ही हैं, इन्हें जरा आप स्थान कर दो कि टूटे समझो। स्व-पर्याय से अथवा पर-पर्याय से हम अभिमान करें ही नहीं-क्योंकि हम साधु वेष की मर्यादा के वंधन में हैं।

महात्मा, गुणों का नाश न करो। अभिमान का संग न करो।

निरपेक्षानवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तय: ।
योगिनो गलितोत्कर्षापकर्षानल्पकल्पना: ॥८॥ १४४

श्लोकार्थ

अपेक्षारहित, देश की मर्यादारहित-काल की मर्यादारहित

ज्ञानमय स्वरूप है जिनका ऐसे, और पिघल चुकी हैं उत्कर्ष और अपकर्ष को अनेक कल्पनाएं जिनकी, ऐसे योगी होते हैं।

श्लोक विवेचन

योगी,

आत्म स्वरूप में रमण करता हुआ, परमात्म स्वरूप का इच्छुक योगी, देश और काल के उसे वन्धन नहीं, स्व का उत्कर्ष नहीं या पर का अपकर्ष नहीं-ऐसा योगी !

आत्मा के महोदधि में विलसित होते अनंत ज्ञान में ही इस योगी की रमणता होती है। पर भाव, पर-पर्याय या पुद्गल की विविध रचनाओं में योगी की चेतना जाए नहीं, लुभाए नहीं, आकर्षित हो नहीं-इसे कोई इच्छा ही नहीं, कामना नहीं या अभिलाषा नहीं; यह तो मस्त होकर परमात्मा के स्वरूप की ओर आगे बढ़ता ही जाता है, इसे किसी की परवाह नहीं, किसी की अपेक्षा नहीं, विलकुल निरपेक्ष ! भव सागर को पार करने योग्य चाहिये वैसी निरपेक्षता।

'निरविक्खो तरइ दुत्तरभवोयं'

'निरपेक्ष तिरे दुस्तर भवसागर को'

किसी देश-नगर-ग्राम-या, आश्रय का उनके मन पर बंधन नहीं। कोई वर्षा ऋतु या ग्रीष्मकाल-उनकी निर्वाण-यात्रा में किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नहीं कर सकते। अरे किसी भाव की-प्रेम भाव की भी उन्हें अपेक्षा नहीं। 'कोई मुझे योगी माने, कोई मुझे महात्मा माने, कोई मुझे संयमी माने—ऐसी भी उन्हें अपेक्षा नहीं—किसी भी परभाव के आधार पर जीवन जीने का ही नहीं, फिर स्व-उत्कर्ष और पर-अपकर्ष की कल्पनाएं वेचारी पिघलेंगी नहीं तो क्या ?

देश-काल और पर द्रव्य के सहारे जीवन-विताने वाला स्वोत्कर्ष-स्वाभिमान के नकेल नहीं डाल सकता । पर-अपकर्ष-परनिंदा की कुटेव को दूर नहीं कर सकता । अभिमान को गलाने के लिये निरपेक्षता की भट्टी में इच्छाओं-कामनाओं को फेंक देना चाहिये । अपेक्षा रहित वनना चाहिये । अपेक्षा रहित पर द्रव्यों की अपेक्षा विना जीवन जीने का आदर्श रखकर, इस दिशा में प्रयत्न किया जाए तो स्व-महत्ता की शहनाइयां वजती वन्द हो जाएं और परनिंदा के ढोल वजते भी रुक जाएं ।

योगी वनना है क्या ?

वाहर से दीखता कठोर परन्तु अन्दर से शांत, प्रशांत और कोमल जीवन योगी का होता है । ऐसा जीवन जीने की तमन्ना जागी है क्या ? वर्तमान पर द्रव्य-सापेक्ष जीवन के प्रति नफरत पैदा हुई है क्या ? स्व-प्रशंसा और परनिंदा वाला जीवन अकुलाता है क्या ? पर परिणति के प्रांगण में हो रही प्रेम-चेष्टाएं अप्रिय वनी हैं ? योगी का आंतरिक प्रसन्नता वाला, आत्म स्वरूप की रमणतावाला, अलख की धुन में दौड़ता हुआ जीवन ललचाता है क्या ।

तव तो तुम 'योगी' वन सकोगे । योगी जीवन का महानन्द तुम अनुभव कर सकोगे । अभिमान की कल्पना गल जाएगी और आत्मा के अनंत गुण प्रकट हो जाएंगे ।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

१९. तत्वदृष्टि

रूपे रूपवती दृष्टि दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति ।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे तत्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥१॥ १४५

श्लोकार्थ

रूप वाली दृष्टि रूप को देखकर रूप में मोहित होती है। रूपरहित तत्व की दृष्टि तो रूपरहित आत्मा में मग्न होती है।

श्लोक विवेचन

तत्वदृष्टि को !

वासनाओं को निर्मूल करने वाली दृष्टि।

दृष्टि को तात्त्विक बनानी है, अर्थात् जगत के पदार्थों का दर्शन तात्त्विक दृष्टि से करना है। तात्त्विक दृष्टि से किए जाते पदार्थ दर्शन में राग द्वेष शामिल नहीं होते। तात्त्विक दृष्टि से किए जाते पदार्थ दर्शन में असत्य का अंश मिश्रित नहीं होता।

चमड़े की दृष्टि चमड़े के रूप देखकर मोहित होती है। राग-द्वेष करवाती है। चमड़े की दृष्टि से-चर्मचक्षु से भव का मार्ग दीखता है, संसार मार्ग दीखता है-मोक्ष मार्ग चर्मचक्षु से नहीं देखा जा सकता। मोक्षमार्ग के देखने के लिये तत्त्वदृष्टि चाहिये। इस तत्त्वदृष्टि को श्री आनंदघनजी महाराज 'दिव्य-विचार' कहते हैं।

चरम-नयणे करी मारग जोवतां
भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोईए
नयन ते दिव्य विचार-पंथडो निहालूं रे बीजा जिन तणो।

अरूपी आत्मा अरूपी तत्त्वदृष्टि से ही देखी जा सकती है। तत्त्व दृष्टि भी अरूपी है; आत्मा भी अरूपी है-अरूपी से अरूपी देखा जाता है। पौद्गलिक दृष्टि से पुद्गल के रूप देखे जाते हैं।

चर्म दृष्टि- पुद्गल दृष्टि-चरम नयन-सभी पर्याय हैं। आत्म दर्शन करने के लिये ये दृष्टियां नहीं चलतीं; आत्म दर्शन करने के लिये अरूपी तत्त्व दृष्टि चाहिये। यह तत्त्व दृष्टि खुलने के पश्चात् आत्म प्रशंसा या परनिंदा जैसी कुटेव टिक नहीं सकती। तत्त्व दृष्टि खुलती है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की निरतिचार आराधना से।

तत्त्वभूत पदार्थ एक मात्र आत्मा है। अन्य सब पारमार्थिक दृष्टि से असत् है - अतत्त्व है। अनादिकाल तत्त्वभूत आत्मा को भूलकर अतत्त्वभूत पदार्थों के पीछे जीव भटका, दुःखी हुआ, कष्टों का शिकार बना, परेशानियों में फँसा.... जिनेश्वर भगवान् की तत्त्वदृष्टि न मिली।

जिस दृष्टि से आत्मा पर अनुराग हो, उस दृष्टि को तत्त्वदृष्टि कहते हैं। जिस दृष्टि से जड़-पुद्गल पर अनुराग हो उस दृष्टि को चर्म दृष्टि कहते हैं।

पूर्णतः तत्त्वदृष्टि केवलज्ञानी भगवान की होती है। पूर्ण तत्त्व-दृष्टि में सकल विश्व के चराचर पदार्थों का त्रैकालिक दर्शन होता है। वह दर्शन राग-द्वेष रहित होता है, हर्ष शोकरहित होता है, आनंद विषाद रहित होता है। अरूपी आत्मा का भी प्रत्यक्ष

दर्शन होता है। यह पूर्ण दृष्टि वाला केवलज्ञान, केवलज्ञानियों ने जिस मार्ग से पुरुषार्थ करके प्राप्त किया उस मार्ग पर चलने से ही प्राप्त होता है। वह मार्ग है सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य का।

'वर्ण-गंध-रस-रूप और गंध में मोहाधीन न बनो। आत्म-स्वरूप में रमणकर्ता बनो, तभी पूर्णता प्राप्त होगी, यह उपदेश का सार है। अनादिकाल की आदतों को मन मसोस कर भी छोड़ने का प्रयत्न करो, उसके लिये नई आदतें डाल देनी चाहियें। आत्म-रमणता, आत्मरति, आत्मस्वरूपमें लीनता....इसके लिये सम्यग्-श्रुतज्ञान में लीनता करो। सम्यग् चारित्र्य से जीवन को संयमी बनाओ।

> भ्रमवाटी वहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छाया तदीक्षणम्।
> अभ्रान्तस्तत्त्व दृष्टिस्तु नास्यां शेते सुखाशया ॥२॥१४६

श्लोकार्थ

वाह्यदृष्टि भ्रान्ति की वाटिका है। वाह्य दृष्टि का प्रकाश भ्रान्ति की छाया है, परन्तु भ्रान्तिरहित तत्त्व की दृष्टिवाला भ्रम की छाया में सुख की इच्छा से नहीं सोता।

श्लोक विवेचन

वाह्य दृष्टि,
भ्रान्ति के विष वृक्षों से पूर्ण वाटिका!

भ्रान्ति के वृक्षों की छाया भी भ्रान्ति। विष के वृक्ष की छाया भी विष ही होती है न!

वाह्य दृष्टि भ्रान्तिरूप और वाह्य दृष्टि का दर्शन भी भ्रान्तिरूप होता है।

भ्रान्ति के विष वृक्षों की छाया में तत्वदृष्टि आत्मा आराम नहीं करती, निर्भय होकर सो नहीं जाती। वह जानती है कि

यहाँ सोने में प्राणों का भी खतरा है। शायद इन विषवृक्षों की घटा में से उसे गुजरना पड़े, परन्तु इस तरफ वह आकर्षित नहीं होती।

वाह्य दृष्टि में अहं और मम के विकल्प आते हैं। वाह्य दृष्टि उपादेय का हेय वताती है और हेय का उपादेय समझाती है। सच्चे सुख के साधनों में दुःख समझाती है और दुर्गति के कारण-भूत साधनों में सुख समझाती है। वाह्य दृष्टि इन्द्रियों के विषयों में और मन के कषायों में कर्तव्यवुद्धि पैदा करती है और शम–दम–तितिक्षा में, क्षमा–नम्रता–सरलता–निर्लोभता में निःसारता बताती है। वाह्य दृष्टि के दर्शन– प्रकाश में दिखाई दे– वह सब भ्रान्तिरूप समझें। तत्त्वदृष्टि महात्मा वाह्य दृष्टि के दर्शन- प्रकाश को ही भ्रान्त समझते हैं। इसके सहारे वे विश्व के पदार्थों को देखते ही नहीं। शायद दिख जाए तो इस दर्शन को सच्चा नहीं समझते।

वाह्य दृष्टि की यह विशेषता है कि वह विषयों के उपभोग में दुःख वताती ही नहीं! इन्द्रियों के उन्माद में अशांति समझाए ही नहीं! कषायों के दावानल में सुलगते हुए भी जीव को 'मैं सुलग रहा हूँ' ऐसा भान ही न होने दे। वाह्य दृष्टि की वाटिका के विषवृक्षों के दिखावे में सुंदर सुगंधित और मधुर फलों में जो लुभाया वह अल्प समय में ही लुढ़क जाता है और घोर वेदनाओं का अनुभव करता है।

तत्त्वदृष्टि आत्मा तो अपने अंतरात्मा के सुख से ही पूर्ण होती है। सुख की कामना–स्पृहा उसे होती नहीं– इसलिये वह वहिर्दृष्टि की वाटिका में जाता ही नहीं–यदि इस वाटिका में होकर निकलना पड़े तो इन विषवृक्षों की वाटिका की सुन्दरता में वह लुब्ध नहीं होता, अँजाता नहीं अथवा सुख की इच्छा से इन विषवृक्षों की छाया में बैठता नहीं।

स्थूलभद्रजी अंतः सुखसे....तत्त्वदृष्टि के सुख से पूर्ण थे। कोश्या ने उन्हें विषवृक्ष की वाटिका में ही चातुर्मास व्यतीत करने हेतु ठहराया। नित्य विष वृक्षों के फलों से भरे थालों के साथ मगध की यह रूपसुंदरी स्थूलभद्रजी को बाह्य दृष्टि के सुखों से ललचाने का प्रयत्न करती। परंतु तत्त्वदृष्टिवाले स्थूल-भद्रजी क्यों ललचाने लगे? उन्होंने कोश्या को तत्त्वदृष्टि का अंजन कर, तत्त्वदृष्टि का अमृत पिलाकर—ऐसी बना दी कि बहि-र्दृष्टि की वाटिका में रहने पर भी कोश्या निर्लिप्त रह सकी।

तत्व दृष्टि के विना वहिर्दृष्टि की वाटिका में से कोई सकुशल लौट नहीं सकता।

ग्रामारामादि मोहाय यद् दृष्टं बाह्ययया दृशा।
तत्वदृष्ट्या तदेवान्तर्नीतं वैराग्य संपदे ॥३॥ १४७

श्लोकार्थ

बाह्य दृष्टि द्वारा देखे हुए गाँव और उद्यानादि मोह के लिए होते हैं। तत्वदृष्टि द्वारा आत्मा में उतरा हुआ (वह सब कुछ) वैराग्य की प्राप्ति के लिये होता है।

श्लोक विवेचन

यही गाँव—नगर।
यही उद्यान—नन्दनवन—
ये ही रूपरानियाँ या अप्सराएँ!
यह सब बाह्य दृष्टि से देखा जाय तो राग होता है।

यह सब तत्व दृष्टि से देखा जाय तो वैराग्य होता है।

हे महामार्ग के आराधक! तुझे रागी बनना है या वैरागी? तू मुनि बना, अर्थात् तू त्यागी बना। विरतीधर बना परन्तु वैराग्य मार्ग पर विजय प्राप्त करने का काम तो खड़ा ही है।

त्याग करने मात्र से वैराग्य नहीं आ जाता। वैरागी बनने की भावना से तू त्यागी बना यह बात सच्ची है, परन्तु वैराग्य की मस्ती जगाने का काम अब त्यागी जीवन में शुरू करना है और वैराग्य की अगोचर दुनिया में जाना है—इतना याद रखना।

त्यागी मुनि का वेश तूने धारण किया अर्थात् राग-महोदधि से पार उतरने का गणवेश (Uniform) धारण किया और महोदधि में कूद पड़ा। त्यागी बनने मात्र से राग के सागर को तू पार कर गया—ऐसी मान्यता रखने की गम्भीर भूल न करना। तैरना अब शुरू किया है, उसे तू तब पार कर सकेगा जब राग समुद्र में आते पदार्थों को तत्व दृष्टि से देखेगा, उनकी ओर आकर्षित नहीं होगा, परन्तु अधिकाधिक वैरागी बनता जायगा।

त्यागी इसी दुनिया में जीता है जिस दुनिया में रागी और भोगी जीता है, परन्तु इस दुनिया का रागी-भोगी बहिर्दृष्टि से देखता है, दुनिया के वर्तमान पर्याय को ही देखता है, जब कि त्यागी दुनिया के त्रैकालिक पर्याय को देखता है—पुद्गल के परिणामों पर सोचता है।

'क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानां ऋद्धि समुदयाः सर्वे।

'मनुष्य की ऋद्धि, संपत्ति, वैभव—सब कुछ क्षण में बदल जाने वाला है — विपरीत परिणाम में परिणत होने वाला है—

जिस नगर की शोभा देखकर बाह्य दृष्टि आत्मा आनंद विभोर हो जाती है, वहाँ अंतर्दृष्टि महात्मा सोचते हैं : यह भी एक दिन श्मशान होगा ! मनुष्यों से उभरते हुए बाजारों में गिद्ध, चीलों और श्रृगालों के समूह उभरेंगे। यह तो संसार का

क्रम है ! श्मशान में सदन और सदन में श्मशान ! किसी के चमन में किसी का क्रंदन-किसी के विलाप में किसी का आलाप !'

आज का वन कल नंदनवन !

आज का नंदनवन कल वन !

आज की रूप सुन्दरी यौवना—कल रूपहीन दुर्वलिका !

आज की रूपहीन दुर्वलिका-कल रूप सुन्दरी यौवना !

तो कहिए ! तत्व दृष्टि वाले मनुष्य को इस परिवर्तनशील दुनिया पर राग होगा या वैराग्य ! तत्व दृष्टि आत्मा को संसार के पदार्थों पर मोह नहीं होता। तत्वदृष्टि मोहजनक नहीं परन्तु मोहनाशक है। तत्वदृष्टि का चिंतन वैराग्य प्रेरक होता है। यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज संसार के मुख्य २ मोहोत्तेजक पदार्थों पर तत्वदृष्टि का चिंतन कर देते हैं, आओ हम इस चिंतन में प्रवेश करें।

बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी।
तत्वदृष्टेस्तु साक्षात् सा विण्मूत्रपिठरोदरी ॥४॥१४८

श्लोकार्थ

बाह्यदृष्टि को स्त्री अमृत के सार से निर्मित दीखती है, तत्वदृष्टि को वही स्त्री प्रत्यक्ष विष्टा और मूत्र की हाँडी जैसी उदरवाली दीखती है।

श्लोक विवेचन

सुन्दरी ···· ···· !

ब्रह्मा ने अमृत के सार में से सुन्दरी की रचना की है ! 'नैषधीयचरित' के रचयिता कवि हर्ष कहते हैं : "द्रोपदी ऐसी

सुन्दरी थी कि जिसकी काया, ब्रह्मा ने चन्द्र के गर्भ भाग को लेकर, उसमें से वनाई थी अतः चन्द्र का मध्य भाग पोला-काला दिखाई देता है ! वड़े २ कवियों ने स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन करने में अपना कवित्व निचोड़ २ कर उसमें भरा है·······असार संसार में यदि कोई सार है तो वह सारंगलोचना सुन्दरी है।'

'स्त्री' का यह दर्शन वाह्यदृष्टि मनुष्यों का दर्शन है। इन्ही स्त्रियों का अन्तर्दृष्टि महात्मा कैसा दर्शन करते हैं !

'विष्टा और मूत्र की हाँडी।'

'नरक की मोमवत्ती'

'कपट की कोठरी !'

तत्वदृष्टा महात्मा पुरुष स्त्री के शरीर की सुकोमल श्वेत चमड़ी के नीचे झाँकते हैं तो वहाँ उन्हें विष्टा, मूत्र, रुधिर, माँस और हड्डियाँ दिखाई देती हैं—और उन्हें राग नहीं–पर वैराग्य हो जाता है।

तत्वदृष्टि महापुरुष स्त्री के साथ भोग क्रिया में नरक के दर्शन करते हैं ······ नरक की वास्तविक भयानक यातनाओं के दर्शन मात्र से मोह नाश होता है ·······

स्त्री के हाव-भाव और प्रेम प्रलाप के अन्दर कपट की लीला देखने को मिलती है, और वहीं वैराग्य झिलमिला उठता है।

स्त्री को वहिर्दृष्टि मनुष्य मात्र दैहिक वासनाओं को संतुष्ट करने का पात्र समझ कर उसके साथ असभ्य व्यवहार करता है। जव कि 'स्त्री की आत्मा भी मोक्ष मार्ग की आराधना कर सके ऐसी उत्तम है' ऐसी पवित्र दृष्टि के साथ उसकी देह के प्रति ममत्व मिटाने हेतु 'विष्टा और मूत्र की

हँडिया जैसे पेट वाली' या नरक की मोमबत्ती, अथवा कपट की कोठरी के रूप में तत्वदृष्टि वाला देखता है तो वह अनुचित नहीं। प्राय: स्त्री के शरीर के स्त्री सौन्दर्य के या स्त्री के हाव भाव के वर्णन उन्होंने ही किये हैं जो कामी विकारी और दैहिक वासनाओं के भूखे थे। आज भी ऐसे ही वहिर्दृष्टि मनुष्य स्त्री के वाह्य रूप रंग और फैशन परस्ती के गुण गाते अघाते नहीं। इसमें स्त्रियों का सम्मान नहीं परन्तु घोर अपमान है।

स्त्री दर्शन से स्वाभाविक रूप से पैदा होती वासना वृत्ति को निर्मूल करने हेतु, स्त्री के शरीर की वीभत्सता के विषय में सोचना आवश्यक समझा गया है, परन्तु साथ ही स्त्री के शरीर में भी अनंत गुणमयी आत्मा वसी हुई है। स्त्री को 'रत्न खान' भी कहा गया है, उसका आदर करना भी उतना ही आवश्यक है। स्त्री का दर्शन होने पर भी मोह वासना न जगे, ऐसा दर्शन करने के लिये कहा गया है। ऐसा दर्शन अन्तर्दृष्टि के विना असंभव है।

संसार में 'स्त्री' तत्त्व महा मोह का निमित्त है। यह महान् वैराग्य का निमित्त भी वन सकता है, उसके लिये चाहिये अंतर्दृष्टि, तत्त्वदृष्टि।

लावण्यलहरीपुण्यं वपुः पश्यति वाह्यदृग्।
तत्वदृष्टि श्वकाकानां भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम् ॥५॥१४६

श्लोकार्थ

वाह्य दृष्टि सौन्दर्य की तरंग द्वारा पवित्र शरीर देखती है। तत्त्व दृष्टि वाला कौओं और कुत्तों के खाने योग्य कृमि के समूह से भरा शरीर देखता है।

श्लोक विवेचन

शरीर।

स्त्री की अपेक्षा भी अधिक प्रिय शरीर।

इस शरीर को आप कौन सी दृष्टि से देखते हैं।

बाह्य दृष्टि से शरीर सौन्दर्य से सुशोभित स्वच्छ-निर्मल लगता है। तत्व दृष्टि को यही शरीर कौओं-कुत्तों के खाने योग्य कृमि के समूहों से भरा हुआ दिखाई देता है। एक शरीर को देखकर रागी वनता है; एक शरीर को देखकर विरक्त वनता है। एक शरीर की सुश्रुषा करता है, एक शरीर के प्रति लापरवाह वनता है। एक शरीर से अपना महत्त्व आंकता है, एक शरीर से अपने को वंधन में जकड़ा हुआ महत्त्वहीन मानव समझता है।

शरीर के सौन्दर्य को, शरीर की शक्ति को, शरीर की निरोगिता को महत्व देने वाला वाह्य दृष्टि मनुष्य-शरीर में सर्वत्र रही हुई आत्मा के सौन्दर्य को देख सकता नहीं, आत्मा की अपार शक्ति को समझ सकता नहीं; आत्मा के अनंत अव्या-वाध आरोग्य की कल्पना तक उसे होती नहीं। और तो दूर, पर शरीर की चमड़ी के ही नीचे रहे हुए अति वीभत्स पदार्थों को भी देख सकता नहीं ! उसकी दृष्टि तो मात्र शरीर के ऊपर की चमड़ी पर ही होती है। वह उस खुरदरी चमड़ी को सुकोमल वनाने के लिये परिश्रम करता है; वह उस काली चमड़ी को गोरी वनाने का प्रयत्न करता है। गंदी चमड़ी को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है ··· वहिरात्मदशा में ऐसा ही होता है।

अन्तरात्मा—तत्वदृष्टि पुरुष शरीर के अन्दर देखता है और काँप उठता है। यह माँस और रक्त, मल और मूत्र यदि सव वाहर निकल आवे तो आँखों से देखा न जावे !

वह शरीर की रुग्णावस्था के विषय में सोचता है। वृद्धावस्था की कल्पना करता है और अंत में प्राणरहित शरीर के कलेवर को देखता है। उसके आस पास एकत्रित हुए कौओं और कुत्तों को वह देखता है–'वे शरीर को नोच रहे हैं.......' वह आँखें बन्द कर देता है...... 'जिस शरीर को वर्षों तक अच्छा २ खिलाया, रोज नहलाया, भक्ष्याभक्ष्य भूलकर पुष्ट किया–वह शरीर अन्त में कौओं की चोंचों से नोचा जाने का ? कुत्तों की तीक्ष्ण दाढों में चबाया जाने का ?'

वह उस शरीर को लकड़ों के ढेर पर अशरण–लाचार स्थिति में पड़ा हुआ देखता है–क्षणभर में वह सुलगता है... और लकड़ों के साथ उसकी भी राख हो जाती है ! मात्र घंटे दो घंटों में वर्षों का सृजन राख हो जाता है और तेज वायु उस राख को इधर उधर उड़ा डालती है।

शरीर की इन अवस्थाओं का वास्तविक-सत्य कल्पना चित्र तत्त्व दृष्टि ही खींच सकता है। शरीर पर का ममत्व टूटता जाता है। उसका मन अविनाशी आत्मा के साथ चिपकता जाता है। आत्मा के लिये वह शरीर के सुख की परवाह नहीं करता। शरीर को सुखा डालता है-शरीर के सौन्दर्य को देखता ही नहीं ... हाँ, शरीर के सौन्दर्य के वलिदान से यदि आत्मा का सौन्दर्य प्रकट होता हो तो वह शरीर के सौन्दर्य का पल में त्याग कर देता है। शरीर को वह पाप करके टिकाना या बढ़ाना नहीं चाहता। निष्पाप होकर वह शरीर को टिकाता है ... वह भी आत्मा के हित के लिये ! तत्वदृष्टा का यह शरीर दर्शन है।

गजाश्वैर्भूपभवनं विस्मयाय बहिर्दृशः।
तत्राश्वेभवनात् कोपि भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥६॥१५०

श्लोकार्थ

बाह्य दृष्टि के लिए हाथी और घोड़ों से युक्त राजमहल विस्मयकारी होता है। तत्व दृष्टि के लिये तो राजमहल में घोड़े और हाथी के वन से कुछ भी विशेष नहीं।

श्लोक विवेचन

ऐश्वर्य,

राजमहल का वैभव ...

आज के राष्ट्रपति भवन का वैभव—गवर्नरों और प्रधान मन्त्री .... मुख्य मन्त्रियों के बँगलों का वैभव— उनका ऐश्वर्य देखकर आपकी आँखें विस्मित हो जाती हैं ? तिरंगे झंडे लहराते हुए उनके राजसी बँगले—महाराजाओं के चाँदी-सोने से मढ़े हुए रथों से भी अधिक कीमती विदेशी कारों-मोटर साइकलों और स्कूटरों को देखकर आप दिग्मूढ हो गए हैं ? तो अभी आप बाह्य दृष्टि से विश्व का दर्शन कर रहे हैं, अभी अंतर्दृष्टि खुली नहीं- अभी तत्त्वांजन हुआ नहीं। 'मेरे पास भी इतनी संपत्ति कब इकट्ठी हो और मैं भी ऐसा ऐश्वर्यवान् बनूँ .... महल-बँगले खड़े करूँ ! हाथी-घोड़े (आजकल की मोटरें-स्कूटर-मोटर साइकिलें) बसा दूँ .... 'यदि ऐसे अरमान होते हों तो अंतर्दृष्टि खुली नहीं ! फिर भले ही आप धर्माराधना करते हों। यदि आप मुनि हैं तो राजाओं के वैभव देखकर आप क्या सोचते हैं ? परलोक में ऐसा ऐश्वर्य मिले ऐसे अरमान तो नहीं होते न ? ऐसे ऐश्वर्य संपन्न राजा-महाराजाओं—प्रधान मंत्री या गवर्नरों, मिल मालिकों या उद्योगपतियों से प्रभावित तो नहीं होते न ! यदि आंतर्दृष्टि-तत्वदृष्टि होगी तो इनसे प्रभावित नहीं होओगे। उनके समान ऐश्वर्यशाली बनने के अरमान नहीं

जागेंगे–बल्कि इन सब की अनित्यता–असारता और धोखेवाजी का विचार पैदा होगा।

'इन्द्रजालोपमाः स्वजन धन संगमाः'

स्वजन-धन-वैभव-सबका संयोग इन्द्रजाल सदृश है।

'तेपु रज्यन्ति मूढस्वभावाः'

उनमें मूढ-विवेकहीन मनुष्य ही मुग्ध होते हैं-रागी होते हैं। अन्तर्दृष्टि महात्मा इन ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों को, धरती को कम्पित करने वालों को-अंतिम असहाय स्थिति में देखते हैं।

तुरगरथेभनरावृतिकलितम् दधतं वलमस्खलितम्।
हरति यमो नरपतिमपि दीनम् मैनिक इव लघुमीनम्॥
विनय विधीयतां रे श्री जिनधर्मः शरणम् ··· ····

जिनके पास हिनहिनाता हुआ अश्वदल था-मदोन्मत्त हाथियों की सेना थी और अपूर्व वल का अभिमान था-ऐसे राजाओं को भी यमराज उठा ले जाता है -कैसे ? जैसे मछुआ मछली को पकड़ ले जाता है। उस समय उस राजा की कैसी दीन दशा!

तत्वदृष्टि उत्तम पुरुष को क्षणिक भययुक्त और पराधीन पुद्गल के ऐश्वर्य विस्मित नहीं कर सकते–उनके लिये ऐसे ऐश्वर्य का कोई विशेष मूल्यांकन होता ही नहीं········ उनके लिये तो मूल्य होता है चिदानंदमय आत्म-स्वरूप का! आत्मा के अनंत-अगोचर-अविनाशी-अभय–स्वाधीन ऐश्वर्य की प्राप्ति-हेतु वे दिन रात लालायित रहते हैं। अपनी लालसा की पूर्ति हेतु वे अविरत संघर्ष करते रहते हैं।

वहिर्दृष्टि जिस ऐश्वर्य को सिर पर चढ़ाने में गौरव समझते हैं वहाँ अंतर्दृष्टि उसे पांवों के नीचे रोंदने में गौरव का अनुभव करते हैं।

भस्मना केशलोचेन वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं वाह्यदृग् वेत्ति चित्साम्राज्येन तत्ववित् ॥७॥१५१

श्लोकार्थ

राख मलने से, केश का लोच करने से अथवा शरीर पर मैल चढ़ाने से वाह्यदृष्टि महात्मा के रूप में जानता है। तत्वदृष्टि ज्ञान की प्रभुता से महान् जानता है।

श्लोक विवेचन

महात्मा

कौन ? शरीर पर राख मली हो। सिर पर जटा वढ़ाई हो, शरीर पर मात्र लंगोटी हो-उसे बाह्य दृष्टि मनुष्य महात्मा मानता है ?

और कौन ! मस्तक पर मुण्डन नहीं पर लोच करवाया हो, सफेद वस्त्र धारण किए हों, रजोहरण और दण्ड रक्खे हों-उसे वाह्य दष्टि मनुष्य 'महात्मा' कहता है।

और ? शरीर की कोई परवाह नहीं........मैल की पपड़ियां उतर रही हों-कपड़ों को धोने की वात नहीं, मैले-और काले पड़े हुए कपड़े जिसने पहने हों-उसे वाह्य दृष्टि 'महात्मा' गिनता है।

तत्वदृष्टि मनुष्य 'महात्मा' को किस माध्यम से पहिचानता है ?

ज्ञान की प्रभुता के माध्यम से।

ज्ञान साम्राज्य का मालिक हो वह महात्मा।

ज्ञान की प्रभुता का प्रभु-महात्मा।

तत्वदृष्टि वाला यह बात देखता है-"ज्ञान की प्रभुता है ? ज्ञान साम्राज्य का विस्तार कितना है ?" ज्ञान के बिना

महानता नहीं हो सकती। ज्ञान के विना वास्तविक महात्मापन प्राप्त नहीं होता। ज्ञान की प्रभुता वाले महान् पुरुषों को तत्वदृष्टि वाले जीव ही पहिचान सकते हैं। संभव है कि ज्ञान की प्रभुता वाले महात्मा शरीर पर भस्म न लगाएँ, शरीर और वस्त्र मैले न रखें - केश का लोच न भी करें; वाह्य दृष्टि आत्मा वहां महात्मापन न माने ! और जहाँ ज्ञान न हो परन्तु शरीर पर भस्म होगी, शरीर पर मैल होगा, केश का लोच होगा वहाँ वाह्यदृष्टि मनुष्य झुक पड़ेगा। उसे वहाँ से ज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा। परन्तु वाह्य दृष्टि मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने हेतु महात्माओं को ढूंढता ही नहीं ! वह महात्माओं के पास जाता है तो वाह्य दृष्टि में दिखाई देते सुख के साधन उपलब्ध करने हेतु ! पैसा कैसे कमाना ? सोना कैसे जुटाना ? पुत्र की प्राप्ति कैसे हो ?

ऐसी २ पौद्गलिक वासनाओं का पोषण करने हेतु वह महात्माओं के पास जाता है। वह कल्पना करता है कि 'मैले-कुचैले और शरीर पर राख मलने वाले बावों-जोगियों के पास सिद्धियाँ होती हैं, वे गरीब को श्रीमंत और पुत्रहीन को पुत्रवान बना सकते हैं।

मोक्ष मार्ग में उपयोगी, कर्म के वन्धन तोड़ने में उपयोगी ज्ञान की वाह्यदृष्टि वाले को आवश्यकता ही नहीं। पर जिनके पास ऐसा ज्ञान होता है वे ही महात्मा इस विश्व पर महान् उपकार करने वाले होते हैं। तत्वदृष्टि वाला जीव ऐसे ज्ञानी पुरुषों को ही महात्मा समझता है, उन्ही की सेवा-भक्ति और उपासना करता है।

'महात्मा' बनने की अभिलाषा वाले जीव को भी ज्ञान-दृष्टिवान् बनना चाहिये। ज्ञान दृष्टि के विना महान् बनना

असंभव है।' तत्व को जानने वाला इस बात को समझे और तत्वज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करे। वाह्य वेश मात्र से—बाह्य दिखावे मात्र का महात्मा वनना वह न चाहे। वास्तविक निष्पाप और ज्ञानपूर्ण जीवन में ही वह महानता का अनुभव करे और उस मार्ग पर आगे वढ़े।

न विकाराय विश्वस्योपकारायैव निर्मिताः
स्फुरत्कारुण्यपीयूषवृष्टयस्तत्वदृष्टयः ॥८॥१५२

श्लोकार्थ

स्फुरायमान करुणारूप अमृत की वृष्टि करने वाले तत्व दृष्टि पुरुष विकार के लिये नहीं, परन्तु विश्व के उपकार हेतु ही उत्पन्न हुए हैं।

श्लोक विवेचन

तत्वदृष्टि महापुरुष !

अर्थात् करुणामृतकी वृष्टि करने वाले !

निरन्तर विश्व पर उपकार करने वाले !

राग द्वेष के विकारों का नाश करने वाले !

ग्रहण और आसेवन शिक्षा द्वारा, स्व-पर आगम ग्रन्थों के सूक्ष्म रहस्यों की प्राप्ति द्वारा तत्वदृष्टि महापुरुष पैदा होते हैं। जिन शासन के आचार्य और उपाध्याय ऐसे तत्वदृष्टि महापुरुष तैयार करने में ही दिन रात रत रहते हैं।

ये तत्वदृष्टि महापुरुष विश्व में राग-द्वेष के विकारों का विकास नहीं करते परन्तु विनाश करते हैं।

भव समुद्र में विषय कषाय के पराधीन वनकर डूबते हुए जीवों को देखकर तत्वदृष्टि महापुरुषों के हृदय करुणा के

अमृत से उभर उठते हैं, वे डूबते हुए जीवों को संयम की नाव में बिठाकर, उन्हें भव सागर से पार उतारते हैं।

भीषण भव वन में भटकते, मार्गच्युत जीवों को देख कर तत्वदृष्टि महात्माओं के अन्तः करण में करुणा का स्फुरण होता है, जीवों को वे अभयदान देते हैं—सही मार्ग देखने की दृष्टि देते हैं—मार्ग में साथ देते हैं—शरण देते हैं और 'मोक्ष' की श्रद्धा देते हैं।

अनेक जीवों के संशयों का निराकरण कर निःशंक बनाकर मोक्ष मार्ग की आराधना में प्रोत्साहित करते हैं। समुद्र के समान वे गंभीर होते हैं, तथा मेरूवत् निश्चल होते हैं। उपसर्गों, परिषहों से वे डरते नहीं, न दीनता दिखाते हैं। दिन-रात मोक्ष मार्ग की आराधना-प्रभावना करने में वे प्रसन्न चित्त रहते हैं। ऐसे तत्व दृष्टि महात्मा ही वस्तुतः विश्व के महान् उपकार-कर्ता हैं.........महान् हितकर्ता हैं.........कल्याण कर्ता हैं। उनके सिवाय दुनिया में कोई दुःखी जीवों का आश्वासन नहीं, आश्रय नहीं, सहारा नहीं। उनके सिवाय कोई शरण नहीं।

करुणायुक्त हृदय में तत्व दृष्टि से किए हुए विश्वदर्शन में से यह दिव्य विचार प्रकट होता है, ओह ! ऐसा धर्म प्रकाश पृथ्वी पर छाया हुआ होने पर भी ये जीव आँखों पर अज्ञानता की पट्टी बांधकर संसार की चौरासी लाख जीव योनियों में भटक रहे हैं। आत्म तत्व को भूलकर जड़ तत्वों में से सुख प्राप्ति का मिथ्या प्रयत्न कर रहे हैं—दुःख, पीड़ा और विडंबनाओं से घिर गए हैं.........! कैसी दयापात्र दीनता बताते हैं.........! कैसा करुण आक्रन्द करते हैं—! लाओ ! इन बिचारे जीवों को धर्म का मार्ग बताएँ, धर्म का रहस्य समझाएँ जिससे

दुःखों तथा मानसिक पीड़ाओं से उनकी मुक्ति हो—इस भीषण भव समुद्र से पार उतर जाएँ।'

संसार के अज्ञानी जीव उन्हें चाहे उपकारी मानें या न मानें वे तो निरन्तर उपकार करते ही रहते हैं। सूर्य को प्रकाश देने वाला उपकारी कोई माने या न माने, सूर्य तो प्रकाश देता ही रहता है। उसका यह स्वभाव है। उसी प्रकार तत्व दृष्टि महात्माओं का यह स्वभाव होता है कि वे जीवों पर करुणा लाकर उपकार करते ही रहते हैं।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२०. सर्व समृद्धि

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु मुद्रितेषु महात्मनः ।
अन्तरेवावभासन्ते स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ॥१॥१५३

श्लोकार्थ

बाह्य दृष्टि की प्रवृत्ति वंद होती है तव महात्मा को अंतर में ही प्रकटित सर्व समृद्धियाँ दिखाई देती हैं ।

श्लोक विवेचन

समृद्धि !

अपार—अनंत समृद्धि !

तुम्हारे बाहर ढूँढने की क्या आवश्यकता है ? वाहर फाँके मारने की क्या जरूरत है ? देखो, एक काम करो :

अपनी वाह्य दृष्टि वन्द करो ।

की ? अब अन्तर्दृष्टि खोलकर अन्तरात्मा में देखो । खूब एकाग्र बनकर देखो ।

क्या ? अंधकार है ? कुछ नहीं दिखाई देता ? धैर्य रक्खो । अपनी अन्तर्दृष्टि को बन्द न करो, उसके प्रकाश को और अधिक तेजस्वी बनाकर देखो·······बाह्य दृष्टि के बाहर के प्रकाश में से चकाचौंध होकर आए हो न, अतः थोड़ी देर अंधकारपूर्ण लगेगा—फिर धीरे-धीरे वहां का महान् मूल्यवान् भंडार दिखाई देने लगेगा ।

दीखा ? नहीं ?

तो तुम्हारी सारी इन्द्रियों की शक्ति को केन्द्रित कर उस समग्र शक्ति को अन्तरात्मा में उस समृद्धि के भंडार को देखने के काम में लगा दो।

हाँ, विश्वास रक्खो, वहाँ दुनिया का श्रेष्ठ भंडार छिपा पड़ा है—तुम बिल्कुल ही उस भंडार के पास खड़े हो—धैर्य रखकर, उस भंडार को देख लो""।

उस भंडार में क्या है ? अरे, यह जानने के लिये इतने जल्द वाज क्यों हो रहे हो ? तुम्हें स्वयं ही इस भंडार में पड़ी हुई समृद्धि को देखना न ! मैं कहता हूँ कि इस भंडार की समृद्धि से देव देवेन्द्रों के साम्राज्य खरीदे जा सकते हैं। देवलोक और मृत्यु लोक का सारा सुख वैभव खरीदा जा सकता है। इस समृद्धि की एक खास विशेषता वताऊँ ? यह मिलने के वाद तुम्हारे पास से कभी मिटने वाली नहीं।

अभी भी वह समृद्धि दिखाई न दी ? वाह्य दृष्टि को विल्कुल बन्द की है न ? इस पर 'सील' लगा दो। हाँ, यह जरा भी खुली रही तो भंडार नजर नहीं आएगा। वाह्य दृष्टि के पाप से तो अनेक जीव इस भंडार के अति निकट आकर भी निराश होकर लौट जाते हैं—अतः इस दृष्टि को तो फोड़ ही डालना।

हाँ, अव यह भंडार दिखाई दिया ? मन्द-मन्द दिखाई दिया ? कोई बात नहीं, अव अपने हाथ लम्बे करो और इस ओर आगे बढ़ो—प्रकाश बढ़ता जाएगा—वढ़ा न ? अब तो यह भंडार स्पष्ट दिखाई दिया न ? खोलो इस भंडार को ! कैसी समृद्धि हैं इसमें ?

कहो, अब तुम्हारे देश-विदेश में भटकने की आवश्यकता है ? सेठ-श्रीमंतों की गुलामी करने की आवश्यकता है ? धंधों की दौड़ धूप करने की आवश्यकता है ? कुटुम्ब-परिवार के पास जाने का मन हो ऐसा है ? इन सब की स्मृति भी आती है क्या ? सब कुछ दिव्य और भव्य है न ? परन्तु हाँ, जिस क्षण और जिस समय बाह्य दृष्टि खुली, कि यह सब जादू की भाँति लुप्त हो जाएगा और पूर्ववत् गाँव-नगर की गलियों में भटकते हुए भिखारी बन जाओगे !

समाधिर्नन्दनं धैर्यं दम्भोलिः समता शचि।
ज्ञानं महाविमानं च वासवश्रीरियं मुनेः ॥२॥१५४

श्लोकार्थ

समाधिरूप नन्दनवन, धैर्य रूप वज्र, समता रूप इन्द्रानी और स्वरूप का अवबोध रूप बड़ा विमान-यह इन्द्र की लक्ष्मी मुनि के पास है।

श्लोक विवेचन

मुनिराज ! आप इन्द्र हैं—

आपकी समृद्धि की, आपकी शोभा की सीमा नहीं। आपके किसी बात की कमी नहीं। देवराज इन्द्र की समृद्धि आपके पास है। आओ, आपकी समृद्धि के दर्शन करो।

यह रहा आपका नंदन वन·····! हाँ यह नंदनवन है—कैसा सुरम्य, एक दम हरा और आह्लादक है ! 'ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकतारूप समाधि के नंदनवन में आप नित्य विश्राम करें। नंदनवन में प्रविष्ट होने के पश्चात् आपको दूसरा कुछ भी याद नहीं आएगा। नित्य नवीन-नूतन लगता हुआ यह नंदनवन आपका है—अच्छा लगा न ?

आपको शत्रुओं का भय है ? निर्भय रहें आपके पास बड़े-बड़े पहाड़ों को चूर डाले ऐसा वज्र है। आपको भय किस बात का ? इन्द्र वज्र को पास ही रखता है उसी तरह हे मुनीन्द्र ! आप भी यह धैर्य रूप वज्र साथ ही रखकर भ्रमण करें। परिषहों के पहाड़ आपके मार्ग में आएँ तो धैर्य के वज्र से उसे छेदकर आगे वढ़ जाना। क्षुधा, पिपासा, शीत या ऊष्ण, डांस या मच्छर, स्त्री या सत्कार किसी भी परिषह से आप दीनता या उन्माद न करें। धैर्य रूपी वज्र से उसको पराजित कर, विजयी वनकर रहें।

आपको अकेलापन सताता है क्या ? कोई आपके मन को वहकाने वाला, मन को स्नेह की मस्ती से भर देने वाला, प्रेम दृष्टि के सागर में क्रीड़ा करने में साथी चाहिये क्या ? यह रही आपकी इन्द्रानी ! समता-शची आपकी स्थायी साथी है। वस, इस समता शची के हाथ का अमृत पी पी कर-उसके यौवन का पान करते रहना। आपको जरा भी अकेलापन नहीं लगेगा। आपका मन स्नेह की मस्ती में रहेगा। समता-इन्द्रानी-मध्यस्थदृष्टि है ! इस इन्द्रानी को आप पल भर भी दूर न रखें।

रहेंगे कहाँ ? अरे, मुनीन्द्र ! आपके महान् विमान में ही रहने का। ईंट, चूने और पत्थर के मकान इस महाविमान के आगे तुच्छ हैं। घास या केलुओं की झोंपडियाँ अव आपके लिये नहीं। अपने परिवार के साथ अपने विमान में ही निवास करने का। ज्ञान के महाविमान के आप मालिक हैं। ज्ञान-आत्म-स्वरूप का अववोध रूप ज्ञान-महाविमान है। आपका नंदनवन भी इसी विमान में आया हुआ है। इस स्थान में आपको कोई कठिनाई तो नहीं होगी न ? सव प्रकार की सुविधायुक्त

यह विमान है। आपकी इन्द्रानी और आपका वज्र भी इसी विमान में रहेगा।

कहिए, अब कोई न्यूनता है ? मुनीन्द्र ! आपके पास दुनिया की श्रेष्ठ संपत्ति, उच्चतम वैभव है। आपके किसी वात की कमी नहीं—ऐसे दिव्य सुख में आपके रात और दिन कहाँ वीतते हैं—इसका आपको पता भी नहीं चलेगा। अतः अपनी समृद्धि को पहिचानो। इसके सिवाय तुच्छ और सारहीन पौद्गलिक संपत्ति की कामनाओं का त्याग कर दो।

विस्तारितक्रियाज्ञान चर्मच्छत्रो निवारयन्।
मोहम्लेच्छमहावृष्टि चक्रवर्ती न किं मुनिः ॥३॥१५५

श्लोकार्थ

क्रिया और ज्ञान रूपी चर्म रत्न और छत्र रत्न जिन्होंने विस्तृत कर रखा है ऐसे मोहरूपी मलेच्छों द्वारा की हुई महा-वृष्टि का निवारण करते हुए साधु क्या चक्रवर्ती नहीं ?

श्लोक विवेचन

मुनिराज ! क्या आप चक्रवर्ती नहीं ? आप तो भाव चक्रवर्ती है। चक्रवर्ती की अपार ऋद्धि-समृद्धि और शक्ति आपके पास है, इसका आपको पता है क्या ?

आपके पास चर्म रत्न है।

सम्यग् क्रियाओं का चर्म रत्न है।

आपके पास छत्र रत्न है !

सम्यग् ज्ञान का छत्र रत्न है....!

भले ही फिर मोह-म्लेच्छ मिथ्यात्व के दैत्यों को भेजकर आप पर कुवासनाओं के तीर बरसाएँ। छत्र रत्न और चर्म रत्न आपको एक भी तीर लगने नहीं देंगे।

'मैं चक्रवर्ती हूँ!' यह खुमारी रक्खो। 'मेरे पास चर्म रत्न और छात्ररत्न हैं' इसका गर्व रखो। इस खुमारी और गर्व से आप दीन न बनें, निराश न हों, कायर न बनें।

मोहम्लेच्छ चाहें जितने व्यूहों की रचना करें। आपके आसपास चारों ओर मिथ्यात्व के भयावह दैत्यों को व्यवस्थित खड़े कर दें। आपको डराने के लिये विविध वासनाओं के तीर वरसाएँ, आप निर्भीक होकर टूट पड़ने के लिये तैयार रहें। सम्यग् क्रियाओं में आपकी लीनता होगी, वासनाओं के तीर आपका स्पर्श नहीं कर सकेंगे। सम्यग् ज्ञान में आपकी मग्नता होगी, वासनाओं के तीर आपके प्रदक्षिणा लगाकर उन्हीं दैत्यों के वक्षस्थल में प्रहार करेंगे। स्थूलभद्रजी पर मोह-म्लेच्छ ने कैसा गजब का हमला किया था? कैसी वासना की मूसलाधार वर्षा की थी? परन्तु वे तो चक्रवर्ती महामुनि थे! मोह ने कोश्या के हृदय में मिथ्यात्व को खड़ा किया—मिथ्यात्व ने वासनाओं को स्थूलभद्रजी पर छोड़ीं—नित्य कोश्या सोलह शृंगार सजकर वासनाओं के तीर पर तीर छोड़ती चली-वासनाओं की मूसलधार वर्षा करने लगी, उसने ललचाने वाले हाव भाव किये, अंगविन्यास किये, मदोत्तेजक भोजन अर्पित किये। गीत-गान और नृत्य किये—परन्तु ये एक भी तीर स्थूल-भद्रजी को छू नहीं सके। वर्षा का एक बिंदु भी उनके अंग को भिगो सका क्या? क्योंकि उन चक्रवर्ती के पास सत्क्रियाओं का चर्म रत्न था। सम्यग् ज्ञान का छत्ररत्न था। ये दो रत्न

चक्रवर्ती की शत्रुओं से सतत रक्षा करते हैं। शर्त एक ही है इन रत्नों को चक्रवर्ती को अपने पास ही रखने पड़ते हैं। यदि इन रत्नों को दूर रखकर फिरें, तो शत्रु तुरन्त आक्रमण करके चक्रवर्ती को मसल डालें।

मुनिराज ! आपको तो समस्त आश्रवों का त्याग कर सर्व संवर में आना है; अर्थात् क्रिया और ज्ञान में आपको परिणति को सँवारना है । मन-वचन-काया के योग को क्रियाओं में —चारित्र्य की क्रियाओं में पिरोना और ज्ञान का अखंड उपयोग रखना। ज्ञान दीपक किसी भी समय बुझ न जाए इसके लिये आपको जागृत रहना होगा । क्षायोपशमिक ज्ञान-शास्त्र ज्ञान का मन्द दीपक भी यदि बुझ गया तो वासनाओं के भूतों का समूह आपको अपना शिकार बना लेगा और आपका खून चूस लेगा। वासनाओं की मूसलाधार वर्षा में आप भीग जाएँगे और रोग ग्रस्त होकर भाव मृत्यु के मुँह में चले जाएँगे।

आप सतत याद रखें कि आप चक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती की श्रद्धा से आप निर्भयजीवन जीएँ और चर्म रत्न तथा छत्र रत्न को प्राण की भाँति साथ ही रखें । मोह म्लेच्छ पर आप विजयी होंगे।

नवब्रह्मसुधाकुण्डनिष्ठाधिष्ठायको मुनिः।
नागलोकेशवद् भाति क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ।।४।।१५६

श्लोकार्थ

नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रूपी अमृत के कुंड की स्थिति के सामर्थ्य से स्वामी और यत्न से सहिष्णुता रखते हुए मुनि नागलोक के स्वामी की भाँति शोभायमान होते हैं।

श्लोक विवेचन

मुनीश्वर आप शेषनाग हैं। नाग लोक के स्वामी हैं।

चकित न हों। मात्र कल्पना न समझें। सचमुच आप नागेन्द्र हैं ब्रह्मचर्य के अमृत कुंड में आपका निवास है। क्षमा-पृथ्वी को आप धारण किए हुए हैं। क्षमा-पृथ्वी आपके सहारे टिकी हुई है। कहिये ! अब आप नागेन्द्र सचमुच हैं या नहीं ? हम आपकी खुशामद नहीं करते, आपकी अर्थहीन प्रशंसा करके आपको रिझाने का प्रयत्न नहीं करते, परन्तु जो यथार्थ स्थिति है, सत्य हकीकत है, उसे बताते हैं।

देखिये ! आप ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ों का पालन पर मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य के अमृत कुंड में क्रीडा नहीं करते ?

(१) आप स्त्री-पशु-नपुंसक जहाँ रहते हों—ऐसे स्थान में रहते नहीं।

(२) स्त्री कथा करते नहीं।

(२) स्त्रियाँ जिस स्थान पर बैठी हों उस स्थान पर आप बैठते भी नहीं।

(४) दीवार की दूसरी ओर बोलते हुए स्त्री पुरुषों के राग पूर्ण वचनों को भी सुनते नहीं, ऐसे स्थान का त्याग कर देते हैं।

(५) संसारावस्था में की हुई काम-क्रीडाओं की स्मृति करते नहीं।

(६) विकारवर्धक-उत्तेजक विगईओं—घी, दूध आदि का सेवन करते नहीं।

(७) अति आहार-ठूँस-ठूँस कर आप भोजन करते नहीं।

(८) शरीर-शृंगार करते नहीं।

(९) स्त्रियों के अंगोपांग एकटक से देखते नहीं।

इस ब्रह्मचर्य के अमृत कुंड में आप कैसा अपूर्व आह्लाद अनुभव कर रहे हैं? इस आह्लाद का वर्णन कैसे शब्दों में किया जाय? और यह वर्णन करने की वस्तु भी तो नहीं। यह तो गोता लगाकर अनुभव करने की वस्तु है। आप वास्तव में ब्रह्मचर्य के अमृत कुंड के अधिनायक हैं, स्वामी हैं। इसके आनंद के आगे विषय सुख के कीडों का आनन्द तुच्छ असार और गंदा लगता है।

क्षमा अर्थात् पृथ्वी।

'शेषनाग पृथ्वी को धारण किये हुए हैं ऐसी लोकोक्ति है न? भले ही यह लोकोक्ति सही न हो। परन्तु मुनीश्वर! आपने तो वास्तव में पृथ्वी-क्षमा धारण कर रखी है न? क्षमा आपके सहारे रही है।

कैसी आपकी क्षमा-सहनशीलता? गुरु चडरुद्राचार्य अपने नवदीक्षित मुनि के लोच वाले सिर पर डंडे बरसाते हैं, परन्तु नवदीक्षित मुनि तो शेषनाग थे। उन्होंने क्षमा धारण कर रखी थी। डंडों के प्रहारों से उन्होंने क्षमा पृथ्वी को हिलने भी न दी! उन्होंनें सहनशीलता को टिकाए रक्खा। शेषनाग यदि इस प्रकार डंडों के प्रहार से डर जाए तो पृथ्वी को कैसे धारण कर सके? नवदीक्षित मुनिराज—शेषनाग ने केवल ज्ञान प्राप्त किया!

ब्रह्मचर्य और सहनशीलता!

इन दो के पालन से-रक्षण से मुनि शेषनाग हैं।

'मैं शेषनाग हूँ, नागेन्द्र हूँ' इस वात की सगर्व स्मृति से ब्रह्मचर्य में दृढ़ता और सहनशीलता में परिपक्वता आती है।

मुनिरध्यात्मकैलाशे विवेकवृषभस्थितः।
शोभते विरतिज्ञप्तिगङ्गा-गौरीयुतः शिवः ॥५॥१५७

मुनि अध्यात्म रूपी कैलाश पर, विवेक (सद्-असद् का निर्णय रूप) रूपी वृषभ पर वैठे हुए, चारित्र्य कला और ज्ञान कला रूपी गंगा और पार्वती सहित महादेव की भाँति शोभायमान होते हैं।

श्लोक विवेचन

महादेव शंकर !

मुनिवर आप ही शंकर हैं—महादेव हैं—यह आपको पता है क्या ? हाँ, यह विनोद की वात नहीं सत्यता है। शंकर की शोभा, शंकर का प्रभाव सव आपके पास है—आप सर्व समृद्धि के स्वामी हैं।

हाँ, आपका निवास भी कैलाश पर है।

अध्यात्म कैलाश पर आप रहे हैं न ! पत्थरों का पहाड़, यह अध्यात्म का पहाड़ अनेक विशेषताओं से भरा हुआ है.........कैलाश पर्वत की अपेक्षा अध्यात्म पर्वत दिव्य है, भव्य है।

वृषभ-वैल की सवारी ? है न आपके पास ! विवेक वृषभ पर आप आरुढ़ हैं। आप सत्-असत् का भेद जानते हैं। हेय-उपादेय को पहिचानते हैं। शुभ-अशुभ के अन्तर का आपको भान है—यह आपका विवेक वृषभ है ?

गंगा-पार्वती कहाँ हैं ? ऐसा पूछते हो ? आपके दोनों ओर गंगा-पार्वती वैठे हुए हैं देखो तो सही, कैसा मनोहर इनका रूप है—और आपके प्रेम के लिये तरस रही हैं।

चारित्र्य कला आपकी गंगा है और ज्ञान कला पार्वती देवी है। हाँ, उस गंगा-पार्वती की अपेक्षा यह गंगा-पार्वती आपको अपूर्व, अद्‌भुत सुख देती है। ये दो देवियाँ निरंतर आपके साथ ही रहती हैं और आपको तनिक भी दुःख नहीं होने देतीं। आपसे अलग उन्होंने अपना अस्तित्व ही रखा नहीं। आपके अस्तित्व में उन्होंने अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व विलीन कर दिया है! ऐसा दिव्य प्रेम धारण करती ज्ञान कला और चारित्र्य कला जैसी आपको देवियां मिली हैं, अब जगत की आपको क्या परवाह?

कहिये मुनिवर! समृद्धि में कोई न्यूनता है? निवास के लिये कैलाश है। सवारी के लिये मनोनुकूल वृषभ है और गंगा-पार्वती आपकी प्रियाएँ हैं। अब आपको क्या चाहिये? आप अपनी डुगडुगी बजाते चलो और दुनिया को भी धुनवाते चलो।

तात्पर्य यह है: मुनि अध्यात्म में ही रहें। वे 'अध्यात्म' को ही अपना निवास स्थान मानें। जब-जब बाहर जाना हो, विवेक पर ही सवारी करके जाएँ। विवेक के बिना बाहर जाएँ नहीं, देखें नहीं। ज्ञान और चारित्र्य के साथ ही जीएँ। जीवन का आनंद ज्ञान और चारित्र्य के सहवास में से ही प्राप्त करें। ज्ञान और चारित्र्य को छोड़कर अन्य किसी वस्तु में से आनंद या सुख खोजने के लिये कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान-चारित्र्य के प्रति पूर्ण वफादारी निभाएँ। यदि आप इतनी बातें निभा सकें तो आपकी समृद्धि में कभी-कभी न्यूनता नहीं आएगी। यह समृद्धि आपको सुखी करेगी, आपको शांति देगी। दुनिया में आपकी कीर्ति फैलेगी।

शंकरजी ! आप अपने वैराग्य की डुगडुगी बजाते हुए रागी-द्वेषी दुनिया को धुनाते रहें।

ज्ञानदर्शनचन्द्रार्कनेत्रस्य नरकच्छिदः।
सुखसागरमग्नस्य किं न्यूनं योगिनो हरेः ॥६॥१५८

श्लोकार्थ

ज्ञान-दर्शन रूपी चन्द्र और सूर्य जिनके नेत्र हैं ऐसे, नरक गति का नाश करने वाले (नरकासुर का नाश करने वाले) सुख रूपी समुद्र में मग्न बने हुए योगी के कृष्ण की अपेक्षा क्या न्यूनता है ?

श्लोक विवेचन

श्री कृष्ण !

चन्द्र-सूर्य उनकी दो आंखें।

नरकासुर का जिन्होंने वध किया।

सागर में जो मग्न बने हुए होते हैं !

योगी, आपके श्री कृष्ण की अपेक्षा क्या कमी है ? क्या आपकी दो आंखें चन्द्र-सूर्य नहीं ? क्या आपने नरकासुर का वध नहीं किया ? क्या सुख सागर में आप सोए हुए नहीं ? फिर आप अपने अन्दर न्यूनता का अनुभव क्यों करते हैं ? आप स्वयं श्री कृष्ण है ?

ज्ञान और दर्शन. ये दो आंखें हैं आपके, ये चन्द्र सूर्य समान तेजस्वी और विश्व प्रकाशक आँखें हैं।

आपने क्या नरकगति का नाश नहीं किया ? नरकासुर अर्थात् नरकगति। चारित्र्य के शस्त्र से आपने नरकासुर-नरकगति का नाश किया है।

आत्म सुख के समुद्र में आप सोए हैं""अब कहिये श्रीकृष्ण की विशेषताओं की अपेक्षा आपके क्या कम विशेषता है ?

वस्तु को सामान्य रूप में देखना दर्शन कहलाता है और वस्तु को विशेष स्वरूप में देखना ज्ञान कहलाता है। मुनि विश्व के जड-चेतन पदार्थों को सामान्य और विशेष रूप में देखते रहते हैं। वस्तु में तो सामान्य और विशेष, दोनों स्वरूप रहे हुए हैं ! जब सामान्य स्वरूप को देखा जाता है तब दर्शन कहलाता है और विशेष स्वरूप को देखा जाए तब ज्ञान कहलाता है ।

योगी महाव्रतों से युक्त पवित्र जीवन जीते हैं, उससे उन्हें मृत्यु के पश्चात् नरक में जाना नहीं पड़ता, इसीलिये उन्हें नरकासुर का वध किया ऐसा कहा जाता है। नरक का भय एक बड़ा असुर है ! पवित्र पाप रहित जीवन जीने से यह भय दूर होता है ।

आध्यात्मिक सुख के महोदधि में योगी मस्त होकर सोते हैं। भले ही अरब सागर कभी सूख जाए""जल का स्थल हो जाय, भले ही महासागर सूख जाएँ—यह अध्यात्म महोदधि कभी भी नहीं सूखता।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज मुनि को नित्य, अभय और स्वाधीन समृद्धि का सुख बताने के लिये आत्म भूमि पर ले जाकर, एक के बाद एक समृद्धि के दर्शन करवाते चलते हैं—संसार में श्रेष्ठ गिनी जाती समृद्धि के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का दर्शन करवा कर कहते हैं : 'आपके पास ऐसी संपत्ति है—आप दुनिया के श्रेष्ठ संपत्ति-वैभव वान् पुरुष हैं। आप दीनता न करें। भौतिक संपत्ति में आकर्षित न हों। आप देवेन्द्र हैं,

चक्रवर्ती हैं, महादेव शंकर हैं, श्री कृष्ण हैं—अपने आप को पहिचानो। (Know thyself) आपको स्वयं का परिचय होगा, आप इस विश्व के श्रेष्ठ सुखी मानव बनेंगे।

योगी बनना पड़े तो हरि से भी कोई न्यूनता न लगे। जहाँ तक योगी नहीं बनते तब तक नगर की गलियों में भटकते भिखारी से भी न्यूनता लगेगी। ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की योग—आराधना करने की आवश्यकता है।

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या बाह्यापेक्षावलम्बिनी ।
मुनेः परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टिः ततोऽधिका ॥७॥१५६

श्लोकार्थ

ब्रह्मा की जो सृष्टि है वह बाह्य जगत रूप है और बाह्य-कारण की अपेक्षा रखने वाली है। मुनि की अंतरंग गुण की सृष्टि दूसरे की अपेक्षा रहित है, अतः अधिक है।

श्लोक विवेचन

ब्रह्मा !

कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की, परन्तु ब्रह्मा की सृष्टि की रचना कैसी है ? समग्र जगत का सर्जन पर सापेक्ष ! दूसरे के अवलंबन पर ही सब कुछ होता है...ऐसी सृष्टि ब्रह्मा ने क्यों रची ? इस प्रश्न का समाधान मिलता नहीं—किसी ने छोटे बालकों को समझाते हुए कहा हो ऐसा लगता है : 'ब्रह्मा के सृष्टि पैदा करने की इच्छा हुई..........और उसने सृष्टि पैदा करदी।' परन्तु यदि वहाँ किसी बालक ने पूछ लिया होता—'ब्रह्मा को किसने पैदा किया ?' तो ब्रह्मा ने सृष्टि पैदा की यह बात प्रचलित नहीं होती ! बुद्धि में न बैठे ऐसी

भी यह बात महान् बुद्धिशाली पुरुषों ने भी स्वीकार की है और शास्त्रों में उस बात को सिद्ध करने के प्रयत्न किए हैं ? 'ब्रह्मा का जन्म कैसे हुआ ?' इसका उत्तर देते हैं कि 'ब्रह्मा अनादि हैं'! तो फिर सृष्टि को ही अनादि मान लेने में क्या आपत्ति है ? खैर, हमें इस बात के साथ यहाँ विशेष संबंध नहीं। यहां तो मुनि ब्रह्मा प्रस्तुत हैं! मुनि-ब्रह्मा वास्तव में अंतरंग गुणों की रचना करते हैं गुण सृष्टि का सर्जन करते हैं—वह रचना इस बाह्य दिखाई देते सृष्टि सर्जन की अपेक्षा अनेक दृष्टियों से बढ़कर है। गुण सृष्टि के सर्जन में किसी बाह्य कारण की अपेक्षा ही नहीं।

बाह्य दुनिया के सर्जन में कितनी पराधीनता ? एक मकान बनाने में, एक स्त्री प्राप्त करने में, धन-संपत्ति का संचय करने में, सगे-स्नेही जनों के साथ संबंध जोड़ने में-आत्मा से भिन्न जड़-चेतन पदार्थों के बिना चल सकता है क्या ? इन पर पदार्थों के लिये कितने राग और द्वेष करने पड़ते हैं ? सभी झगड़े और क्लेश पर-पदार्थों को लेकर ही हैं ? मनुष्य की—जीव मात्र की सुख-दुःख की कल्पनाएँ भी इन पर-पदार्थों को लेकर ही हैं और इन पर-पदार्थों की अपेक्षा कैसी सुदृढ हो गई है कि संसार का जीव पर-पदार्थ के बिना जी भी नहीं सकता।

मुनि जैसे-जैसे साधना-आराधना के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पर-पदार्थों की सहायता लिये बिना जीवन जीने का प्रयत्न करता है। यथाशक्य कम से कम पर पदार्थों की सहायता लेता है। साथ ही आंतरिक आत्मगुणों की सृष्टि रचना करता जाता है। आंतरिक गुण सृष्टि का ऐसा सर्जन करता है कि जिसमें नित्य, स्वाधीन और निर्भय जीवन जीया जा सकता है। इस सृष्टि का प्रलय होने का भय नहीं। ब्रह्मा की

सृष्टि को तो प्रलय होने का भी भय ! प्रलय अर्थात् सर्वनाश ! इन आत्म गुणों की सृष्टि में जब जीवन का आरंभ होता है तब किसी पर-पदार्थ की अपेक्षा नहीं, बिल्कुल निरपेक्ष जीवन अर्थात् राग-द्वेष नहीं, झगड़े फिसाद नहीं—सुख-दुःख के द्वन्द्व नहीं।

ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा मुनिराज की सृष्टि कितनी अधिक बढ़कर, दिव्य और भव्य होती है ! इस सृष्टि में इतनी अधिक समृद्धि अनंत समृद्धि समायी हुई है कि जीव को पूर्ण तृप्ति हो जाए।

मुनिराज ! आप सृष्टि सर्जन करने वाले ब्रह्मा की अपेक्षा भी महान् हैं। ब्रह्मा की दुःख, वेदना और कष्ट भरी दुनिया की अपेक्षा आप कैसी अनुपम सुख, आनंद और पूर्ण स्वातंत्र्य-पूर्ण गुण-सृष्टि की रचना करते हैं। कहिये ! अब आपको अपनी महत्ता, स्थान और शक्ति का पता चला ? अब तो आपको किसी बात से असंतोष नहीं न ? और यह कोई कल्पित-मन-घडंत बात नहीं, यह तो शुद्ध सत्य वस्तु स्थिति है, आप इस पर बड़ी गंभीरता पूर्वक सोचें, और आत्मसात् करें। गुण सृष्टि का सृजन करने के लिये आप उत्तेजित होंगे और इस कल्पित ब्रह्मा की कल्पित सृष्टि-रचना में से मुक्त बनेंगे !

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या स्रोतोभिरिव जाह्नवी।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्हत्पदवी न दवीयसी ॥८॥१६०

श्लोकार्थ

जैसे तीन प्रवाहों से पवित्र गंगा है वैसे ही तीन रत्नों से पवित्र तीर्थंकर पद भी सिद्ध योग वाले साधु के लिये दूर नहीं।

श्लोक विवेचन

खैर, आपको ब्रह्मा-शंकर या कृष्ण नहीं बनना। देवेन्द्र या चक्रवर्तीपन की आपको महत्वाकांक्षा नहीं, आपको तीर्थंकर पद चाहिये—ऐसा न ?

तीर्थंकर पद !

सम्यग् दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य, इन तीन रत्नों से पवित्र पद क्या आपको इस पद की इच्छा है ? यह मिल सकता है। इसके लिये आपको पूर्व तैयारी करनी चाहिये। इस पूर्व तैयारी में दो बातें मुख्य हैं।

(१) भावना।

(२) आराधना।

'मोहन्धकार में भटकते और दुःखी होते जीवों को मैं परम सुख का मार्ग बताकर दुःख मुक्त करूँ—सभी जीवों को भव के बंधनों से मुक्त करूँ'—ऐसी तीव्र भावना चाहिये और बीस स्थानक तप की कठोर आराधना चाहिये। इन दो बातों से तीर्थंकर पद की नींव डाली जाती है और नींव डालने के पश्चात् तीसरे ही भव में उस पर महल बन जाता है। तीर्थंकर नाम कर्म 'निकाचित' करने के पश्चात् आप तीर्थंकर बने ही समझें।

आपकी भावना और आराधना में जैसे-जैसे प्रगति करते जाओगे वैसे-वैसे गुरु भक्ति और ध्यान योग के प्रभाव से तीर्थंकर परमात्मा के स्वप्न में आपको दर्शन होंगे।

विश्व का श्रेष्ठ पद !

तीर्थंकरपन की दिव्यादिव्य समृद्धि !

इस समवसरण की अद्‌भुत् रचना, अष्ट महाप्रातिहार्य की शोभा, वाणी के पेंतीस गुण और चौंतीस अतिशय—यह वीतराग दशा और सर्वज्ञता-चराचर विश्व को देखना और जानना—शत्रु-मित्र पर समान मध्यस्थ दृष्टि ! ऐसी अवस्था आपको प्रिय है न ! और काम क्या करने का ? धर्मोपदेश द्वारा विश्व को सुखी वनाना ।

अरिहंत पद कहें या तीर्थंकर पद कहें, कैसा गंगा जैसा पवित्र पद है ? पद श्रेष्ठ होते हुए भी अभिमान का लेश भी नहीं । पद सर्वोत्तम होते हुए भी उसका जरा भी दुरुपयोग नहीं । ऐसा यह पवित्र पद है । तीन रत्नों की यह पवित्रता है ! गंगा तीन प्रवाहों से पवित्र है न ! आप तीर्थंकर पद की कामना करें, अभिलाषा रक्खें—यह सर्वथा उचित है ।

परन्तु इसके लिये जगत के सभी जीवों पर भाव करुणा को हृदय में स्थान देना । सभी जीवों के हित का ही विचार करना । किसी भी जीव का अहित सोचें या करें नहीं । संसार-वर्ती जीवों के दोष या अवगुण दिखाई दे जाएँ तो उन्हें दूर करने की भावना रखना और सक्रिय प्रयत्न करना, परन्तु दोष देखकर उनकी आत्मा को दोषी न ठहराएँ । तिरस्कार या घृणा न करें । परहित का विचार आपके मन का मुख्य विचार वन जाए ।

तीर्थंकर पद-अरिहंत पद प्राप्त करने के मनोरथ, भावना-तमन्ना प्रकट होते हैं—पर तब जब कि आत्मा योग भूमिका में पहुंची हो । संसार का ज्ञान दृष्टि से अवलोकन किया हो, संसार की वाह्य समृद्धि को तुच्छ, असार समझ कर उसका त्याग कर दिया हो, अथवा उसके त्याग का दृढ़ संकल्प पैदा हुआ हो ।

सव प्रकार की श्रेष्ठ-सर्वोत्तम समृद्धि में तीर्थंकर पद की समृद्धि सर्वश्रेष्ठ समृद्धि मानी जाती है, और यही सच्ची समृद्धि है। 'सर्व समृद्धि' के इस अष्टक में पूज्य उपाध्यायजी महाराज अन्तिम समृद्धि 'तीर्थंकर पद' की बताकर अष्टक पूर्ण करते हैं और आत्मा को तीर्थंकर पद की प्राप्ति के उपायों की ओर मुड़ने का निर्देश करते जाते हैं? तीर्थंकरपद का कार्य है जगत का दुःख से उद्धार करना! अतः वह श्रेष्ठ पद है।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२१. कर्म-विपाक-चिन्तन

दुखं प्राप्य न दीनः स्यात् सुखं प्राप्य च विस्मितः ।
मुनिः कर्मविपाकस्य जानन् परवशं जगत् ॥१॥१६१

श्लोकार्थ

साधु कर्म के विपाक के पराधीन बने हुए जगत को जानते हुए दुःख पाकर दीन नहीं होते और सुख पाकर विस्मित नहीं होते ।

श्लोक विवेचन

संपूर्ण जगत !

कर्मों की पराधीनता !

कर्मों की परतंत्रता में कोई दीन है, कोई हीन है तो कोई अभिमानी है, कोई घर-घर भीख माँगता है, कोई महल में मस्त होकर आनन्द मनाता है । कोई इष्ट वियोग में करुण क्रन्दन करता है, कोई इष्ट का संयोग में स्नेह का संवनन करता है—कोई रोग—व्याधि से ग्रस्त होकर हृदय विदारक विलाप करता है, कोई निरोगी काया के उन्माद में प्रलाप करता है ।

कर्मों के कैसे कठोर विपाक हैं ! ज्ञानावरणीय कर्म के विपाक से अज्ञानता, मूर्खता, मूढ़ता का जन्म होता है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से घोर निद्रा, अँधापन, मिथ्या प्रतिभास-आदि की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म के विपाक तो अति भयानक हैं। उल्टी ही समझ ! परमात्मा, सद्गुरु और सद्धर्म के संबंध में उल्टी ही कल्पना—हितकारी को अहितकारी माने, अहितकारी को हितकारी माने। क्रोध से झुंझलाए, मान के शिखर पर चढ़कर गिरे, माया जाल को बिछाये ! लोभ सर्प के साथ खेल करे ! मोहनीय कर्म के विपाक कैसे भयानक हैं। क्षण में प्रसन्न, क्षण से अप्रसन्न ! क्षण में हर्ष-क्षण में शोक बात ही बात में भय और बात-बात में जुगुप्सा ! पुरुष स्त्री भोग-संभोग का अभिलाषी और स्त्री को पुरुष का शरीर सुख प्राप्त करने की व्यग्रता। नपुंसक को स्त्री पुरुष दोनों के प्रति आकर्षण। अंतराय कर्म के विपाक भी कैसे जटिल और पक्के हैं। पास में देने की वस्तु हो, लेने वाला योग्य, सुपात्र व्यक्ति हो, फिर भी देने की इच्छा नहीं होती—वस्तु सामने हो, प्रिय लगती हो, फिर भी प्राप्त न हो ! स्त्री-वस्त्र-बंगला होते हुए भी उसका उपभोग न कर सके ! भोजन मनोनुकूल होने पर भी खा न सके, तपश्चर्या करने के भाव पैदा न हों।

मुनि किसी को उच्च कुल में जन्मा हुआ देखे, किसी को नीच कुल में जन्मा हुआ देखे—उसका समाधान इस प्रकार करता है 'यह गोत्र कर्म का विपाक है।' मुनि किसी को निरोगी, मस्त शरीर वाला देखे और किसी को दुर्बल, रोगी और सड़ी हुई काया वाला देखे—उसका समाधान इस प्रकार करता है: यह शाता-अशाता वेदनीय कर्म का विपाक है।' मुनि किसी जीव को मनुष्य के रूप में देखता है किसी को देव रूप में

जानता है, तो किसी को नरक रूप में जानता है—ऐसा क्यों ? इसका समाधान मुनि इस प्रकार करता है : यह आयुष्य कर्म और गति नाम कर्म का विपाक है !' मुनि किसी को बाल्यकाल में मरता हुआ देखता है, किसी को जवानी में तो किसी को वृद्धावस्था में मरता हुआ देखता है.......उसे दुःख शोक या आश्चर्य नहीं होता ! वह समाधान करता है : 'यह आयुष्य कर्म का विपाक है।'

मुनि किसी को सौभाग्यशाली, किसी को दुर्भाग्यशाली, किसी को यशस्वी, किसी को अपयश वाला, किसी को मधुर स्वर वाला, किसी को कर्कश स्वर वाला, किसी को रूपवान्, किसी को कुरूप, किसी को हंस गति वाला तो किसी को ऊँट गति वाला देखता है—तो उसे किसी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं होता । "यह सब नाम कर्म का परिणाम है" इस प्रकार समाधान करता है।

मुनि अपने जीवन में भी ऐसी विषमताएँ देखता है तब वह 'ऐसा कैसे हुआ ? ऐसा कैसे होता है ? इस प्रकार परेशान नहीं होता।' वह कर्म के विपाकों के विज्ञान से परिचित होता है। उसके पीछे रहा हुआ कर्म के बंध का विज्ञान भी उसके पास होता है। वह न दीनता दिखाता है, न हर्षोन्माद करता है। सुख और दुःख के द्वन्द्व ऐसे विज्ञानी मुनि के चित्त में हर्ष-शोक के चढ़ाव उतार पैदा नहीं कर सकते। स्वयं को वे सुखी या दुःखी मानते नहीं। कर्म के उदय में, भले ही वे शुभ हों या अशुभ हों, सुख-दुःख की कल्पना नहीं करते।

दीनता और हर्षोन्माद के चक्रवात में से मुक्त होने का यह एक वैज्ञानिक मार्ग है। जगत को कर्म के अधीन समझो। संसार की प्रत्येक घटना के पीछे कर्म तत्त्व की गहरी और

वास्तविक समझ प्राप्त करो। यह समझ आपको दीन न होने दे, विस्मित न होने दे। दीनता और विस्मय के जाते ही आप अंतरंग आत्म समृद्धि की ओर मुड़ेंगे।

येषां भ्रूभङ्गमात्रेण भज्यन्ते पर्वता अपि।
तैरहो कर्मवैषम्ये भूपैर्भिक्षाऽपि नाप्यते ॥२॥१६२

जिनके भृकुटी के चढाने मात्र से पर्वत तक टूट जाते हैं ऐसे बलवान राजा भी कर्म की विषमता आ गिरती है तब भिक्षा भी प्राप्त नहीं कर सकते—यह आश्चर्य है।

श्लोक विवेचन

कर्मों की कैसी कुटिल विषमता !

राजा रास्ते पर भटकते हुए भिखारी बन जाएँ! भीख माँगने पर भी भिक्षा न मिले ! जिन सम्राटों की भृकुटी चढने पर हिमाद्रि जैसे पर्वत काँप उठें……सम्राट की सेना के आक्रमण से पर्वत के शिखर भी टूट गिरें—शत्रुओं के छक्के छूट जाएँ, पृथ्वी के पाट उखड़ जाएँ—वे राजा, महाराजा और सम्राट-जब कर्म पलट जाते हैं, तब रंक-दीन और गरीब बन जाते हैं।

प्राचीन इतिहास के पृष्ठों में अंकित ऐसे अनेक राजा-महाराजाओं के पतन-यकायक घटित अधः पतन आपने पढ़े होंगे। किन्हीं के प्रति आपका हृदय सहानुभूति से द्रवित हो उठा होगा जब कि किसी के प्रति 'यह इसी के लायक था —' ऐसे कठोर संतोष का भी अनुभव किया होगा, परन्तु ऐसा यकायक पतन क्यों ? जिसका नाम विश्व के दरबारों में प्रसिद्ध था, उसका यकायक पतन कैसे ?' इस प्रश्न का सही समाधान आपने किया है क्या ?

रूस का क्रुश्चेव ! अमेरिका के मांधाता भी उससे थर्राते थे। उसके आग बरसाते शब्द विश्व के एक-एक मानव को जलाते थे। जिसने रूस के स्टालिन, लेनिन और बुल्गानिन को भी जनमन में से मिटा डाले थे और स्टालिन, लेनिन की कब्रें खुदवाकर उनके शव भी फिकवा दिए थे—उस क्रुश्चेव का एक रात में पतन ? आज उसका नाम निशान तक नहीं रहा।

अमेरिका के केनेडी ! U. S. A. के प्रेसिडेन्ट ! क्षण भर में गोली के शिकार हो गए""दुनिया के मंच पर अनेक वार होते ऐसे पतन और विनाश के पीछे एक अदृश्य पर सत्य, अरूपी पर वास्तविक तत्त्व काम कर रहा है, इसका पता है क्या ?

यह तत्त्व है कर्म तत्व।

यश, सौभाग्य, कीर्ति, सत्ता, बल—आदि 'शुभ कर्म' के फल हैं, परन्तु ये शुभ कर्म, जो कि आत्मा पर लगे हुए हैं, इनकी काल मर्यादा होती है। इस कालमर्यादा को सामान्य इन्सान नहीं जानता इसीलिये वह इसकी दीर्घ कालमर्यादा समझ वैठता है। परन्तु उसकी कल्पना से कम कालमर्यादा वाले शुभ कर्म जब पूरे हो जाते हैं और अशुभ कर्मों का अचानक उदय हो जाता है तब ऐसी अकस्मात् पतन और विनाश की दुर्घटनाएँ हो जाती हैं।

अपयश, दुर्भाग्य, अपकीर्ति, निर्वलता और सत्ता-भ्रष्टता अशुभ कर्मों का परिणाम है ! अरव के नेता नासर को छोटे से देश-इजराइल ने अपयश दिया, अपकीर्ति का काला तिलक लगाया और नासर 'वलहीन आदमी' के रूप में वाहर आए।

क्यों ? उनके शुभ कर्मों की काल मर्यादा पूर्ण हो चुकी थी। अशुभ कर्मों ने उनकी आत्मा पर कब्जा कर लिया था !

हाँ पुनः शुभ कर्मों का उदय हो सकता है। अशुभ कर्मों की कालमयार्दा पूर्ण होते ही शुभ कर्मों का पुनः उदय होता है।

और भी विचित्रता है, अमुक अशुभ कर्मों का उदय जारी हो तब अमुक शुभ कर्म भी साथ ही उदय में हो सकते हैं, परन्तु प्रतिपक्षी नहीं। उदाहरण के तौर पर यश का उदय हो तब उसका प्रतिपक्षी अपयश-अशुभ कर्म उदय में नहीं आ सकता परन्तु रुग्णता जो कि अशुभ कर्म है, उसका उदय हो सकता है; क्योंकि रुग्णता यश का प्रतिपक्षी कर्म नहीं है।

कर्म जहाँ तक अनुकूल होते हैं तब तक जीव भले ही ऊधम मचाता रहे, गर्व करे; परन्तु जहाँ कर्मों की विषमता पैदा हुई कि जीव के ऊधम ठंडे हो जाते हैं, गर्व गल जाता है और वह जगत में हँसी का पात्र बनता है। कर्मों की विषमताओं का ज्ञान प्राप्त करो।

जातिचातुर्यहीनोऽपि कर्मण्यभ्युदयावहे।
क्षणाद् रङ्कोऽपि राजा स्यात् छत्रछन्नदिगन्तरः ।।३।।१६३

श्लोकार्थ

अभ्युदय करने वाले कर्म का उदय होता है तब जाति और चतुराई से हीन होते हुए भी क्षण में, छत्र द्वारा ढँका है दिशा मंडल जिसने, ऐसा राजा होता है।

श्लोक विवेचन

इसकी जाति हीन है।
इसकी चतुराई का ठिकाना नहीं।

फिर भी चुनाव में निर्वाचित हो जाता है! प्रधान बन जाता है। आज राजा तो कोई बन सकता नहीं न! राजाओं के राजसिंहासन छीन लिये गए, और आज के प्रधान राजा राजाओं के भी राजा बन गए।

'जाति विहीन समाज रचना' की आज हवा चल रही है। अतः जो हीन जाति के थे उन्हें इरादापूर्वक उच्च स्थान पर बिठाया जा रहा है और उच्च जाति के बुद्धिशाली वर्ग को हीन दृष्टि से देखा जाता है। अन्तर्जातीय शादियाँ की जा रही हैं और ऐसी शादियाँ करने वालों का सरकार सम्मान करती है। परन्तु भले ही हीन जाति में उत्पन्न व्यक्ति को उच्च सत्ता का स्थान दिया जाए या सम्मान दिया जाए, जात्यनुसार परिणाम निकले बिना कैसे रह सकता है?

परन्तु ऐसा क्यों हुआ? जातहीन और चतुराई रहित मनुष्य उच्च स्थान पर कैसे बैठ गए? इसका समाधान यहां किया गया है: अभ्युदय करने वाले कर्म के उदय से। शुभ कर्म का उदय मनुष्य का अभ्युदय कर देता है! शुभ कर्म का उदय रंक और जाति हीन के भी होता है! बुद्धि रहित को शुभ कर्म सत्ता के सिंहासन पर बिठा देता है।

आज मानो इन हीन जाति वालों, बुद्धिहीन मनुष्यों का सामुदायिक शुभ कर्मों का उदय हो आया है। आज देखने को मिलता है कि हीन जाति वाला 'साहब' बन बैठा है और उत्तम जाति वाला उसे सलाम करता हुआ चपरासी है। बुद्धि और ज्ञान रहित मनुष्य 'बड़ा आदमी' बना है और बुद्धिशाली तथा ज्ञानी पुरुष उसका 'बैग' उठाकर चलता है।

यश, कीर्ति, सौभाग्य, सुस्वर, आदेयता—आदि कर्म उच्च या नीच जाति नहीं देखते। इसी प्रकार अपयश, अपकीर्ति,

दुर्भाग्य, दुस्वर, अनादेयता के लिये उच्च जाति अस्पृश्य नहीं है। आज स्वतंत्र भारत का जो संविधान अस्तित्व में है उस संविधान के वनाने वाले डा० अम्वेडकर कौन थे ? ढेड़ थे। कुछ समय पूर्व कांग्रेस प्रमुख कामराज कौन थे ? ढेड़ जाति के ! भारत के राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसेन मुसलमान थे, जो कि म्लेच्छ कहलाते हैं । भारत के ऐसे उच्च पदों पर हीन जाति के लोग वैठे हुए हैं इसका कारण क्या ? शुभ कर्मों का उदय !

जव कि उच्च जाति के लोगों की कीर्ति मानो लुप्त हो चुकी है सौभाग्य और आदेयता का नामो निशान नहीं रहा। शंकराचार्य जैसे तीस करोड़ हिन्दुओं के धर्म गुरु को सरकार ने जेल में विठा दिया, उनकी गोरक्षा की वात सरकार ने न सुनी, उनका अनादर किया !

यह सव कर्मों का खेल है। इनमें हर्ष-शोक करने की वात नहीं। एक कवि ने कहा है :—

कवहुँक काजी कवहुँक पाजी
कवहुँक हुआ अप भ्राजी
कवहुंक कीर्ति जग में गाजी
सव पुद्गल की वाजी—

कभी तुझे कोई 'काजी' कहते हैं, एक दिन तुझे वे ही लोग 'पाजी' कहेंगे कभी तेरी कीर्ति जगत में फैलती है। यह सव कर्म-पुद्गल का खेल है। आज ऐसे अनेक दृष्टांत देखने में आते हैं। कामराज (कांग्रेस प्रमुख) को कौन नहीं जानता। कुछ समय पूर्व वे समग्र भारत पर छा गए थे, परन्तु आज उन्हें कितने लोग जानते हैं। शुभ कर्मों के उदय की काल मर्यादा पूरी होने तक की देर थी। ऐसे तो कई मनुष्य पृथ्वी के

मालिक बने और धूल में मिल गए । कर्मों की इस अगम कला की थाह केवल ज्ञानी के सिवाय कौन पा सकता है ?

"इन कर्मों की लख लीला में लाखों हैं कंगाल,
चढ़ती, गिरती, हँसती, रोती, टेढ़ी इनकी चाल ।"

विषमा कर्मणः सृष्टिर्दृष्टा करभपृष्ठवत् ।
जात्यादिभूतिवैषम्यात् का रतिस्तत्र योगिनः ।।४।।१६४

श्लोकार्थ

ऊंट की पीठ जैसी कर्म की रचना, जाति आदि की उत्पत्ति की विषमता से समान नहीं ऐसी जानी हुई है, इसमें योगी को क्यों प्रीति होने लगी ?

श्लोकार्थ

ऊंट के, अठारहों टेढ़े ।
कर्मों के अनंत टेढ़े !

सर्वत्र विषमता ! कर्मों से सृजित दुनिया विषमताओं से ही भरी हुई है । कहीं भी समानता नहीं । जाति में विषमता, कुल में विषमता, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, बल, भोग-सभी में विषमता । योगी पुरुष को ऐसी कर्म सृजित दुनिया में प्रीति कैसे हो सकती है ?

❀ विश्व में विषमताओं का दर्शन करो ।

❀ विषमताओं का दर्शन होने के पश्चात् विश्व पर प्रीति नहीं होगी ।

❀ उससे आसक्ति घटेगी ।

❀ उससे हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह के पाप घटेंगे ।

❀ तव मोक्ष की ओर दृष्टि होगी।

❀ कर्मों के वंधन तोड़ने का पुरुषार्थ होगा।

❀ किसी भी जीव के दुःख में आप निमित्त नहीं वनेंगे।

❀ आप योगी वन जाएंगे।

'प्रशमरति' ग्रंथ में भगवान उमास्वातिजी ने कहा है :

जाति, कुल, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, वल और भोगों की विषमता देखकर विद्वानों को (जन्म मरण रूप) संसार में प्रीति क्यों होने लगी ?

यदि आपको आपकी जाति की उच्चता में प्रसन्नता होती है, यदि आपको अपने कुल की महत्ता गाने में आनंद आता है, यदि आपको अपने शरीर के सौन्दर्य में हर्ष होता है, यदि आपको अपने कला-विज्ञान पर गर्व होता है, यदि आपको अपनी आयु पर भरोसा है, यदि आप अपने द्रव्य वल पर, शरीर वल पर, स्वजन वल पर दृढ़ हैं, यदि आपको अपने भोग सुख ललचाते हैं, तो आपने इन सव में रही हुई विषमता देखी नहीं, यह निश्चित हो जाता है। विषमता दीखे वहां रति नहीं होती, खुशी नहीं होती। रति-खुशी जहां होती है वहां विषमता नहीं दीखती।

❀ संसार के विषयों में विषमता नहीं दिखाई देती अर्थात् उनमें आकर्षण पैदा होता है।

❀ फिर अभिलाषा होती है।

❀ फिर रति-आसक्ति होती है।

❀ उन विषयों को प्राप्त करने के प्रयत्न होंगे।

❀ इन प्रयत्नों में पापों का भी आचरण होगा।

❀ विषय प्राप्ति के पश्चात् मन में विषमता भी छाएगी।

इन मानसिक और शारीरिक वेदनाओं के भोग हम न बनें, इसके लिये यहां पूज्य उपाध्यायजी महाराज 'विश्व विषमता' देखने का निर्देश करते हैं।

किसी की जाति की उच्चता या नीचता समान रहती नहीं। किसी के कुल की विशालता या भव्यता समान रहती नहीं। किसी के शरीर का आरोग्य एक सा रहता नहीं। किसी का कला-विज्ञान एक सा टिकता नहीं। किसी की आयुष्य इच्छानुसार रहती नहीं। किसी का बल एक सा टिकता नहीं। किसी को भोग सामग्री एक सी निरन्तर मिलती नहीं। इसका नाम है विषमता।

इस विषमता का जन्म होता है कर्मों के कारण। भगवान ने ऐसा विषमतापूर्ण विश्व पैदा नहीं किया। भगवान ने तो ऐसे विषमता भरे विश्व का दर्शन करवाया है। यह सृष्टि ईश्वर सृजित नहीं परन्तु कर्म सृजित है। जीव स्वयं ही वैसे वैसे कर्मों की अपने आसपास दुनिया की रचना करता है। उन्नति और अवनति, आबादी और बरबादी, उत्थान और पतन सभी कर्म जन्य हैं। सुख और दुःख, शोक और हर्ष, आनंद और विषाद ये सभी केन्द्र कर्मों के ही फल हैं।

विद्वान् पुरुष, योगी पुरुष ऐसी दुनिया में मुग्ध नहीं होता। वह तो इस दुनिया में विषमताओं का दर्शन करता है।

आरूढाः प्रशमश्रेणिश्रुतकेवलिनोऽपि च।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो दुष्टेन कर्मणा ॥५॥ १६५

श्लोकार्थ

उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए और चौदह पूर्वधर भी, आश्चर्य है कि दुष्ट कर्मों के द्वारा अनंत संसार में भटकाए जाते हैं अर्थात् दुष्ट कर्म उन्हें अनन्त संसार में भटकाते हैं।

श्लोक विवेचन

उपशम श्रेणी

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पांचवे, छठे, सातवे यहां.... तक कि ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुंच जाए। जहाँ मोहोन्माद शान्त, प्रशाँत-उपशांत हो जाता है। जैसे जैसे मोह घटता जाता है वैसे वैसे ऊपर ऊपर के गुणस्थानक पर आत्मा पहुंचती-जाती है।

हां, क्षपक श्रेणी वाला तो इस फिसलाने वाले ग्यारहवें गुण स्थानक पर जाता ही नहीं। दसवें से छलांग मारकर बारहवें पर ही पहुंचता है। वहां मोह उपशांत ही नहीं होता, उसका क्षय ही हो जाता है। बारहवें गया हुआ नीचे नहीं गिरता। तेरहवें पहुंचकर वीतराग बनता है-फिर आयुष्य पूर्ण कर चौदवें गुणस्थान में होकर मोक्ष नगर में प्रविष्ट होता है।

परन्तु यह ग्यारहवां गुणस्थानक तो चिकनी फिसलाने वाली सीढ़ी की तरह पक्का। इस ग्यारहवें गुणस्थानक पर मोहनीय कर्म की धाक रहती है। वहां से कोई भी शूरवीर या महावीर ऊपर नहीं जा सकता, वहां कर्म की ही प्रबलता, कर्म की ही विजय और कर्मों का ही सर्वोपरिपन !

भले ही दस पूर्वों का ज्ञान हो। चारित्र्य का उत्तम पालन हो, उछलता वीर्योल्लास हो, परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानक पर आया कि कर्म के पिंजरे में फंसा। फिर अनंतकाल तक संसार में भटकाए ! इसे चौदह पूर्वधर की भी शर्म नहीं। इसे उत्तम संयमी की भी लज्जा नहीं। यह है कर्म की निर्लज्जता !

यहां कर्म की ओर आंखें लाल करके पूज्य उपाध्यायजी कहते हैं : 'दुष्टेन कर्मणा' ! वे जब उपश्रेणी पर चढ़े हुए और

ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुंचे हुए महर्षि को धक्का देकर नीचे गिराते हुए 'कर्म' को देखते हैं, तब उनके अंग अंग में आग लग जाती है-वे कांप उठते हैं-और 'दुष्ट कर्म' बोल उठते हैं। कर्म के बंधनों को तोड़ने के लिये वे चिल्लाने लगते हैं।

कर्मों का अन्तिम मोर्चा 'उपशांतमोह' ग्यारहवें गुणस्थानक पर ही होता है, और यह मोर्चा सदा-सर्वदा-सब के लिये अपराजेय होता है। हां, जो दसवें गुणस्थानक से सीधा बारहवें गुणस्थानक पर कूदकर चले जाते हैं वे इस मोर्चे में फंसते नहीं। 'उपशांत मोह' का अर्थ जानते हो ? आओ एक सामान्य दृष्टान्त से उसे समझें :

पानी से भरा हुआ एक प्याला है, परन्तु वह पानी स्वच्छ नहीं, कचरे से भरा हुआ है। आपको वह पानी पीना है। आपने उसको छान डाला। फिर भी उसमें बारीक रज दिखाई देती है। आप उस गिलास को नीचे रख देंगे। कचरा धीरे धीरे पानी के नीचे बैठता जाएगा। थोड़ी देर धैर्य रखोगे तो कचरा बिल्कुल नीचे बैठ जाएगा और पानी बिल्कुल स्वच्छ हो जाएगा। हां, पानी में कचरा तो है ही, परन्तु उपशांत बना हुआ। इसी प्रकार आत्मा में मोह तो होता है पर बिल्कुल पैंदे बैठा हुआ। आत्मा निर्मल-मोहरहित दिखाई दे ! परन्तु उस गिलास को यदि कोई हिलाए तो ? कचरा ऊपर उठकर पानी को गंदा कर डालता है, उसी प्रकार उपशांत मोहयुक्त आत्मा को यदि कोई हिलाए, कोई छेड़छाड़ कर जाए तो मोह आत्मा में फैल जाता है। आत्मा को मैली कर डालता है, हिलाकर गंदी कर डालता है।

उपशांत मोह में निर्भयता नहीं। हां, मोह क्षीण हो जाए, अर्थात् उस पानी को बिल्कुल कचरे से रहित कर दिया जाए,

तो फिर उस पानी के प्याले को चाहे जितना हिलाओ, कचरा आएगा ही नहीं। मोह का सर्वथा क्षय हो जाने के वाद चिन्ता नहीं। उसे संसार का कोई निमित्त मोहाधीन नहीं कर सकता कर्मों का बस नहीं चलता।

कर्मों की कठोर लीला-क्रूर मजाक कहां तक होती है! बिल्कुल ग्यारहवें गुणस्थानक तक। चौदह पूर्व के ज्ञान वाले श्रुतकेवली भी वहां हार जाते हैं। चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भी प्रमादवश होकर अनंतकाल तक निगोद में निवास करते हैं। कर्मों की ऐसी भयंकरता है। ऐसे कर्मों के विपाकों का चिंतन कर, इन कर्मों के क्षय हेतु कमर कस लेनी चाहिये।

अर्वाक् सर्वाऽपि सामग्री श्रान्तेव परितिष्ठति।
विपाकः कर्मणः कार्यपर्यन्तमनुधावन्ति ॥६॥ १६६

श्लोकार्थ

निकट रही हुई अन्य सभी प्रकार की कारण सामग्री का अन्त आ जाता है, परन्तु कर्म का विपाक कार्य के अन्त तक पीछा करता है।

श्लोक विवेचन

कर्म का विपाक अर्थात् कर्म का परिणाम-फल।

कोई भी कार्य कारण विना नहीं हो सकता; और प्रत्येक कार्य के पीछे पांच कारण काम करते हुए होते हैं:-

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) भवितव्यता
(४) कर्म
(५) पुरुषार्थ

परन्तु इन सब में प्रमुख कारण 'कर्म' है। कर्म का विपाक कार्य के अंत तक पीछा नहीं छोड़ता। अन्य सभी कारण थक जाते हैं। कोई कार्य की भूमिका बाँध देता है। कोई कार्य का श्री गणेश करवाकर रवाना हो जाता है—कोई कार्य के बीच में थक कर वैठ जाता है, परन्तु कर्म नहीं थकता। जहाँ तक कार्य का जन्म होता है, कार्य चलता है और उसका नाश होता है तब तक कर्म तो साथ ही। उसे विश्राम ही नहीं।

जितना भय अन्य कारणों का नहीं उतना भय कर्म का है। कर्म का क्षय होते ही अन्य कारण तो सहज ही दूर हो जाते हैं, इन कारणों को दूर करने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। अन्य कारण तो कर्म का अनुगमन करते हैं।

अतः कर्म के अनुचिंतन में; कर्म का ही क्षय करने का पुरुषार्थ करना है। कर्म का क्षय करने के लिये मनुष्य को कर्म ने ही अनुकूल सामग्री दी है। स्वयं का क्षय करने के लिये स्वयं ही कर्म सामग्री दे रहा है।

★ आपको मनुष्य गति मिली है?
★ आपको आर्य भूमि में जन्म मिला है।
★ आपको शरीर का आरोग्य मिला है।
★ आपकी पांचों इन्द्रियां परिपूर्ण हैं।
★ आपको विचारवान् मन मिला है।
★ आपको सुदेव-गुरु-धर्म का योग प्राप्त हुआ है।

कर्मों का नाश करने के लिये आपको और क्या चाहिये? इससे अधिक सामग्री की आवश्यकता है क्या? क्या कर्मों का नाश करने की भावना भी कर्म ही जगाए-ऐसा चाहते हैं? कर्मों के द्वारा दी हुई सामग्री का सदुपयोग करते तो आता

नहीं और अधिक सामग्री प्राप्त करने की लालसा रखते हैं। आप नहीं जानते कर्म की क्रूरता को ! आपको दी हुई अनुकूल सामग्री का सदुपयोग न किया तो वह आपको दी हुई सामग्री भी छीन लेगा और आपको ऐसी स्थिति में रख देगा कि आप उसके गुलाम मात्र रह जाएँगे।

यदि प्राप्त सामग्री का आप सदुपयोग करेंगे, कर्म आपको उससे भी उच्च सामग्री से पुरस्कृत करेगा। उस सामग्री द्वारा आप कर्मों का नाश कर सकेंगे। क्या आपने ऐसे दृष्टान्त नहीं सुने ?

कर्म आपको प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते अतः उनका नाश भी अप्रत्यक्ष कर्म के द्वारा ही करना होता है। धर्म से कर्म का नाश होता है। धर्म आत्मा का है, परन्तु आत्मा तक पहुँचाने के लिये पाँच इन्द्रियों और मन का सदुपयोग करना पड़ता है। दुनिया के तुच्छ सुखों में इन इन्द्रियों और मन को लगाओ नहीं, तभी आप आत्मा तक पहुँच सकेंगे और आत्म धर्म को प्राप्त कर सकेंगे। आत्म धर्म से कर्म का क्षण में क्षय हो सकता है। जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होता जाएगा वैसे-वैसे अदृश्य धर्म तत्त्व के साथ का संबंध दृढ होता जाएगा।

अतः काल, स्वभाव, भवितव्यता आदि के दोष देखे बिना कर्म का नाश किस प्रकार करना, यही सोचो। यदि कर्म को छोड़कर 'यह काल बुरा है—भवितव्यता अच्छी नहीं'- आदि बहाने ढूँढते रहे तो कर्म चढ़ बैठेंगे। दुःख, अशांति, क्लेश और संताप में सिक जाओगे। अतः धर्म के लिये पुरुषार्थ करो। कर्मों के भय की गंभीरता समझो, प्रमाद को छोड़कर कर्मों का नाश करने के लिये कटिबद्ध हो जाओ।

असावचरमावर्ते धर्मं हरति पश्यतः।
चरमावर्तिसाधोस्तु छलमन्विष्य हृष्यति ॥७॥१६७

श्लोकार्थ

यह कर्म विपाक अन्तिम पुद्गल परावर्त के सिवाय अन्य पुद्गल परावर्त में देखते हुए भी धर्म का हरण करता है, परन्तु चरम पुद्गल परावर्त में वर्तन करते हुए साधु के छिद्रान्वेषण कर प्रसन्न होता है।

श्लोक विवेचन

चरम पुद्गल परावर्त काल!

अ-चरम पुद्गल परावर्त काल!

'पुद्गल परावर्त' किसे कहते हैं, इसके विषय में ज्ञान परिशिष्ट से प्राप्त करें। यहां तो कर्म का काल के साथ, काल के माध्यम से आत्मा के साथ कैसा मेल-वैमनस्य है, यह बताया गया है। जहाँ तक आत्मा अन्तिम पुद्गल परावर्त काल में प्रविष्ट न हुई हो. वहाँ तक कर्म आत्म धर्म समझने नहीं देते। आत्म धर्म स्वीकार करने ही न दे। हां, परमात्मा में मंदिर में जाए, परन्तु परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये नहीं, बल्कि परमात्मा को पास से साँसारिक सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से जाता है। गुरु-महाराज को वंदन करे, भिक्षा दे, उनकी भक्ति करे, परन्तु सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की प्राप्ति के लिये नहीं! परलोक के सुखों की प्राप्ति हेतु। यहाँ तक, कि साधुपन भी ग्रहण कर ले! परन्तु साधुता की आराधना से वह मोक्ष की इच्छा न करे, आत्मा की विशुद्धि न चाहे। वह चाहेगा देव लोक के दिव्य सुख। 'चारित्र्य के पालन से देवलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रों में से सुनकर वह चारित्र्य भी अंगीकार करे! चारित्र्य पालन भी कैसा करे?

निरतिचार ! फिर भी कर्म के बंधनों से मुक्त होने के भाव उसमें पैदा नहीं होंगे। कर्म ऐसे भाव पैदा ही नहीं होने देंगे। वहाँ तो बेचारे जीव को दीन गाय की भाँति जैसे चलाए वैसे चलना ही पड़ेगा।

कर्मों के बंधन में से आत्मा को मुक्त करने का विचार भी अ-चरमावर्त काल में नहीं आता। हाँ, धर्म करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु यह धर्म साधना संसारवृद्धि हेतु ही होती है।

चरमा वर्त काल में आत्म धर्म की समझ आती है। आत्म धर्म की आराधना उपासना भी होती है। हाँ, एक बात है— आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त करने में झूझते मुनि के आसपास कर्म चक्कर लगाते ही रहते हैं, छिद्रान्वेषण के चक्कर में रहते हैं। कोई बिल दिखाई दिया कि कर्म घुस पड़ता है और मुनि के मुक्ति पुरुषार्थ को पंगु बना डालता है। विघ्न खड़े कर देता है। अतः मुनि को कोई छिद्र होने ही नहीं देना चाहिये, कोई पोल रहने नहीं देनी चाहिये।

प्रमाद के छिद्रों में होकर कर्म प्रवेश करते हैं।

निद्रा, विषय, कषाय, विकथा और मद्यपान ये पांच बड़े प्रमाद हैं। मुनि के लिए निद्रा पर संयम रखना आवश्यक होता है। रात के दो प्रहर-छः घंटों तक ही निद्रा लेनी चाहिये, वह भी गाढ निद्रा नहीं। दिन में नींद का त्याग करना पड़ता है। पांचों इन्द्रियों के विषयों में से किसी भी विषय में आसक्ति नहीं की जा सकती। क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों के वश में होना नहीं। विकथाओं में फंसना नहीं। स्त्री-चर्चा साधु नहीं कर सकता। भोजन विषयक बातों से दूर रहना है। देश और राजा-प्रधानों की कपटपूर्ण और दाव-पेच से

युक्त वातों में साधु रुचि न ले। मद्यपान तो साधु कर ही कैसे सकता है? यदि इन पांच प्रमादों से साधु बचकर रहे तो कर्म को प्रवेश का कोई मार्ग ही नहीं मिल सकता। भले ही वह चारों ओर चक्कर काटता फिरे।

तात्पर्य यह है कि मुनि यदि कर्म को मार्ग दे तो कर्म उसे सताता है। मार्ग न दे तो कर्म उसका कुछ भी अहित नहीं कर सकता। मार्ग देना, न देना मुनि पर निर्भर है। प्रमाद के आचरण को भी 'कर्म कृत' मानकर यदि चले, तब तो पतन ही होगा। चरमावर्तकाल में प्रमाद के सेवन में कर्म का हाथ नहीं होता, यह वात समझ लेनी चाहिये। कर्मों की कुटिलता समझे विना यह वात गले उतरे ऐसी नहीं है। अतः कर्म का अनुचिंतन अत्यधिक करना चहिये। कर्म के विपाकों का विचार कम्पित कर डालता है।

साम्यं विभर्ति यः कर्म विपाकं हृदि चिन्तयन्।
स एव स्याच्चिदानन्दमकरन्दमधुव्रतः ॥८॥१६८

श्लोकार्थ

हृदय में कर्म विपाक का चिन्तन करता हुआ जो समभाव को धारण चरता है, वही (योगी) ज्ञानानंद स्वरूप पराग का भोगी भ्रमर होता है।

श्लोक विवेचन

योगीराज! आप भोगी भ्रमर हैं;
ज्ञानानन्द पराग के भोक्ता……!
आपके हृदय में कर्म विपाक का चिंतन
और आपके मुख पर समता का संवेदन!

कर्मों के विपाकों के चिंतन बिना समभाव का वेदन नहीं होता। समभाव के वेदन बिना ज्ञानानन्द का अमृतपान नहीं हो सकता, अर्थात् इस श्लोक में से तीन बातें फलित होती हैं :—

(१) कर्म विपाक का चिंतन।

(२) समभाव।

(३) ज्ञानानंद का अनुभव।

कर्म विपाक के चिंतन में से समभाव प्रकट होना चाहिये, अर्थात् जगत के सभी जीवों के प्रति समत्व प्रकट होना चाहिये। न किसी के प्रति राग, न किसी के प्रति द्वेष। मित्र पर राग नहीं, शत्रु पर द्वेष नहीं। कर्मकृत भावों के प्रति न हर्ष, न शोक। यह कर्म विपाक के चिंतन से ही शक्य हो सकता है।

यदि हमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक होता है, तो हमारा चिंतन कर्म-विपाक चिंतन नहीं-ऐसा मान ही लेना चाहिये। राग-द्वेष होता है, हर्ष-शोक होता है, रति-अरति होती है, उसका कारण कर्म का दोष न देखते, 'मैं कर्म विपाक का चिंतन नहीं करता, इसलिये होता है"—यह समाधान अधिक अच्छा है। कर्म विपाक के चिन्तन बिना राग-द्वेष नहीं घटते। जिन महात्माओं ने मरणांत उपसर्ग होने के समय कोई द्वेष पूर्ण विलाप नहीं किया, तो इसके पीछे क्या था! "उनकी तो पूर्व भवों की आराधना थी"—ऐसा कहकर समाधान करने की हम कैसी भूल कर बैठते हैं! उनका कर्म-विपाक का चिंतन उनकी समता में, समभाव में असाधारण कारण था, यह मानने की आवश्यकता है। यह चिन्तन आत्मसात् हो जाना चाहिये। जीवन में आने वाले प्रसंगों में सदैव 'कर्म-विपाक का विज्ञान उपयोगी बनाया जाए, तो कसौटी के समय समभाव रखना सरल हो सकता है।

समभाव के बिना ज्ञानानन्द कहां से प्रकट हो सकता है ? ज्ञानानंद समभाव में से प्रकट होता है। राग-द्वेष का जहर शांत होने के पश्चात् ही ज्ञान का आनंद, आत्मानद प्रकट होता है। राग द्वेष में से पैदा होने वाला आनन्द विषयानंद होता है, उसे ज्ञानानंद मानने की भूल न कर बैठें। निरन्तर ज्ञानानंद का उपयोग करने के लिये समभाव को अखंडित रखना चाहिये। समभाव को खंडित न होने देने के लिये कर्म-विपाक का चिन्तन सतत रखना चाहिये। कैसा व्यवस्थित क्रम पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने बताया है !

संसार में दिखाई देती विषमताओं का समाधान 'कर्म विपाक' के विज्ञान द्वारा न किया जाय तो ?

तो, संसार के जीवों के प्रति द्वेष होगा, राग होगा। राग और द्वेष में से अनेक अनिष्ट पैदा होंगे । हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि सैंकडों दोष पैदा होंगे—इस में जीवों का जीवन अपने ही हाथों असुरक्षित हो जाएगा। परस्पर शंका, घृणा द्वेष और वैर-विरोध बढ़ जाएँगे। उनसे। विषमताएँ बढ़ती ही जाएँगी ! मोक्ष मार्ग की आराधना तो दूर ही रहने की।

दूर कहाँ जाते हो ? भूतकाल की घटनाओं को भी देखने की आवश्यकता नहीं आज के विश्व में ही दृष्टिपात करो। जो जीव यह कर्म विज्ञान नहीं जानते, उनके जीवन देखो। वे कितने अशांत हैं ? कितने चितातुर हैं ? आत्मा से, परमात्मा से, धर्म से वे कितने दूर जा गिरे हैं।

आप तो मुनिराज हैं। मोक्षमार्ग पर चलकर, कर्मों के बंधन तोड़कर शुद्ध-बुद्ध अवस्था प्राप्त करनी है, उसके लिये

आपको तो यह 'कर्म विज्ञान' खूब पचाना चाहिये । इसके आधार पर समभाव के स्वामी बनना चाहिये—फिर, बस, ज्ञानानंद पराग के भोगी भ्रमर बन जाओगे । वहाँ सम-भाव खंडित होता लगे, फौरन कर्म विपाक के चिन्तन में प्रवेश करना ।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२२. भवोद्वेग

यस्य गम्भीरमध्यस्याज्ञानवज्रमयं तलम् ।
रुद्धा व्यसनशैलाघैः पन्थानो यत्र दुर्गमाः ॥१॥

पाताल कलशा यत्र भृतास्तृष्णामहानिलैः ।
कषायाश्चित्तसंकल्पवेलावृद्धिं वितन्वते ॥२॥

स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धनः सदा ।
यो घोर रोगशोकादिमत्स्य कच्छप संकुलः ॥३॥

दुर्बुद्धिमत्सर द्रोहै विद्युद् वात गर्जितैः ।
यत्र सांयात्रिका लोकाः पतन्त्युत्पातसंकटे ॥४॥

ज्ञानी तस्माद् भवाम्भोधेर्नित्योद्विग्नोऽति दारुणात् ।
तस्य संतरणोपायं सर्वं यत्नेन काङ्क्षति ॥५॥

श्लोकार्थ

(१) गंभीर है मध्य भाग जिसका ऐसा जिसका (संसार समुद्र का) अज्ञान रूपी वज्र से बना हुआ है पेंदा, जहां संकट रूपी पर्वत के समूह से घिरे हुए दुर्गम मार्ग हैं।

(२) जहाँ (संसार समुद्र में) तृष्णारूपी महान् वायु से भरे हुए पाताल कलश रूप चार कषाय (क्रोधादि) मन के संकल्प रूपी ज्वार को बढ़ाते हैं।

(३) जहां मध्य में सदा स्नेह रूपी ईंधन वाला कामरूपी वडवानल जलता है और जो भयंकर रोग-शोकादि रूपी मछलियां और कछुओं से भरा हुआ है।

(४) दुर्बुद्धि, मत्सर और द्रोहरूपी विजली, आंधी और गर्जना द्वारा जहां समुद्री यात्री तूफान रूपी संकट में फंसते हैं।

(५) उस भयंकर संसार समुद्र से सदा भयभीत बने हुए ज्ञानी पुरुष उसे पार करने के उपाय सर्व प्रयत्नों से चाहते हैं।

श्लोक विवेचन

संसार !

जिस संसार पर अनेक जीव मोहित हैं, वह संसार कैसा है ? मोक्ष दशा को प्राप्त की हुई आत्माएं इस संसार को कैसा देख रहे हैं ? इस संसार को आप देखो, उद्वेग पैदा हो जाएगा। अप्रीति हो जाएगी ! और यही करना है न ? संसार की आसक्ति-संसार की प्रीति टूटे विना शाश्वत्-अनंत, अव्यावाध सुख मिल ही नहीं सकता ! यहां संसार का जो वास्तविक यथार्थ रूप वताया है, उसे देखो।

संसार को समुद्र समझो।

(१) संसार–समुद्र का मध्यभाग अगाध है।

(२) संसार–समुद्र का पेंदा अज्ञानता रूपी वज्र से बना हुआ है।

(३) संसार–समुद्र में संकटों के पर्वत छाए हुए हैं।

(४) संसार–समुद्र के मार्ग विषम-विकट हैं।

(५) संसार–समुद्र में विषयाभिलाषा की महान् वायु फूंकी जा रही है।

(६) संसार–समुद्र में क्रोधादि कषायों के पाताल क्लेश हैं।

(७) संसार–समुद्र में मन के विकल्पों का ज्वार आता है।

(८) संसार–समुद्र में राग के ईंधन (पानी) वाला कंदर्प का दावानल सुलग रहा है।

(९) संसार–समुद्र में रोग की मछलियां और शोक के कछुए रहते हैं।

(१०) संसार–समुद्र पर दुर्बुद्धि की बिजली चमकती है।

(११) संसार–समुद्र पर मत्सर की आंधियां आती हैं।

(१२) संसार–समुद्र में द्रोह की भयंकर गर्जनाएं होती हैं।

(१३) संसार–समुद्र में यात्री संकट में फंसते हैं।

(१४) अतः संसार समुद्र दारुण है।

संसार-समुद्रः—

'संसार सचमुच ही तूफानी सागर है,' इस विचार को हृदय में खूब पोषण मिलना चाहिये। सागर में रहा हुआ मुसाफिर सागर को पार करने का ही प्रयत्न करता है उसमें सैर-सपाटे करने की इच्छा नहीं करता। इसमें भी तूफानी सागर को तो और भी वेग से पार करना चाहता है! 'मुझे संसार समुद्र से पार उतरना है' ऐसा संकल्प करना ही पड़ता है।

मध्य भागः—

समुद्र का मध्य भाग अगाध होता है न? इसके पेंदे का खोजने पर भी पता नहीं चलता। संसार का मध्य भाग है युवावस्था। यह अवस्था अगाध है। इसकी कोई थाह नहीं पा सकता। मनुष्य की युवावस्था की अगाधता को सूर्य की किरणें भी भेद नहीं सकतीं। जान पर खेलने वाले भी अगाधता में खो जाते हैं। ढूंढने पर भी मिलते नहीं।

पेंदा:—

इस संसार समुद्र का पदा कीचड़-पत्थर या मिट्टी का बना हुआ नहीं, पर वज्र का बना हुआ है। अज्ञानता वज्र के समान है। अज्ञानता की नींव पर सारा संसार टिका हुआ है। अर्थात् संसार का मूल है अज्ञानता।

पर्वत:—

समुद्र में स्थल स्थल पर पानी में डूबे हुए, पानी में आधे डूबे हुए पर्वत होते हैं। समुद्री यात्री इन पर्वतों से सावधान रहते हैं। संसार समुद्र में तो ऐसे पर्वतों की श्रृंखलाएं होती हैं। संकटों की श्रेणियां आपने नहीं देखी? एक-दो पर्वत नहीं, परन्तु श्रृंखलाएं। अरावली के पहाड़ों की श्रृंखलाएं आपने देखी हैं? सह्याद्रि की श्रेणियां आपने देखी हैं। इनसे भी दुर्गम इन संकटों की श्रेणियां संसार-समुद्र में फैली हुई हैं। कई स्थानों पर तो ये पानी में डूबी हुई होती हैं। यदि आप ध्यान न रखें तो जहाज इन पर्वतों के साथ टकरा जाए और चूर चूर हो जाए।

मार्ग:—

ऐसे संसार समुद्र का मार्ग सरल हो सकता है क्या? कितना विकट-विषम और दुर्गम मार्ग! ऐसे मार्ग पर कितनी सावधानी, कितनी समझ और कितनी होशियारी से चलना चाहिये? जरा भी असावधानी, आलस्य, निद्रा या विनोद चल सकता है भला? किसी अनुभवी मार्गदर्शक का अनुसरण करना पड़े न? अनुभवी मार्गदर्शक पर विश्वास करना पड़े या नहीं?

महावायु:—

तृष्णा-पांचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा की प्रचंड वायु इस महासागर में वह रही है कितनी तृष्णा! तृष्णा से

जीव कितने भटक रहे हैं ! तृष्णा से-विषय सुखों की वासना से जीव कैसे पिस रहे हैं। जानते तो यह महावायु कहां से प्रकट होती है ? पाताल कलशों में से !

पाताल कलश:—

इस संसार सागर में चार पाताल कलश हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कलशों में से वह महावायु निकलती है और समुद्र में तूफान पैदा करती है।

ज्वार :—

मन के विकल्पों का ज्वार आता है इस संसार सागर में ! कषायों में से विषय तृष्णा जागृत होती है और विषय तृष्णा में से मानसिक विकल्प पैदा होते हैं। मानसिक विकल्पों का ज्वार कितने गजब का होता है ! सारा सागर हिलोरों पर चढ़ा हुआ दिखाई देता है ! समुद्र में तो पूनम जैसे दिनों में ही ज्वार आता है, परन्तु संसार सागर में तो निरंतर ज्वार आता ही रहता है। इस ज्वार में ऊधम मचाता हुआ सागर आपने कभी देखा है क्या ? अब मानसिक विकल्पों का ज्वार देखना ! उससे घबरा जाओगे।

वडवानल :—

कैसा दारुण वडवानल सुलग रहा है····!

कंदर्प के वड़वानल में संसार समुद्र का कौन सा मुसाफिर नहीं फँसा। कौन इस वड़वानल की ज्वालाओं से बच सका है ? इस वड़वानल में राग के इंधन फेंके जाते रहते हैं ! राग के इंधन से सदैव वड़वानल जलता रहता है।

वास्तव में, कंदर्प का वड़वानल आश्चर्यजनक है ! दावानल में जीव निर्भय होकर कूद पड़ते हैं ! जलने पर भी वे

वड़वानल में से बाहर नहीं निकलते। इतना ही क्यों ? राग के इंधन डाल-डाल कर वे वड़वानल को अधिक प्रदीप्त करते रहते हैं। कंदर्प अर्थात् काम वासना। कंदर्प अर्थात् संभोग की वासना। पुरुष स्त्रियों के संभोग की वासना में सुलगते हैं और स्त्रियां पुरुषों के संभोग की वासना में सुलगती हैं। नपुंसक स्त्री-पुरुष दोनों के भोग की अभिलाषा में सुलगते हैं। यह संसार सागर का वड़वानल वास्तव में सर्व भक्षी है। संसार में रहे हुए अधिकांश मुसाफिर इस वड़वानल में फंसे हुए दीखते हैं, जबकि अधिकतर मुसाफिर इस वड़वानल की तरफ तीव्र गति से दौड़ते हुए दिखाई देते हैं।

मछलियां और कछुए :

संसार समुद्र में वड़े-वड़े मगरमच्छ और मछलियां भी हैं। रोग-छोटे बड़े, साध्य-असाध्य, रोगों की मछलियां भी यात्रियों को परेशान करते हैं। कोई-कोई तो मगरमच्छ के चौड़े जबड़े में पूरे-पूरे उतरते दिखाई देते हैं—तो कोई इन मच्छों की पकड़ में फसे हुए दिखाई देते हैं। इन मच्छों—रोगों से यात्री डरते हैं।

शोक-कछुए भी संसार सागर में पड़े हुए हैं। वे भी यात्रियों को कम हैरान नहीं करते।

विजली :—

जरा आकाश की ओर देखो। विजलियों की गर्जनाएँ हो रही हैं। कैसी ये चमकती हैं ? कितनी निकट आ जाती है ? दुर्बुद्धि-गजव की बिजली है····हिंसा की वुद्धि, झूठ-चोरी की वुद्धि, दुराचार-व्यभिचार की वुद्धि, माया—लोभ की वुद्धि—इन सभी विजलियों की चमक में जीव चकाचौंध हो जाता है।

आंधी :

मत्सर की आंधियां कैसी आती हैं? गुणवान् पुरुषों पर रोष, उसका नाम मत्सर। संसार समुद्र पर ऐसी आंधियां आती रहती हैं। देखी नहीं आपने? नित्य की इन आंधियों में आप अभ्यस्त हो गए हैं अतः शायद इनकी भयंकरता आपकी समझ में न आए—परन्तु गुणवान् पुरुषों के प्रति क्रोध नहीं आता? उस समय मन में कैसे झंझावात पैदा होते हैं? इन आंधियों में जो फंसा, उसका गुण—धन उड़ जाता है। गुणों से वह दूर-दूर हटता जाता है।

गर्जना :—

द्रोह की गर्जनाएँ संसार समुद्र में निरंतर सुनाई देती रहती हैं। पिता पुत्र का द्रोह करता है, पुत्र पिता का द्रोह करता है। प्रजा राजा का द्रोह करती है, राजा—प्रजा का द्रोह करता है। पत्नी पति का द्रोह करती है, पति-पत्नी का द्रोह करता है। शिष्य गुरु का द्रोह करता है, गुरु शिष्य का द्रोह करता है। चारों ओर द्रोह की भीषण गर्जनाएँ हो रही हैं। अविश्वास और शंकाओं के वातावरण में संसार सागर के मुसाफिर व्याकुल हो रहे हैं।

समुद्री यात्री :—

संसार सागर में अनंत आत्माएँ रही हुई हैं, परन्तु सागर की सतह पर जहाजों में माल लादकर यात्रा करने वाले तो मात्र मनुष्य ही हैं। ये समुद्री यात्री वेचारे संसार सागर की भीषणता में पिसे जाते है। संकट में फंसे हुए है। उनमें से अधिकांश यात्री तो पर्वतों के साथ टकरा कर समुद्र के पेंदे में समाधि ले लेते हैं। कई आगे बढ़ते हैं तो मध्य भाग में आए हुए वडवानल में जल कर राख हो जाते हैं। कुछ पर विजली

गिर पड़ती है—कई आंधी में अपना सर्वस्व खो बैठते हैं। बहुत की कम जीव, जिन्हें इस भयंकर भवसागर का यथार्थ ज्ञान है और जो इन ज्ञानी जनों का अनुसरण करते हैं, वे ही इस भव सागर से पार उतर पाते हैं।

ज्ञानी पुरुष इन संसार सागर को अति दारुण समझते हैं। इसलिये जहां तक वे इस संसार सागर में होते हैं तब तक बड़े ही उद्विग्न रहते हैं! संसार सागर के किसी भी सुख में वे मुग्ध नहीं होते। उनका तो एक ही लक्ष्य-शीघ्र भव सागर से पार उतरना। उनका सारा प्रयत्न भव सागर से पार उतरने का होता है। मन, वचन और काया से वे संतरण हेतु ही प्रयत्न-शील होते हैं।

इतना आत्म साक्षी से तो सोचो। भव सागर में ठहरने योग्य, रहने योग्य क्या है? कही भी सरल मार्ग है क्या? कहीं भी निर्भयता है? कहीं भी अशान्ति रहित सुख है? फिर किस प्रकार संसार सागर में रहने का विचार होता है? जहाँ स्वस्थता नहीं, प्रसन्नता नहीं, शान्ति से श्वास लेना कठिन है, निर्भयता का वातावरण नहीं, वहाँ रहने का विचार भी कम्पित कर डालता है। जिस समय हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ तब पाकिस्तान में रहे हुए हिन्दुओं का जीवन कैसा था? लाखों हिन्दू वहां से हिन्दुस्तान में भाग आए। घर, बंगले, हवेलियां-सब वहीं छोड़कर भाग आए। लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति को छोड़कर भाग आए। स्त्री-पुरुष, परिवार की परवाह किए बिना चले आए। उन्हें वहां निर्भयता न लगी। शान्ति का श्वास लेने की भी आशा न रही। जीवन खतरे में लगा—और वे भाग आए।

भव सागर से भाग छूटने की तमन्ना जागृत हो जाय, फिर माया-ममता के बंधन काटना आसान हो जाएगा। इसीलिये यहां भवसागर की भीषणता बताई गई है, उसे शांत और एकांत स्थान में एकाग्र बनकर सोचना, नित्य प्रतिदिन सोचना। जब आत्मा में भव सागर का भय पैदा हो जाएगा, तब उसे पार करने के लिये आप मन, वचन और काया से तैयार हो जाएँगे और तब आपको कोई नहीं रोक सकेगा।

तैलपात्रधरो यद्वत् राधावेधोद्यतो यथा।
क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद् भवभीतस्तथामुनिः ।।६।।

श्लोकार्थ

जैसे तेल के पात्र को धारण करने वाला, और जैसे राधा-वेध साधने में तत्पर-उस क्रिया में अनन्य चित्त वाला होता है, उसी प्रकार संसार से भय प्राप्त साधु चारित्र्य क्रिया में एकाग्र-चित्त वाला होता है।

श्लोक विवेचन

वह मानता था कि 'मन कभी भी वश में नहीं होता'।

बस 'मन की चंचलता का वर्णन करता हुआ वह नगर में भ्रमण करता है। सब के साथ विवाद करता है। साधुओं से भी चर्चा करता है। मन की स्थिरता को वह मानता ही नहीं।

राजा को पता चला।

राजा तत्त्वज्ञानी था। मन को वश में करने के उपाय जानता था। उसको शिक्षा देने का निश्चय किया।

एक दिन वह राजा के चक्कर में आ गया। राजा ने उसे फाँसी की सजा दी।

अस्थियाँ सिहर उठीं। मृत्यु की कल्पना ने उसे कम्पित कर दिया। वह राजा के पांव पकड़ कर रोने लगा "मुझे फांसी न लगाओ"। राजा ने कहा: अपराधी को दंड देना मेरा कर्तव्य है।

उसने कहा: राजा सजा करता है वैसे ही क्षमा भी करता है।

राजा ने दया दिखाते हुए कहा : एक शर्त मानता हो तो सजा माफ कर दूं।

उसने स्वीकार किया।

राजा ने कहा-तेल से भरा हुआ-पूरा भरा हुआ पात्र लेकर सभी बाजारों में घूमकर यहाँ आना होगा। तेल की एक बूंद भी गिरनी न चाहिये। यदि बूंद गिरेगी तो फांसी माफ नहीं होगी। बोलो है स्वीकार ?

उसने सहमति प्रकट की। राजा के निरीक्षकों के साथ वह घर गया। राजा ने बाजार में स्थान २ पर नाटकों का आयोजन करवा दिया। सभी दुकानदारों को दुकानें सजाने की आज्ञा दी। यत्र तत्र सर्वत्र सुन्दर वस्त्रधारी रूपसी स्त्रियां खड़ी कर दीं।

वह व्यक्ति तेल से लबालब पात्र लेकर घर से निकला।

निरीक्षक साथ ही चले।

बाजारों में से गुजरता है, परन्तु वह तेल वाला व्यक्ति कहीं भी आड़ा-टेढ़ा देखता नहीं। दुकानों की शोभा देखने में उसका मन दौड़ता नहीं। नाटक देखने में उसका मन लालायित नहीं होता। स्त्रियों के रूप देखने में उसका मन ललचाता नहीं। उसकी दृष्टि तो अपने तेल-पात्र पर ही है।

सभी बाजारों में घूमकर वह राजमहल में आया।

राजा ने पूछाः तेल की बूंदें रास्ते में गिरीं?

'नहीं'।

निरीक्षकों ने साक्षी दी कि एक भी बूँद न गिरी।

राजा बोलाः यह हो ही नहीं सकता। मन चंचल है, वह इधर उधर देखे बिना रहता नहीं और इधर उधर देखा कि तेल-पात्र छलके बिना रहे नहीं।

वह कहता हैः राजन्! सच कहता हूं मेरा मन तेल-पात्र के सिवाय कहीं भी नहीं गया—कोई भी दूसरा विचार मन में प्रविष्ट नहीं हुआ।

'तो क्या मन एक वस्तु में एकाग्र रह सकता है?'

'हां नाथ! सिर पर फांसी का भय मंडराता हो, फिर एकाग्र क्यों नहीं रह सकता'?

'तो फिर जो साधु पुरुष, साधक-निरन्तर मृत्यु के भय को सामने देखते हों उनका मन चारित्र्य में स्थिर रहेगा या नहीं?'

वह तब से मन की स्थिरता का उपाय समझ गया। संसार के अनंत जन्म-मरण के भय से मुनि अपनी चारित्र्य क्रियाओं में एकाग्र चित्त वाला होता है। संसार का भय चाहिये।

राधावेध करने वाला कैसी एकाग्रता साधता है? नीचे कुंड में देखना, ऊपर खंभे के शिखर पर पुतली फिरती है, उसकी छाया पानी में गिरती है, उस छाया को देखकर ऊपर रही हुई पुतली की एक आंख बींधना है। पुतली भी फिरती हुई। कैसी एकाग्रता चाहिये। राजकन्याओं के साथ शादी करने की उत्कंठा

वाला वीर पुरुष पूर्वकाल में ऐसे राधावेध करता था। श्री जिनेश्वर-अरिहंत परमात्मा ने शिव सुंदरी का वरण करने हेतु ऐसी एकाग्रता का आराधना में पोषण करने का उपदेश दिया है। एकाग्र बने विना संयम आत्मसात् नहीं होता।

विषं विषस्य वह्नेश्च वह्निरेव यदौषधम्।
तत्सत्यं भवभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भीः ॥७॥

श्लोकार्थ

विष की औषधि विष है और अग्नि की औषधि अग्नि है, यह सच्ची वात है। संसार से भयभीत व्यक्ति को उपसर्ग होने पर भी भय नहीं होता।

श्लोक विवेचन

यह कहावत सच्ची है।

'विष की औषधि विष, अग्नि की औषधि अग्नि।'

विष अर्थात् जहर। जहर का भय दूर करने के लिये जहर की दवा देने में भय नहीं लगता। उसी प्रकार अग्नि का भय दूर करने के लिये अग्नि की औषधि देने में भय नहीं लगता; तो फिर संसार का भय दूर करने के लिये उपसर्गों की औषधि का सेवन करने में भय क्यों लगने लगा?

अर्थात् धीर, वीर मुनि भगवन् उपसर्गों का सामना करने के लिये आगे बढ़ते हैं। भगवान महावीर श्रमण अवस्था में उपसर्गों को सहन करने के लिये अनार्य देश में गये थे। उन्हें कर्मों का भय दूर करना था। शिकारी कुत्तों के उपसर्ग सहन किये। अनार्य पुरुषों के प्रहार सहन किये। ऐसे तो कई उपसर्ग उन्होंने सहन किये पर भयभीत नहीं हुए। औषधि के सेवन में भय किस बात का?

रोग का भय दूर करने के लिये लोग क्या बम्बई कलकत्ता नहीं जाते ? वहां डाक्टर आपरेशन करते हैं ,चाकू से पेट चीरते हैं, पाँव काटते हैं. आंखे खोल डालते हैं फिर भी दर्दी को भय नहीं लगता। आगे बढ़कर शरीर में चीरा लगवाता है क्योंकि उसमें उसे रोग का निवारण लगता है।

फिर खंधक मुनि अपने शरीर पर से चमड़ी उतारते राज सेवकों पर रोष किस बात का करें ? उन्हें तो वह आपरेशन लगा। इस आपरेशन से उन्हें भय का निवारण लगा॥

अवंति सुकुमाल ने शरीर को सियारनी के हाथों तथा मुंह से चवाया जाने दिया, सियारनी को शरीर का मांस खाने दिया, रक्त पीने दिया·······मेतारज मुनि ने सोनी को चमड़े की सिगड़ी अपने सिर पर वांधने दिया क्योंकि यह भय उनके संसार का भय का निवारण करता था।

भगवान महावीर ने ग्वाले को अपने कानों में कीलें ठोकने दिया, संगम को काल चक्र छोड़ने दिया·······पांवों में खीर पकाने दिया क्योंकि यह भय उनके भव रोग के भय का नाश करता था।

भगवान ने मुनियों को उपसर्ग सहन करने का उपदेश दिया वह क्यों ? मुनि जिस संसार भय को दूर करने के लिए साधना करते हैं उस संसार भय का उपसर्गों में आपरेशन हो जाय। संसार भय दूर हो जाता है। आपरेशन करने वाले डाक्टर पर दर्दी को क्रोध नहीं आता। वह तो उसे उपकारी लगता है। इसीलिए खंधक मुनि को राज सेवक उपकारी लगे·········· अवंतिसुकुमाल को सियारनी उपकारी लगी और मेतारज मुनि को सोनी उपकारी लगा।

हां, यदि आपरेशन कर्ता डाक्टर दर्दी को दुष्ट लगे, अनुपकारी लगे और वह चीखने चिल्लाने लगे तो आपरेशन बिगड़ जाता है। उसी प्रकार उपसर्ग के समय यदि उपसर्ग कर्ता दुष्ट लगे तो मन की समता टूट जाती है और संसार का भय बढ़ जाता है। खंधक सूरी जी को पालक 'डाक्टर' न लगा परन्तु दुष्ट पुरुष लगा तो संसार का भय दूर नहीं हुआ। उनके शिष्यों के लिए 'पालक' सहायक बन गया।

उपसर्ग समता भाव से सहन करने होते हैं। उससे भवरोग फौरन दूर होता है। इरादापूर्वक उपसर्ग हमें सहन न करने चाहिये परन्तु सिर पर आये हुए उपसर्ग सहर्ष समतापूर्वक सहन कर लें तो भी काम हो जाता है।

छोटा सा बच्चा ऑपरेशन हॉल में जाते हुए डरता है। हाथ में छुरी लेकर खड़े हुए बुर्खेधारी डाक्टरों को देखकर चीख उठता है, कारण? उसे अपने रोग की भयंकरता समझ में नहीं आती। वह डाक्टर को रोग निवारक नहीं समझता। इसी प्रकार जो जीव बालक जैसी अविकसित बुद्धि वाले होते हैं, वे उपसर्ग की परछाई मात्र देखने से ही चीख उठते हैं। उपसर्ग की उपकारिता को वे समझ नहीं सकते।

तात्पर्य यह है कि उपसर्ग सहर्ष सहन करने चाहियें। उसी से भव का भय दूर होगा।

स्थैर्यं भवभयादेव व्यवहारे मुनिर्व्रजेत्।
स्वात्मारामसमाधौ तु तदान्तर्निमज्जति ॥८॥

श्लोकार्थ

व्यवहार नय से संसार के भय से साधु स्थिरता को पाता है, परन्तु अपनी आत्मा की रतिरूप समाधि में तो भय भी अन्दर ही विलीन हो जाता है।

श्लोक विवेचन

संसार का भय।

क्या संसार का भय मुनि को रखना चाहिये ?

वह भय मुनि की चारित्र्य स्थिरता में कारण है क्या ?

हां, चार गति के परिभ्रमण रूप संसार का भय मुनि को चाहिये। तभी वह चारित्र्य में स्थिर वन सकता है। "मुझे संसार की नरक, तिर्यंच आदि गतियों में भटकना पड़ेगा, यदि मैं चारित्र्य की आराधना में प्रमादी हुआ तो" यह विचार मुनि के मस्तिष्क में घूमना चाहिये। यह विचार उसे—

- ★ इच्छाकारादि[1] सामाचारी में अप्रमत्त रखता है।
- ★ क्षमादि[2] दसविध यतिधर्म में उत्साही रखता है।
- ★ [3]निर्दोष भिक्षाचर्या में जाग्रत रखता है।
- ★ महाव्रतों के पालन में अतिचार मुक्त वनाता है।
- ★ समिति गुप्ति के पालन में उपयोगशील वनाता है।
- ★ आत्म रक्षा, संयम रक्षा और प्रवचन रक्षा में उद्यमी वनाता है।

संसार के भय से प्राप्त होती संयमपालन की अप्रमत्तता उपादेय है। "मुझे संसार में भटकना पड़ेगा"—ऐसा भय आर्तध्यान नहीं परन्तु धर्म ध्यान है।

हां, जब मुनि आत्मा की निर्विकल्प समाधि में लीन होता है, तब वह संसार भय उस समाधि में अपने अस्तित्व को विलीन कर डालता है, अलग अस्तित्व नहीं रखता। वह मोक्ष और संसार में निस्पृह होता है—मोक्ष प्राप्ति का विचार नहीं ...... संसारभय की व्याकुलता नहीं।

१, २, ३ देखें परिशिष्ट।

'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः'

जब ऐसी आत्म समाधि—निर्विकल्प—किसी प्रकार का मानसिक विचार नहीं, प्राप्त होती है तब संसार का भय नहीं रहता; ऐसी आत्मदशा प्राप्त न हो तब तक संसार का भय होना ही चाहिये। मुनि को भी यह भय रखना चाहिये।

मुनि ने मुनिपन ग्रहण किया, इतने मात्र से उसने दुर्गति पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा मुनि को नहीं मानना चाहिये, असावधान न होना चाहिये। यदि मुनि भवभ्रमण के भय को छोड़ दे तो

★ शास्त्र स्वाध्याय में प्रमाद करेगा।

★ विकथाओं (स्त्री–भोजन–देश–राजकथा) में फंस जायेगा।

★ दोषयुक्त भिक्षा लाएगा।

★ कदम २ पर रागद्वेष करेगा।

★ महाव्रतों के पालन में अतिचार लगाएगा।

★ समिति-गुप्ति का पालन नहीं करेगा।

★ मान-सम्मान और कीर्ति की चाह में पड़ेगा।

★ जन रंजन हेतु प्रयत्न करेगा।

★ संयम क्रियाओं में शिथिल बनेगा।

अनेक अनिष्टों का भोग बनकर भव के भीषण भय में जा गिरेगा। अतः भव का भय दुर्गति पतन का भय मुनि को रखना ही चाहिये।

यहां तो पूज्य उपाध्यायजी ने संसार को समुद्र की ही एक उपमा दी है, परन्तु 'अध्यात्मसार' में तो उन्होंने संसार को

अनेक उपमाएं दी हैं। संसार वन है, कारावास है, श्मशान है, कुंआ है, आदि। भवस्वरूप का चिंतन इस प्रकार अनेक तरह से करने का वे कहते हैं। भव की असारता समझाए विना भव के वैषयिक सुखों की आसक्ति नहीं टूटती, भव का राग टूटे विना भव के वन्धन तोड़ने का महान् पुरुषार्थ नहीं होता।

परन्तु उसके लिए भवस्वरूप के चिंतन में डूब जाना पड़ता है। तन्मय वन जाना पड़ता है। भवसागर के तट पर जाकर इस सागर की भयंकरता को देखना। भव श्मशान के एक कोने में खड़े रहकर इस श्मशान की रौद्रता को देखना। भव कारागार की सींकचों के पास खड़े रहकर कारागार की वेदनाओं को देखना। भव कूप के तट पर खड़े रहकर कुंए की भयानकता देखना। आप चीख उठेंगे। आपके अंग २ से पसीना छूट पड़ेगा। आप थर-थर कांप उठेंगे। 'ओ अरिहंत····ओ वीतराग···' करते २ इन अनंत कृपानिधि की शरण में जाएंगे।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२३. लोकसंज्ञा त्याग

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ।
लोके संज्ञारतो न स्यान्मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥१॥

श्लोकार्थ

संसार रूपी विषम पर्वत का उलंघन है जिसमें ऐसे छठे गुणस्थानक को प्राप्त हुआ, लोकोत्तर मार्ग में स्थिति जिसकी है ऐसा साधु लोकसंज्ञा में प्रीति वाला नहीं होता ।

श्लोक विवेचन

मुनिराज ! आप कौन हैं ?

यदि आप अपने व्यक्तित्व को सम्हालेंगे तो फिर 'लोकसंज्ञा' में आपको प्रीति नहीं होगी । देखिये ! यहां आपकी उच्च आत्म-स्थिति बताई गई है ।

(१) आप छठे गुण स्थानक में हैं ।

(२) लोकोत्तर मार्ग में रहे हुए हैं ।

'मैं छठे गुणस्थानक में रहा हुआ हूँ'—यह बात सदैव स्मृतिपट पर अंकित रहनी चाहिये । मैंने प्रथम पांच गुण-स्थानक पार कर लिये हैं अतः अब मैं कुदेव–कुगुरु–कुधर्म की

ओर श्रद्धा की दृष्टि से देख भी नहीं सकता; मैं दही-दूध भी नहीं हो सकता—मैं मिश्रगुणस्थानक में नहीं। जिनोक्त तत्त्व ही सच्चे—ऐसी मेरी दृढ़ मान्यता होनी चाहिये। मैं गृहस्थ नहीं—अर्थात् गृहस्थ जैसा मेरा आचरण नहीं होना चाहिए। मैं अणुव्रती नहीं परन्तु महाव्रती हूँ। बारह व्रतधारी श्रावक भी पापों को त्रिविध-त्रिविध रूप से त्याग कर सकता नहीं, जबकि मैंने सभी पापों को त्रिविध-त्रिविध रूप से (मन-वचन-काया से करना-करवाना और अनुमोदन करना) त्याग दिया है। मेरे लिये ऐसे महात्माओं का संपर्क ही हितकारी है जिन्होंने मेरी तरह सभी पापों का त्रिविध २ रूप से त्याग कर दिया है। पापों के त्याग के साथ मैंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य की आराधना करने की देव-गुरु और संघ की साक्षी में आत्मा की अनुभूति से प्रतिज्ञा की है अतः मुझे ऐसी ही आत्माओं का सहवास पसन्द करना चाहिए जो कि सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की आराधना में ओतप्रोत हो'।

महामुनि आपको इस प्रकार सोचना चाहिये, तभी आप लोग पापों में आसक्त और मिथ्या कल्पनाओं में मस्त जीवों के सहवास से, परिचय से और उन्हें खुश रखने की वृत्ति से बचेंगे।

'मैं लोकमार्ग में रहा हुआ नहीं, मैं तो लोकोत्तर मार्ग पर चल रहा हूँ। लोक का मार्ग भिन्न, लोकोत्तर जिन मार्ग भिन्न। लोक मार्ग मिथ्या धारणाओं पर चलता है। लोकोत्तर मार्ग केवलज्ञानी वीतराग भगवन् का बताया हुआ निर्भय मार्ग है। लोकोत्तर मार्ग को छोड़कर मुझे लौकिक मार्ग पर नहीं जाना चाहिए। मेरा लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। लौकिक

मार्ग में रहे हुओं के साथ मेरे सभी सम्बन्धों का मैंने विच्छेद किया है। उनके सहवास में आना नहीं। वे कहें वैसे मुझे करना नहीं। उनके आदर्श, उनकी कल्पनाएँ, उनकी मान्यताएं भिन्न, मेरे आदर्श भिन्न, मेरी कल्पना सृष्टि भिन्न, मेरी मान्यताएँ भिन्न, मैं जिनमार्ग का अनुसरण करूँगा, लोकमार्ग का नहीं। प्रत्येक प्रसंग या घटना में मैं जिनेश्वर को ही खुश करने का प्रयत्न करूँगा, लोक को खुश करने का नहीं। लोगों को खुश करने का मेरा कोई प्रयोजन भी तो नहीं।

'संसार के विषम पहाड़ को पार कर मैं छठे गुणस्थानक पर पहुंच गया हूँ। मैं लोकोत्तर मार्ग में रहा हुआ हूँ, मुझ से लोक संज्ञा में प्रीति कैसे की जाए? लोकसंज्ञा में पुनः इस संसार के विषम पर्वत पर चढ़ना होता है। अनेक मानसिक विषमताएँ इस लोकमार्ग में आँधी की भांति घेर डालती हैं। मैं तो लोकोत्तर मार्ग के आदर्शों का अनुकरण करूँगा। अपने मन–वचन--और अपनी काया को इन आदर्शों के पीछे खर्च कर डालूंगा। लोगों की तरफ देखने का मेरा कोई प्रयोजन ही नहीं। लोग वैषयिक सुखों में मस्त होते हैं, मुझे तो पूर्ण निष्काम बनना है। लोग जड़ संपत्ति के वैभव से अपनी महत्ता आंकते हैं, मुझे तो अंतरंगज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की संपत्ति से, आत्मा की उन्नति करनी है। लोग बहिर्दृष्टि हैं, मुझे तो ज्ञानदृष्टि का विकास साधना है। लोग अज्ञान की ओर दौड़े जा रहे हैं, मुझे केवलज्ञान की ओर आगे बढ़ना है। लोगों के साथ मेरा मेल ही कहाँ से बैठ सकता है? अतः मैं तो अपना छठा गुणस्थानक अधिक स्थिर करूँगा। हाँ, सातवें, आठवें···· आगे से आगे के गुणस्थानकों तक पहुंचने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु पीछे हटने की मेरी इच्छा नहीं। लोकसंज्ञा में मैं अपना पतन होने नहीं दूंगा।'

यथा चिन्तामणिं दत्ते वठरो वदरीफलैः ।
हहा जहाति सद्धर्मं तथैव जनरञ्जनैः ।।२।।

श्लोकार्थ

जैसे मूर्ख वेर के मूल्य में चिन्तामणि रत्न देता है, उसी प्रकार मूर्ख अरे ! लोकरंजन करके सद्धर्म का त्याग करता है ।

श्लोक विवेचन

एक मूर्ख था ग्वाला ।

जंगल में नित्य ढोर चराने जाता था ।

एक दिन उसे चिंतामणि रत्न मिल गया, उसे यह पत्थर वहुत प्रिय लगा । उसने अपनी बकरी के गले में उसे बांध दिया । सायं ढोर चराकर ग्वाला गांव में लौटा । गांव के किनारे वेर विकते थे । बेर देखकर ग्वाले के मुँह में पानी आ गया ।

'वेर वाली ! मुझे वेर दे ।'

'मुफ्त नहीं मिलते ।'

ग्वाले के पास पैसे न थे । उसने बकरी के गले में वंधा हुआ चिन्तामणि रत्न देखा । वेर वेचने वाली को रत्न देकर वेर खरीदे । वेर वाली ने चिन्तामणि रत्न देखा । उसने पहिचाना नहीं । उधर से एक जवेहरी सेठ निकल रहे थे । चिन्तामणि रत्न को उन्होंने पहिचाना, कुछ पैसे देकर सेठ ने रत्न खरीद लिया ।

धर्म देकर लोक प्रशंसा खरीदने वाले उस ग्वाले जैसे ही न ? धर्म चिन्तामणि रत्न से भी बढ़कर है । यह अचिन्त्य चिन्तामणि है । मनुष्य के मन में जिसका विचार तक न आ सके ऐसी दिव्य और अपूर्व भेंट सद्धर्म—चिन्तामणि देता है । इस सद्धर्म को लोक प्रशंसा—लोक रंजन हेतु देने वाला ग्वाले से भी अधिक मूर्ख है ।

तेरे पास सद्धर्म है, यह अचिन्त्य चिन्तामणि है, यह तुझे पता है क्या ? सद्धर्म को तू क्या समझ बैठा है ? जिस सद्धर्म से आत्मा की अनंत संपत्ति प्राप्त की जा सकती है, उस सद्धर्म को तू लोक प्रशंसा हेतु बेच रहा है ? लोग भले ही तुझे तपस्वी कहें विद्वान् कहें, ब्रह्मचारी कहें, परोपकारी कहें, बुद्धिशाली कहें, परन्तु ज्ञानी सज्जन पुरुषों की दृष्टि में तू वास्तव में मूर्ख है। तूने धर्म का उपयोग लोक प्रशंसा प्राप्त करने में किया यही तेरी मूर्खता है।

अरे, मूर्खता की कोई सीमा भी है ? किसी को तू सद्धर्म द्वारा लोक प्रशंसा प्राप्त करता हुआ देखता है, तुझे वह महान् लगता है और अपने आप को तू हल्का-निम्न समझता है। तुझे भी लोक प्रशंसा और लोगों के अभिनंदन पाने की महत्वा-कांक्षा होती है सद्धर्म की प्राप्ति, सद्धर्म की आराधना से तुझे संतोष आनंद या तृप्ति नहीं होती।

तू तपस्या करता है ? तप सद्धर्म है। इस तपश्चर्या द्वारा तू लोक-प्रशंसा तो नहीं चाहता न ? तू स्वयं तप की घोषणा द्वारा 'लोग मेरी प्रशंसा करें………'ऐसी चाह तो नहीं रखता न ? तू दान देता है ? दान सद्धर्म है। तू दान द्वारा अपनी प्रशंसा-लोक प्रशंसा प्राप्त करने के लिये व्याकुल तो नहीं है न ? दान देने मात्र से प्रसन्न होता है ? नहीं, दान से दूसरे लोग प्रशंसा करें तभी प्रसन्नता होती है न ?

ज्ञान प्राप्ति से आनन्द आता है ? या दूसरे तुझे 'ज्ञानी विद्वान्' कहें तभी आनन्द आता है ?

ब्रह्मचर्य का पालन करने से प्रसन्नता मिलती है ! या दूसरे जब तुझे 'ब्रह्मचारी' कहते हैं तभी आनंद आता है ?

सद्धर्म के माध्यम से तू लोक प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, तो तू चिन्तामणि रत्न देकर बेर खरीदने वाले मूर्ख ग्वाले की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली कैसे ? हाँ तू सद्धर्म द्वारा लोक प्रशंसा प्राप्त करना चाहता नहीं, परन्तु तेरा पुण्य कर्म ऐसा है कि लोग तेरी प्रशंसा किए विना रह सकते नहीं; तो इसमें तू गुनेहगार नहीं वनता। परन्तु तुझे यह आदर्श तो रखना ही चाहिये कि 'यह प्रशंसा पुण्य जन्य है, इसमें प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि पुण्य की समाप्ति होते ही प्रशंसक ही निंदक वन जाएँगे। यदि प्रशंसा में खुशी हुई है तो निंदा में दुःख होगा ही।

आप सद्धर्म की आराधना करते हैं, आप को लोक प्रशंसा नहीं मिलती, इससे आप निराशा न हों। सद्धर्म का फल लोक प्रशंसा नहीं। लोगों के पास अपने सद्धर्म की कद्र करवाने की भावना न रक्खें। सद्धर्म की आराधना द्वारा आपको अपनी आत्मा को निस्पृह वनाना है। कर्म के बंधन तोड़ने हैं। आत्मा को परमात्मा बनाना है। लोक प्रशंसा के व्यामोह में यदि फँसे तो आपके इन भव्य आदर्शों की तत्काल कब्र खुदेगी; अतः खूब सावधान होकर सद्धर्म की आराधना कर।

लोक संज्ञा महानद्यामनुस्रोतोऽनुगा न के।
प्रतिस्रोतोऽनुगस्त्वेको राज हंसो महामुनिः ॥३॥

श्लोकार्थ

लोक संज्ञा रूपी बड़ी नदी में लोक प्रवाह का अनुसरण करने वाले कौन नहीं? प्रवाह-विरुद्ध चलने वाले राजहंस जैसे एक मुनीश्वर हैं।

श्लोक विवेचन

एक बड़ी नदी है—

गंगा-यमुना-नर्वदा और महा नदी से भी बड़ी।

जिस दिशा में ये महा नदियां बहती हैं, उस प्रवाह में अनुकूल दिशा में वे सही बहते हैं, सभी यात्रा करते हैं, परन्तु प्रतिकूल दिशा में सभी यात्रा नहीं कर सकते। प्रचंड प्रवाह के सामने तैरना सबके बस की बात नहीं।

लोक संज्ञा-महानदी के लोक प्रवाह में तैरना, यात्रा करना इसमें कोई विशेषता नहीं। खाना-पीना, पहिनना-ओढ़ना, विकथाएँ करना, परिग्रह एकत्रित करना, भोग सुख भोगना, बँगले बनाना और मोटरें जुटाना; स्त्री-पुत्र परिवार को अपना मानना—शरीर को स्वच्छ रखना, वस्त्र और अलंकार धारण करना, यह सब कुछ सहज-स्वाभाविक है। इसमें जरा भी आश्चर्य नहीं।

अज्ञान, मोह और द्वेष में फंसी हुई दुनिया के समझदार माने जाते लोग लौकिक आदर्शों, छिछली मान्यताओं और विवेकहीन आचरण को लिये फिरते हैं। मुनियों को इन आदर्शों, मान्यताओं में फंसना नहीं चाहिये।

लोक प्रवाह की कई आधुनिक मान्यताएँ ऐसी हैं :—

(१) साधुओं को समाज की सेवा करनी चाहिये। चिकित्सालय बनवाने चाहिये, स्कूलें खुलवानी चाहियें······· आदि।

(२) साधुओं को गंदे-मैले वस्त्र न पहिनने चाहिये, परन्तु स्वच्छ तथा वढ़िया वस्त्र पहिनने चाहिये।

(३) साधुओं को धर्म के प्रचार हेतु मोटर, ट्रेन, एरोप्लेन, समुद्री जहाज आदि में बैठकर देश विदेश में घूमना चाहिये।

(४) साधुओं को 'लाउड स्पीकर' का उपयोग करना चाहिये।

(५) साधुओं को अधिक प्रतिज्ञाएँ नहीं देनी चाहिये।

(६) साधुओं को चाहिये कि वे अधिक दीक्षाएँ न दें।

(७) साधुओं को चाहिये कि वे छोटे-छोटे बच्चों को दीक्षाएँ न दें।

यह सब लोक प्रवाह है। यदि आत्मा जाग्रत न हो और ज्ञान दृष्टि खुली न हो तो इस बात में साधु आकर्षित हुए बिना नहीं रहें। शिष्ट और सदाचारी समाज रचना का ध्वंस करने हेतु भी ऐसे ही लोक प्रवाहों का बोलबाला हो रहा है। सुशिक्षित के नाम पर, युग के नाम पर, सुधार के नाम पर कितनी गंदी, वीभत्स और समाज को बरबाद करने वाली बातें चल पड़ी हैं।

(१) जन संख्या बढ़ गई है, अनाज नहीं मिलता, अतः संतति नियमन करो; अधिक बच्चे पैदा न हों, इसके लिये ओपरेशन करवा डालो, लूप लगवाओ……' ऐसा राष्ट्रव्यापी प्रचार कर मनुष्य को दुराचारी व्यभिचारी बनाने की योजना चली। लोक प्रवाह में बहने वाले इसमें फंसते हैं।

(२) विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वतंत्रता चाहिये।

(३) लड़के-लड़कियाँ साथ पढ़ें-इसमें क्या आपत्ति ?

(४) सिनेमा देखने से मनोरंजन होता है।

(५) संसार में रहकर भी धर्म होता है, मोक्ष प्राप्ति होती है।

ये सभी मान्यताएँ लोक संज्ञा में आती हैं! मुनि इन सभी मान्यताओं के प्रवाह में वहें नहीं परन्तु इनसे विपरीत प्रवाह में ही चलें। निडरता पूर्वक चलें......वे ऐसी वातों में लोगों की परवाह न करें। वे तो जिनेश्वर भगवान् द्वारा वताये हुए मोक्षमार्ग का ही अनुसरण करें। भगवान् के कथन की अपेक्षा अपनी वुद्धि को कभी भी अधिक महत्व न दें। उन्हें तो चाहिये कि लोक प्रवाह में खड़े रहकर लोगों की अज्ञानता को दूर करें, मोह को दूर करें। उन्हें सत्य मोक्षमार्ग वताने में निरन्तर पुरुषार्थ करें।

मुनि तो राजहंस होते हैं। वे तो मोती ही चुगते हैं। घास वे नहीं खाते। कीचड़ में वे मुँह नहीं डालते। कीचड़ में मुँह डालते हुए और घास खाते हुए जीवों के प्रति उनके हृदय में करुणा उमड़ती है। उन्हें उसमें से मुक्त करने हेतु वे प्रयत्न करते हैं, उनके साथ नहीं वैठ जाते।

अज्ञानी जीवों की वातें सुनकर फौरन उनमें माथा मारने की कुटेव छोड़ देनी चाहिये उससे मुनि जीवन की मर्यादा में टिक सकेंगे और मोक्षमार्ग की आराधना में आगे वढ़ सकेंगे। लोक संज्ञा का त्याग करने के लिये निःस्पृहता, निडरता और निर्भयता आवश्यक है। इन सव के मूल में ज्ञानदृष्टि चाहिये।

लोकमालम्ब्य कर्तव्यं कृतं वहुभिरेव चेत्।
तदा मिथ्यादृशाँ धर्मो न त्याज्यः स्यात् कदाचन ॥४॥

श्लोकार्थ

लोकावलंबन से यदि अधिक मनुष्यों के द्वारा किया हुआ ही करने योग्य हो तो मिथ्या दृष्टियों का धर्म कभी भी त्याज्य नहीं हो सकता।

श्लोक विवेचन

जिनकी दृष्टि स्वच्छ न हो,

जिनकी दृष्टि निराग्रही न हो।

जिनके पास 'केवल ज्ञान' का प्रकाश न हो,

जिनके राग और द्वेष दूर न हुए हों, ऐसे जीवों ने अपनी बुद्धि के बल पर, थोड़े से भक्तों के बल पर और थोड़ी साधना के प्रताप से मत चलाए हैं—इन मतों को 'मिथ्यामत' कहते हैं। मिथ्यादृष्टि में विश्व के वास्तविक तत्वों का दर्शन नहीं होता......सब कुछ उल्टा और वक्र दीखता है फिर भी उसे मानते हैं सीधा और सरल। विश्व में ऐसे अनेक मत हैं और ऐसे मतों के मानने वाले भी अनेक होते हैं।

'बहुमत जिसे मानता हो वह मत सच्चा' ऐसी मान्यता भी गलत है। सच्चे मत के मानने वाले दुनिया में अधिक लोग नहीं होते, थोड़े ही होते हैं। इतना ही नहीं, असत्य और अवास्तविक मत का अनुसरण करने वालों की संख्या अधिक ही होती है। सत्य और वास्तविक मार्ग का अनुसरण करने की शक्ति दुनिया में बहुत ही कम लोगों में होती है।

अब यदि यह मान लिया जाए कि जिसे अधिकांश लोग करें वही हम भी करें......'तो ऐसा करना सत्यपूर्ण होगा या असत्यपूर्ण? 'दुनिया के बड़े भाग के जीवों को क्या प्रिय है? दुनिया के बड़े वर्ग की अभिरुचि क्या है?' यह देखकर जो

धर्म के सिद्धान्तों या मतों को चलाते हैं, वे सच्चे हो ही नहीं सकते। दुनिया के जीवों को भोग प्रिय लगता है। दुनिया के जीवों को हिंसा, झूंठ, चोरी, दुराचार, व्यभिचार और परिग्रह प्रिय लगता है! दुनिया के जीवों को अच्छा सुनना, रूप देखना, रसास्वादन करना, सुगंध में मस्त बनना, तथा कोमल स्पर्श प्रिय लगता है। बस, उसे जो प्रिय लगता है वह करने देकर आप कोई भी धर्म जाल उन पर बिछा दो। वह धर्म जगत् के अधिकांश जीव पसंद करेंगे पर ऐसा धर्म आत्मा का कल्याण कर सकेगा क्या? ऐसा धम निर्वाण सुख दे सकेगा क्या?

जो दुर्गति में गिरते हुए जीवों को बचा न सके उसे धर्म कहेंगे भला? जो आत्मा पर से अनादि काल से लगे हुए कर्म के बंधनों को तोड़ न सके, उसे धर्म कहेंगे क्या? दुनिया का बड़ा मानव समूह सदा अज्ञानता में ही रहा है। भगवान् महावीर देव के समय में गोशाले के अनुयायियों की संख्या बड़ी थी, इससे क्या गोशाले का मत स्वीकार्य हो सकता है? 'बहुमत जिसका आचरण करे, वही आचरण करने योग्य'—यह मान्यता अज्ञान मूलक है।

आज व्याख्यान में भी कितना ही व्याख्यातावर्ग इस प्रकार सोचने लगा है कि बहुमत क्या चाहता है? वही बोलो। लोक-रुचि का अनुसरण करने में, लोकहित का विचार नहीं रहता। लोगों की रुचि सदा आत्म विमुख रही है, जड़ सम्मुख रही है। इस लोक रुचि का अनुसरण करने में क्या लोकहित हो सकता है? अतः लोकसंज्ञा का अनुसरण करने के लिये भगवान् ने निषेध किया है। लोगों का आत्म हित जिस प्रकार हो, उसी प्रकार प्रयत्न करने को कहा है। हाँ, आत्म हित को न समझने वाले लोगों को वह अप्रिय भी लगता है, परन्तु

उतने मात्र से आत्महित का उपदेश बदला नहीं जा सकता।

अलबत्त, लोगों की अभिरुचि आत्म सन्मुख बनाने के प्रयत्न करने हैं, इसके लिये लोक रुचि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वह ज्ञान प्राप्त करने में लोक संज्ञा का अनुसरण नहीं; इसी प्रकार श्री जिन प्रवचन की निंदा का निवारण करने हेतु कभी लोगों का अभिप्राय का अनुसरण किया जाए, तो उसमें लोक संज्ञा नहीं, परन्तु प्रवचन, संयम और आत्मा को भूलकर, मात्र लोक रंजन हेतु, लोक प्रशंसा प्राप्त करने हेतु, लोक रुचि का अनुसरण किया जाए तो वह लोक संज्ञा है।

लोक रुचि का अनुसरण करने वाले अनेक मिथ्यामत विश्व में निकलते हैं और विलीन होते हैं उन मतों-धर्मों का अनुसरण करने से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती।

श्रेयोर्थिनो हि भूयांसो लोके लोकोत्तरे न च।
स्तोका हि रत्न वणिजः स्तोकाश्च स्वात्मसाधकाः ॥५॥

श्लोकार्थ

वास्तव में, मोक्ष के अर्थी मोक्षमार्ग में और लोकोत्तर मार्ग में अधिक नहीं क्यों कि रत्न के व्यापारी थोड़े होते हैं; उसी प्रकार अपनी आत्मा का साधन करने वाले भी थोड़े ही होते हैं।

श्लोक विवेचन

मोक्षार्थी !

सर्व कर्म के क्षय के अर्थी।

आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने की अभिलाषा वाले जीव लोकमार्ग में कितने ? लोकोत्तर मार्ग में कितने ? सदा थोड़े ही होते हैं।

इस दुनिया में रत्न के व्यापारी कितने ? वहुत कम। इसी प्रकार आत्म -सिद्धि करने का पुरुषार्थ करने वाले कितने ? वहुत कम !

मोक्ष ! जहाँ शरीर ही नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, इन्द्रियों के विषय सुख नहीं, विषय सुख की अभिलाषा में से उत्पन्न कषाय नहीं ! व्यापार नहीं, ओफिस नहीं........'मोक्ष में क्या करना ?' इसी उधेड़बुन में संसार का बहुत वड़ा वर्ग फँसा हुआ है, उसके पास मोक्ष के स्वरूप का ज्ञान नहीं, उसे मोक्ष का सुख कल्पना में भी नहीं आता, फिर वह मोक्षार्थी कैसे हो सकता है ? लोकोत्तर–जिनेश्वरदेव द्वारा वताए हुए मोक्ष मार्ग पर रहे हुए भी जीवों में सभी ही जीव मोक्षार्थी नहीं होते ! वीच के स्वर्ग आदि स्टेशनों पर उतरने वाले होते हैं। अरे मोक्ष की कल्पना के बिना भी मोक्ष मार्ग पर चलने वाले मनुष्य देखने में आते हैं। आत्म विशुद्धि की अभिलाषा लोकोत्तर मार्ग में भी बहुत कम जीवों में होती है।

लोकोत्तर–जिनभाषित मार्ग में भी लोक संज्ञा सता जाती है, अनादिकालीन यह संज्ञा, अन्य संज्ञाओं पर संयम रखने वालों को भी सता सकती है। आहार संज्ञा पर विजय प्राप्त करने वाले महान् तपस्वी हों, मासखमरण, अट्ठाई, अट्ठम, छठ, उपवास और वर्धमान तप की दीर्घ आराधना करने वाले को भी लोक-संज्ञा–लोक प्रशंसा चक्कर में ले लेती है। मैथुन संज्ञा को वश में करने वाले, ब्रह्मचर्य का सुन्दर पालन करने वाले को भी लोक-संज्ञा सता लेती है। परिग्रह संज्ञा के नकेल डालने वाले,

निष्परिग्रही महात्माओं को भी लोकसंज्ञा नचा डालती है और इन सब बातों की पुष्टि करने वाले दृष्टान्त इतिहास के पृष्ठों में भरे पड़े हैं। प्रत्यक्ष भी ये दृष्टान्त देखने को नहीं मिलते क्या ?

'मेरी तप-त्याग की आराधना, मेरी दान-शील की उपासना, मेरी परमार्थ-परोपकार की साधना, दूसरों को बताऊँ—लोक-दृष्टि में मैं बड़ा आदमी बनूं, लोगों में मेरी प्रशंसा हो……' यह लोकसंज्ञा का रूपक है। इसी प्रकार लोकप्रशंसा का कामी धर्म आराधक मनुष्य अपने दोषों को छिपाने का भी प्रयत्न करता है—उसे भयसंज्ञा सताती है। 'मेरे दोषों का पता लोगों को लग गया तो मेरी बदनामी होगी……' यह चिंता भी सदैव उसे सताती रहती है।

लोकसंज्ञा की यह खतरनाक कार्यवाही है। लौकिक मार्ग में तो उसका बहुमुखी प्रभाव है ही, लोकोत्तर मार्ग में भी उसका प्रभाव कम नहीं। लोकसंज्ञा के नागपाश में फँसी हुई आत्मा मोक्ष मार्ग की आराधना को भूल जाती है। आत्मा का लक्ष्य चूक जाती है, अतः लोकसंज्ञा का त्याग करने पर यहां बल दिया गया है।

जीव को समझाना चाहिये : 'हे आत्मन्, ऐसा सर्वांग संपूर्ण सत्य मोक्षमार्ग प्राप्त कर तू आत्मा को कर्मों के बंधनों से मुक्त करने का प्रयत्न कर। लोगों को खुश करने से तेरी आत्मा शुद्ध नहीं होगी। तू ऐसा समझता है कि मेरी आराधना से लोग मेरी प्रशंसा करते हैं…यह तेरी अज्ञानता है। लोकप्रशंसा पुण्य-कर्म से प्राप्त होती है। तेरे पास जहाँ तक पुण्यकर्म है वहां तक लोग तेरी प्रशंसा करेंगे। पुण्य समाप्त हो जाएगा तब वे तेरी ओर देखेंगे भी नहीं, तुझ से बढ़कर कोइ पुण्यशाली लोगों को मिलेगा और वे तुझे भूल जाएँगे। तेरी आराधना से मोक्ष

विमुख लोग प्रसन्न हो सकते हैं क्या ? तेरी आराधना से अपनी आत्मा को ही प्रसन्न कर। परमात्मा की प्रीति प्राप्त कर— इसके सिवाय और कोई अपेक्षा न रख। नहीं तो तू कभी का आराधना से विमुख हो जाएगा। जब लोग तेरी आराधना की प्रशंसा नहीं करेंगे, तब आराधना में से तेरा मन उचट जाएगा, तुझे आनन्द नहीं आएगा।

लोकसंज्ञाहता हन्त नीचैर्गमनदर्शनैः।
शंसयन्ति स्वसत्यांगमर्मघात महाव्यथाम् ॥६॥

श्लोकार्थ

अफसोस है कि लोकसंज्ञा से मारे गए धीरे चलकर और नीचे देखकर अपने सत्यव्रतरूपी अंग में मर्म प्रहार की महावेदना प्रकट करते हैं।

श्लोक विवेचन

अफसोस........

आप धीरे २ चलते हैं, नीची दृष्टि करके चलते हैं—क्यों ? आप लोगों को यह समझाना चाहते हैं कि किसी जीव की हिंसा न हो इस प्रकार हम चलते हैं। शास्त्र द्वारा बताई हुई विधि का पालन करते हैं। दृष्टि पर हमारा संयम है........इधर उधर दृष्टि जाती नहीं, और हम उच्च कक्षा के आराधक हैं........' परन्तु अब आपका दंभ खुल गया है। आपको लोग उच्च कोटि का आराधक नहीं कहते। तब तुम्हारे मुख पर कैसी कालिमा छा जाती है ? आप दूसरे आराधकों की प्रशंसा सुन सकते नहीं आप दूसरे आराधकों की अवसर आने पर निंदा ही करते हैं। आपके मुंह से स्व प्रशंसा के सिवाय

अन्य की प्रशंसा सुनने को ही नहीं मिलती। आपने लोक प्रशंसा प्राप्त करने के लिए कमर कसी है। तप से, व्याख्यान से, शिष्य परिवार से, मलीन वस्त्रों से, किसे आकर्षित करना चाहते हैं? शिवरमणी को? नहीं नहीं! लोगों को आप अपने भक्त बनाना चाहते हो।

आप धीरे धीरे क्यों चलते हैं? आपके सत्य, संयम आदि अंग में मार्मिक प्रहार की वेदना हुई है.......लोकसंज्ञा ने आपके मर्म स्थान पर प्रहार किया है.......इस प्रहार की वेदना से आप धीरे न चलें तो क्या करें?

आप नीचे देखकर चलते हैं! क्या होगा? आपकी दृष्टि को लोक संज्ञा के ज्वलन्त प्रकाश ने चकाचौंध कर रखी है, ऊपर देख नहीं सकते। वास्तव में अफसोस होता है, दुःख होता है। आपका दंभ अब सहन नहीं होता—पर आपको वदलें भी तो कैसे? अफसोस किए विना अन्य कोई मार्ग हमारे लिये नहीं।

धर्म की आराधना प्रभावना करते 'आत्मा की विषय कषायों से निवृत्ति' स्मृति में रहती है क्या? परमात्मा का शासन याद रहता है क्या? क्या याद रहता है? 'मैं', आपको अपनापन और उसकी प्रशंसा याद रहती है। ओह! आप कमर तोड़ डाले वैसी दीखती आराधना करते हैं—परन्तु यदि इसमें मोक्ष और आत्मा मुख्य बना दो तो? अतः आत्मा को पहचानो। आत्मा की स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाओं को पहचानो। मोक्ष के अनंत सुख को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करो।

यदि यह लक्ष्य, उद्देश्य, आदर्श नहीं रक्खोगे तो विषय कषाय की वृद्धि होती रहेगी! संज्ञाएं पुष्ट होती जाएंगी। लोक संज्ञा आपको अनन्त भवों में रखड़वाएगी। कीर्ति-प्रशंसा की भूख

वहुत वढ़ जाएगी—और जव इस भूख को मिटाने वाला 'यश ! कीर्ति' नाम कर्म आपके पास नहीं होगा तव क्या करोगे ?

आज लोकोत्तर मार्ग में भी लोक संज्ञा में फंसे हुए दिखाई देते हैं तव अफसोस के सिवाय अन्य कौन सा मार्ग है ? परमात्मा के शासन की धुरा को वहन करने वाले ही जव लोक संज्ञा में फंस जाएं, तव दूसरा कौन सा मार्ग रहता है ? अतः उपाध्याय जो महाराज तीक्ष्ण प्रहार कर रहे हैं।

लोक संज्ञा में फंसे हुए मनुष्य 'लोकहित' करने का वचाव करते हैं। लोक हित, लोगों की आत्मा को पहिचाने विना नहीं हो सकता ? लोक अहित का विवेक लोक संज्ञा में फंसा हुआ व्यक्ति कर सकता नहीं। वह हित को अहित और अहित को हित मान लेता है ! उसके हृदय में जीवों का आत्म कल्याण वसा हुआ होता ही नहीं। वह तो जिसमें अपनी कीर्ति, यश वर्धन हो ऐसी ही प्रवृति करेगा और उसे 'आत्महित' का लेवल लगाएगा। ऐसी परिस्थिति में से विरला ही रत्न का व्यापारी महामुनि वाहर निकल सकता है। मनुष्य जीवन और प्राप्त लोकोत्तर मार्ग लोक संज्ञा से कुचल डालने वाला मनुष्य वास्तव में शोक का पात्र है।

अतः लोक संज्ञा का त्याग करो।

आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ किं लोकयात्रया।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च भरतश्च निदर्शने ॥७॥

श्लोकार्थ

आत्मा साक्षी जिसमें है ऐसे सत्यधर्म की प्राप्ति हुए लोक व्यवहार का क्या काम है ? उसमें प्रसन्नचन्द्र राजर्षि और भरत महाराजा दृष्टान्त हैं।

श्लोक विवेचन

चक्रवर्ती भरत।

भगवान् श्री ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र।

उन्हें केवलज्ञान किस प्रकार हुआ था—यह बात तो आपको पता है न? स्नान करके, श्रेष्ठ वस्त्र-आभूषण पहन कर यह जानने के लिये कि मैं कितना सुन्दर लगता हूं, वे भवन में गए थे। दर्पण में अपनी शोभा देखते थे कि उनकी उंगली पर से अंगूठी गिर पड़ी। अंगूठी के बिना उँगली शोभा रहित लगी। धीरे धीरे अन्य अलंकार भी उतारते गए। 'मेरी शोभा पर पुद्गल ऐसे अलंकारों से?' धर्मध्यान, शुक्लध्यान और केवल ज्ञान! गृहस्थ सांसारिक के वेष में ही केवलज्ञान हो गया। शृंगार भवन के बाहर दरबारीगण चक्रवर्ती भरत की राह देखते थे परन्तु बाहर निकले केवलज्ञानी भरत! उन्हें आत्म-साक्षी से ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि?

श्मशान में एक पांव पर खड़े हुए थे। दृष्टि सूर्य के सामने लगा रक्खी थी। रास्ते चलते सैनिकों की बात उनके कान में पड़ी। प्रसन्नचन्द्र के पुत्र का राज्य उसके चाचा हड़पने को तैयार हुए हैं—बस, राजर्षि ने मानसिक युद्ध मचाया। घोर संग्राम लड़ने लगे। श्रेणिक महाराजा ने राजर्षि की तपश्चर्या देखी, बलैया लेने लगे। बाह्य दृष्टि से उग्र तपश्चर्या करने वाले ये राजर्षि आत्म साक्षी से तपस्वी थे? नहीं, सातवीं नरक में ले जाने वाले घोर कर्मों का बंधन कर रहे थे।

दोनों दृष्टान्त कैसे दिये हैं। परस्पर विरोधी। भरत महा-राजा बाह्य दृष्टि से आरंभ-समारंभ से भरे संसार रसिक दिखाई

देते थे, परन्तु आत्मसाक्षी से निर्लिप्त थे। 'भरतजी मन मांही वैरागी—' जबकि प्रसन्नचन्द्र बाह्य दृष्टि से आरंभ समारंभ से रहित मोक्ष रसिक आत्मा दीखते थे, परन्तु आत्मसाक्षी से युद्ध रसिक—बाह्य भावों में लिप्त थे।

श्री महानिशीथ सूत्र का यह वचन है :

"धम्मो अप्पसक्खिओ"

धर्म आत्मसाक्षिक है। यदि आत्मसाक्षी से हम धार्मिक हैं, तो फिर लोक व्यवहार की क्या आवश्यकता है ? लोगों में धर्म प्रकाशन करने की क्या आवश्यकता है ? 'मैं धार्मिक हूँ—मैं आध्यात्मिक हूँ—ऐसा दुनिया को बताने का स्वांग करने की क्या जरूरत है ? अतः आत्मसाक्षी से सोचने की आवश्यकता है। मैं धार्मिक हूँ, अर्थात् शीलवान् हूँ, सदाचारी हूँ, न्यायी हूँ, निस्पृह हूँ, निर्विकार हूँ - इस बात का निर्णय आत्मा के पास करवाओ। लोगों के 'प्रमाण-पत्र' पर निर्णय न करो। प्रसन्न-चन्द्र को श्रेणिक महाराजा ने कैसा प्रमाण पत्र दिया था। उग्र तपस्वी—महान् योगी—सच्चे महात्मा—आदि, परन्तु क्या प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने इस प्रमाण-पत्र पर केवलज्ञान प्राप्त किया था ? नहीं, यह तो जब शत्रु को मारने के लिये अन्य कोई शस्त्र न रहा तब सिर का मुकुट मारने के लिये हाथ सिर पर गया—सिर पर मुकुट कहाँ था ? सिर पर तो बाल भी नहीं थे—लोच हुआ सिर था— तब वे पीछे हटे। उन्हें अपनी भूल समझ में आई—पश्चात्ताप हुआ—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में चढ़े और केवलज्ञानी बने।

धर्म की उपासना करने में लोकसाक्षी को प्रमाण भूत न मानें। मात्र आत्मसाक्षी को ही प्रमाणभूत मानें। लोकसाक्षी को प्रमाणभूत मानेंगे तो लोगों में आपकी धर्माराधना जानने की

भावना रहेगी—अतः दृष्टि सदैव लोगों पर रहेगी, आत्मा पर नहीं। आत्मा की उपेक्षा होगी। आत्मा की साक्षी के प्रति परवाह नहीं रहेगी और अन्त में 'धर्म आत्मा के लिये करता हूं' यह भुला दिया जाएगा और मात्र लोगों को खुश करने के लिये ही धर्माराधना होगी। इस प्रकार आत्म कल्याण का महान् कार्य रुक जाएगा और आप भव में भटक पड़ेंगे। मोक्ष का स्वप्न ध्वस्त हो जाएगा। पुनः चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण शुरू हो जाएगा—तो फिर लोकसाक्षी से धर्म क्यों किया जाय?

धर्म कार्य में आत्मा की साक्षी को प्रधान पद दें।

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः परब्रह्मसमाधिमान्।
सुखमास्ते गतद्रोहममतामत्सरज्वरः ॥८॥

श्लोकार्थ

लोक संज्ञा से रहित परब्रह्म के विषय में समाधि वाले मुनि जिनका द्रोह, ममता और गुणद्वेषरूपी ज्वर दूर हो चुका है, वे सुख से रहते हैं।

श्लोक विवेचन

महाराज साहब! आप सुख से रहें।

आपके मन में दुःख किस बात का? परब्रह्म में समाधि—आपके सुख को उपमा भी किस की दें? मन में दुःख तो उस पामर प्राणी के होता है जिसे द्रोह जलाता हो, ममता मर्म स्थानों में डंक मारती हो, मत्सर का दाहज्वर सताता हो। आपके मन में द्रोह, ममता या मत्सर नहीं। आपके सुख की कोई अवधि नहीं, सीमा नहीं।

श्रमण को सुख प्राप्त करने के यहाँ चार उपाय बताये हैं :-

(१) परब्रह्म में समाधि
(२) द्रोह त्याग
(३) ममता त्याग
(४) मत्सर त्याग

ब्रह्म अर्थात् संयम। संयम में परम लीनता प्राप्त करना। सतरह प्रकार का संयम जानते हैं न ?

पञ्चाश्रवाद् विरमणं पंचेन्द्रिनिग्रहः कषायजयः।
दण्डत्रय विरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥
—प्रशमरति

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद—इन पाँच आश्रवों को बन्द करो। पाँच इन्द्रियों पर संयम रक्खो। क्रोध मान-माया और लोभ इन चार कषायों पर विजय प्राप्त करो। मन वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोको। यही आपकी समाधि है।

द्रोह का त्याग करें। धोखा न दें। श्री जिनेश्वर भगवान के शासन को धोखा न दें। उसके प्रति वफादार बनें। अपने निजी सुखों के खातिर भगवान का शासन छोड़ न दें। उसके नियमों का उलंघन न करें। आपको प्रभु का वेश प्राप्त है। इस वेश से आपको अन्न, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि सामग्री मिलती है। लोग आपके सामने नतमस्तक होते हैं। आपका सम्मान करते हैं अतः इस वेश का द्रोह न करें।

ममता का त्याग करें। सांसारिक स्वजनों के प्रति ममता का धुनन करें। भक्तों पर ममत्व धारण न करें। देह, उपाधि और उपाश्रय आदि बाह्य पदार्थों पर ममत्व न करें। हाँ,

आत्मा पर ममत्व करने हेतु अन्य ममत्वों का त्याग करना ही पड़ेगा। जव तक दूसरे पदार्थों पर ममत्व है, तव तक आत्मा पर ममत्व नहीं हो सकता। न दूसरे पदार्थों पर रहा हुआ ममत्व आपको शांत-प्रसन्न और स्वस्थ रहने देगा।

गुण पर द्वेष न करें। मत्सर अर्थात् गुण द्वेष ? गुण द्वेष दूर करने के लिये गुणवान व्यक्तियों पर द्वेष न किया जाए ? हाँ, छद्मस्थ आत्मायें भी गुणवान् होती हैं। दोषों की उपस्थिति में भी गुण ही देखें। गुण के अनुरागी वनें। दोष देखकर गुणवान पर द्वेषी वनोगे तो आप स्वयं ही अशान्त हो जाओगे।

हाँ, जो गुण आपमें न हों, वे गुण अन्य आत्माओं में दिखाई दें, तो वहाँ आप विनम्र होकर उनके गुणों का अनुमोदन करें। गुण द्वेष से, उसके दोषों का अनुवाद करेंगे तो आप सुखी नहीं रह सकेंगे। आपका मन अशांत और क्लेशयुक्त वन जाएगा।

क्या आप गुणवान व्यक्तियों की निन्दा न करें तो नहीं चलेगा ? क्या निन्दा करने से आपकी महत्ता वढ़ती लगती है ? क्या दोषानुवाद करने से आप अपना आत्मोत्कर्ष कर सकेंगे ? क्या इससे आपके अध्यवसाय शुद्ध वनेंगे ? आप क्यों दुःखी और अशान्त वनते हैं ? आप अपने सतरह प्रकार के संयम में मस्त रहें। द्रोह-ममता और मत्सर को गहरी खाई में फेंक दें। लोग भले ही इन सब में मस्त होते हों, आप इनमें मस्त न हों। गटर में सूअर आनन्द मनाता है, हंस कभी भी नहीं। आप तो राजहंस है। आप से ऐसी लोकसंज्ञा में गिरा ही न जाए।

लोकसंज्ञा का त्याग करें।

———

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२४ शास्त्र

चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे देवाश्चावधिचक्षुषः।
सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः साधवः शास्त्रचक्षुषः॥१॥

श्लोकार्थ

सभी मनुष्य भले ही चर्मचक्षु धारी हों, चर्मचक्षु से भले ही विश्व के पदार्थों को देखते हों, आप मुनिराज हैं, आपके चक्षु शास्त्र हैं। आप जो विश्व दर्शन करें, पदार्थ दर्शन करें वह सब शास्त्र चक्षु से ही करें।

देवता अवधिज्ञान रूपी आँखों वाले होते हैं। वे जो कुछ भी जानते या देखते हैं वह अवधिज्ञान की आँख से ही। मुनिवर! आप अवधिज्ञानी हैं। आप तो शास्त्रज्ञानी हैं। आपको जो कुछ जानना हो, देखना हो, वह शास्त्र की आँखों से ही जानना-देखना है।

सिद्ध भगवंतों के एक नेत्र है केवल ज्ञान का और दूसरा नेत्र है केवल दर्शन का। वे इस नेत्र के द्वारा ही चराचर विश्व को देखते तथा जानते हैं। साधु भगवंतों के लिये शास्त्र ही चक्षु होते हैं। शास्त्र ही नेत्र-आँखें। आँखें खुली रखकर ही जगत को देखें। यदि आँखें बन्द रखकर देखने जायेंगे तो भटक जायेंगे।

साधु के लिये दिन-रात के २४ घंटों में से १२ घंटे शास्त्र-स्वाध्याय हेतु रक्खे गये हैं, ६ घंटे निद्रा के लिये रक्खे गये हैं और ३ घंटे आहार-विहार और निहार (दीर्घ शंका) हेतु रक्खे गए हैं। शास्त्रों के अध्ययन विना ज्ञान चक्षु खुल ही नहीं सकते।

शास्त्रचक्षु नया खोलना होता है। उसके लिये विनयपूर्वक सद्‌गुरुदेव के पास शास्त्रों की वाचना लेना, फिर शंका उपस्थित हो तो विनयपूर्वक गुरुदेव को प्रश्न पूछकर शंका का समाधान करना। निःशंक बने हुए शास्त्र-पदार्थ विस्तृत न हो जायें इसके लिए उनका परावर्तन करना। परावर्तन से वे शास्त्र पदार्थ स्मृति में सुदृढ़ हो जाएँ तव उन पर चिन्तन करना। शास्त्रों के शब्दों का अर्थ निर्णय करना, भिन्न २ 'नयों' से उसके रहस्य को समझना। एक ही शब्द भिन्न २ स्थानों पर भिन्न २ अर्थ वताता है। एक ही अर्थ सर्वत्र नहीं चलता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप अर्थ रहस्य निकालना होता है। इसके बाद अन्य जीवों को शास्त्र वोध देने का कार्य शुरू करना चाहिये।

परमात्मा जिनेश्वर देव के धर्म शासन में कोई एकाध ग्रंथ पढ़-सुन लेने से कार्य की इति नहीं होती। अन्य धर्मों में तो एक गीता, एकाध बाइविल या कुरान आदि पढ़ ले तो उस धर्म का परिचय प्राप्त हो सकता है। परन्तु जैन धर्म एकाध ग्रंथ में समा जाए ऐसा संक्षिप्त नहीं। इसका पदार्थ विज्ञान, इसका मोक्ष मार्ग, इसका खगोल-ज्ञान और भूगोल-ज्ञान, इसका शिल्प और साहित्य, इसका ज्योतिष विज्ञान और जीव विज्ञान इतना अधिक विशाल है कि इन सबका संक्षेप किसी एक ग्रन्थ में नहीं मिल सकता। वहुत से लोग पूछते हैं कि जैन धर्म का ऐसा कोई ग्रन्थ है जैसी कि गीता, कुरान या बाइविल ? नहीं। नहीं है।

जैन धर्म का ज्ञान प्राप्त करने में जीवन का बहुत बड़ा समय दिया जाए तभी इसके सिद्धान्त समझ में आ सकते हैं।

साधु भगवन् ने धन कमाने, घर बनाने या पुत्र परिवार की सम्हाल रखने का कोई चक्कर नहीं होता। भारत की प्रजा, उसमें भी विशेषकर जैन संघ, उनकी भक्ति पूर्वक सब आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। साधु भगवन् के लिए तो रहता है मात्र पंच महाव्रतमय पवित्र जीवन यापन और शास्त्रों का स्वाध्याय। इनके अतिरिक्त जरा भी चिन्ता नहीं। चर्मचक्षु का प्रकाश कितना कीमती समझा जाता है? शास्त्र चक्षु का प्रकाश उससे भी अधिक मूल्यवान समझा जाना चाहिये। जितनी चिन्ता चर्म चक्षु की रक्खी जाती है, उससे अधिक चिंता शास्त्र चक्षु की रखनी आवश्यक है। शास्त्र दृष्टि के प्रकाश में विश्व का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा, यथार्थ दर्शन होगा। भ्रान्तियां दूर होंगी। चित्त विषय कषाय के विचारों से मुक्त होगा।

अतः शास्त्र चक्षु प्राप्त करें, और उज्ज्वल करें।

पुरः स्थितानिवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक विवर्तिनः।
सर्वान् भावानवेक्षन्ते ज्ञानिनः शास्त्रचक्षुषा ॥२॥

ज्ञानी पुरुष शास्त्ररूपी चक्षु से ऊर्ध्व-अधो और तिर्च्छालोक में परिणत होते सर्व भावों को सामने ही हों ऐसे प्रत्यक्ष देखते हैं।

श्लोक विवेचन

चौदह राजलोक.......

शास्त्र दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

मानो सामने ही चौदह राजलोक न हो, ऐसा दिखाई देता है। शास्त्र दृष्टि का तेज........इसका प्रकाश इतना तीव्र और व्यापक है कि सभी भावों का इसमें दर्शन होता है।

शास्त्र दृष्टि ऊपर जाती है, समग्र ऊर्ध्व लोक दिखाई देता है। देवेन्द्र और देवों का यह ज्योतिष चक्र !

इसके ऊपर सौधर्म और ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र—देवलोक, फिर ब्रह्म, लांतक, महाशुक्र सहस्रार—ऊपर ऊपर के देवलोक। उन पर ये नत और प्राणत। इनके बाद चारण और अच्युत देवलोक ! ये बारह देवलोक देखे ?

अब उनसे आगे एक के बाद एक नवग्रैवेयक देवलोक देखें। अब आप लोकांत के निकट का रमणीय प्रदेश देखेंगे—देखा यह प्रदेश ? ये पाँच अनुत्तर के नाम से प्रसिद्ध हैं। वहाँ से जहाँ अनंत सिद्ध भगवान् विराजमान हैं, वह सिद्ध शिला मात्र बारह योजन दूर है। इन सिद्ध भगवन् का कैसा सुख है—अक्षय और अनन्त अव्याबाध ! खैर ! अभी तो इतना देखकर ही संतोष मानो; इसका अनुभव करने के लिये तो शरीर रहित बनना पड़ता है।

अब चलो नीची दृष्टि करो। देखना काँप न उठो। पहिले तो नीचे रहे हुए व्यंतरों के असंख्य भवन देखो और वनों में रमणीय उद्यानों में क्रीडा करते हुए वानव्यंतरों को भी देखो। ये सभी देव हैं, इन्हें 'भुवनवासी' कहते हैं।

और नीचे चलो।

यह पहिली नरक है। इसका नाम है रत्नप्रभा, इसके नीचे शर्करा प्रभा है। इसी के नीचे तीसरा नरक वालुकाप्रभा है। चौथा नरक देखा ? कितना भयंकर है ? इसका नाम है पंक-प्रभा। पाँचवे नरक का नाम है धूमप्रभा। छठा तमः प्रभा और सातवाँ महातमः प्रभा। कैसा घोर अंधकार·······जीव परस्पर कितना संघर्ष कर रहे हैं·······कैसी दुर्दान्त वेदना·······चीख

और असह्य पीड़ा—देखा ? जीव मरना चाहते हैं, मर सकते नहीं ! हां, कट जाते हैं, पिस जाते हैं, परन्तु मरते नहीं ! आयुष्य पूर्ण न हो तब तक मर नहीं सकते। यह है अधोलोक।

अब आप जहाँ हैं, उस मध्यलोक को देखें। शास्त्रचक्षु से यह भी दिखाई देगा। एक लाख योजन का जंबूद्वीप। उसके चारों ओर फैला हुआ दो लाख योजन का लवण समुद्र। लवण समुद्र को घेरा हुआ धातकी खंड है जो चार लाख योजन का है। इसके बाद कालोदधि समुद्र–पुष्करवर द्वीप, पुनः समुद्र पुनः द्वीप। इस प्रकार मध्यलोक में असंख्य द्वीप और समुद्र हैं। अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण है।

चौदह राजलोक की यह रचना देखी ? इसके सामने खड़े रहकर आप चौदह राजलोक को देखें तो इसका आकार कैसा लगता है ?

दो पाँव चौड़े करके, दो हाथ कमर पर टिकाकर खड़े हुए मनुष्य जैसा लगता है न ?

+यह 'चौदह राजलोक' कहलाता है। 'राजलोक' क्षेत्र का एक नाप है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये पाँचों द्रव्य शास्त्र दृष्टि से देखे जाते हैं।

श्रुतज्ञान के क्षयोपशम के साथ अचक्षुदर्शनावरण का क्षयोपशम जुड़े तब शास्त्र चक्षु खुलते हैं और वास्तविक दर्शन होते हैं। विश्व रचना, विश्व के पदार्थ, इन पदार्थों का परिवर्तन—आदि का चिंतन—*द्रव्यानुयोग का चिंतन है। द्रव्यानुयोग के

\+ चौदहराज लोक का स्वरूप देखें परिशिष्ट में।

* द्रव्यानुयोग आदि अनुयोगों का स्वरूप परिशिष्ट में देखें।

चिंतन में खूब कर्म निर्जरा होती है। मन के अशुभ विचार रुकते हैं। दुनिया में होती विचित्र घटनाओं, अकस्मातों और प्रसंगों में आश्चर्य, कुतुहल या जिज्ञासाएँ प्रकट नहीं होती। आत्मा स्थितप्रज्ञ दशा प्राप्त करती है। अतः शास्त्र चक्षु खोलो। ये बंद न हो जाएँ, इसके लिये सदा सावधान रहो। शास्त्रचक्षु का दर्शन आपको आनंद से भर देगा।

शासनात् त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरूच्यते।
वचनं वीतरागस्य तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ॥३॥

श्लोकार्थ

हितोपदेश करने से और रक्षा की सामर्थ्य से पंडितों द्वारा 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। वह शास्त्र वीतराग वचन कहलाता है। अन्य किसी का नहीं।

श्लोक विवेचन

वीतराग वचन अर्थात् शास्त्र

रागी और द्वेषी के वचनों को शास्त्र नहीं कहते। रागी-द्वेषी मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, बुद्धिशाली हो, परन्तु वह वीतराग के वचनों की अवहेलना कर, अपनी कल्पना से ग्रन्थों का निर्माण करे तो उन्हें शास्त्र नहीं कहते।

शास्त्र आत्महित का उपदेश देते हैं।

शास्त्र सभी जीवों की रक्षा करने का कहते हैं।

शब्द शास्त्र की दृष्टि से 'शास्त्र' शब्द से ये दो अर्थ निकलते हैं।

शासनसामर्थ्येन च सन्त्राणवेलनानवद्येन।
युक्तं यत् तच्छास्त्रं तच्चैतत् सर्वविद्वचनम् ॥

—प्रशमरति

'हित शिक्षा देने के सामर्थ्य से और निर्दोष रक्षण करने की शक्ति से युक्त हो वह शास्त्र है और वह सर्वज्ञ वचन है।'

सर्वज्ञ वीतराग वचन में ही ये दो बातें मिलती हैं। उनका वचन आत्महित का उपदेश देता है। उनका वचन निर्दोष जीव रक्षा करने के लिये कहता है।

राग और द्वेष से उद्धत्त चित्त वाले जीवों का सम्यक् अनुशासन करने वाले शास्त्र को नहीं मानने वाले उद्दंड मनुष्यों से पूछो कि—

× आत्मा को चर्म चक्षु से देखने का आग्रह रखने वाला प्रदेशी, जीवित प्राणियों को चीर कर आत्मा को ढूँढता था; सचेतन जीवों को लोहे के सन्दूक में बन्द कर दम घुटवा कर मार डालता था—ऐसे २ क्रूर प्रयोग करने वाला प्रदेशी—उसे किसने दयालु बनाया? केशी गणधर ने किसके वचनों से—शास्त्रों से प्रदेशी का हृदय परिवर्तन कर जीवरक्षक बनाया?

× अभिमान के आसमान में चढ़े हुए इन्द्रभूति को परम विनयी, द्वादशांगी का प्रणेता और अखंड लब्धिवान् किसने बनाया?

× रंग-राग और भोग-विलास में मस्त-राग में चकचूर शालिभद्र को पत्थर की धधकती शिला पर सोकर, अनशन करने का सामर्थ्य किसने दिया?

× दृष्टि में से विष का लावारस उगलते चंडकौशिक को शांत, प्रशांत और सहिष्णु महात्मा किसने बनाया?

× अनेक हत्याओं के ढेर पर बैठकर क्रूरता की डुगडुगी बजाने वाले अर्जुनमाली को महाव्रतधारी महात्मा किसने बनाया?

जिन वचन के इन ऐतिहासिक चमत्कारों को क्या आप अकस्मात् कहेंगे ? आत्मा को महात्मा और परमात्मा बनाने वाले इन जिन वचनों के शास्त्रों की क्या आप अवहेलना कर सकेंगे ? और उपेक्षा करके क्या आप अपने दुःखों को दूर करने में सफल होंगे ?

यस्माद् रागद्वेषोद्धत्चित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
सन्त्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ।।

—प्रशमरतिः

शास्त्र द्वारा सृजित असंख्य चमत्कारों का उल्लेख जो इतिहास में भरा पड़ा है, उस उल्लेख का अध्ययन आज कौन करता है ? दुनिया में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह के गटरों को उभारने वाले इतिहास आज विद्यार्थियों को पढ़ाए जाते हैं, परन्तु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह-वाद की गंगा-यमुना बहाने वालों के इतिहास को स्पर्श करने में भी शर्म आती है ।

दुःखों को दूर कर, राग और द्वेष की उद्धताई को वश में लेने वाले और आत्मा का वास्तविक हित करने वाले शास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखने से ही मनुष्य सुधर सकता है ।

शास्त्रों और शास्त्रकारों को गालियाँ दिलवाकर, मनुष्य को सुधारने की आज के सुधारक बातें करते हैं । शास्त्र और शास्त्र के प्रणेता वीतराग परम पुरुषों के प्रति नफरत पैदा कर नट नर्तकियों और देश नेताओं के प्रति आदरयुक्त बना कर मनुष्य को सुधारना है ! कैसी अज्ञानदशा है ।

वीतराग भगवन् के वचनरूपी शास्त्र को अपनी दृष्टि बनाने वाला मनुष्य ही आत्महित परहित करने में समर्थ है :

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतराग: पुरस्कृत: ।
पुरःकृते पुनस्तस्मिन् नियमात् सर्वसिद्धय: ।।४।।

श्लोकार्थ

इसलिये शास्त्र को आगे किया अर्थात् वीतराग को आगे किया है और वीतराग को आगे किया अर्थात् नियम से सर्व सिद्धि होती है।

श्लोक विवेचन

शास्त्र = वीतराग

जिसने शास्त्रों को माना, उसने वीतराग को माना।

जिसने वीतराग को हृदय में धारण किया उसके सब काम सिद्ध हुए !

शास्त्र याद आएँ और उनके कर्ता याद न आएँ ? आएँ ही। वीतराग को स्मृतिपथ में लाए अर्थात् वीतराग की शक्ति आपकी शक्ति बनी। वीतराग की अनंत शक्ति से कौन सा कार्य असाध्य है ?

पू० श्री हरिभद्र सूरिजी ने 'षोडषक' में कहा है :—

अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वत्तो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात् सर्वार्थसिद्धय: ।।

'तीर्थंकर प्रणीत आगम हृदय में हों तब परमार्थ से तीर्थंकर भगवान् हृदय में होते हैं क्योंकि वे उनके स्वतंत्र प्रणेता है। जब तीर्थंकर भगवान् हृदय में हों तब अवश्य सर्वार्थों की सिद्धि होती है।'

जो कुछ सोचना, बोलना या करना वह सब जिन प्रणीत

आगम के आधार पर ! "मेरे भगवान ने यह सोचने को कहा है ? मेरे भगवान ने क्या यह बोलने का कहा है ? मेरे भगवान ने क्या ऐसा आचरण करने का कहा है ?' यह विचार जीवन में घुलमिल जाना चाहिये ।

जिनेश्वर भगवंतों को एक क्षण के लिये भी हृदय से न विसरायें । भगवन् अचिन्त्य चिंतामणि हैं । भगवन् भवसागर में जहाज हैं । एकांत शरण्य हैं । ऐसे परम करुणानिधि परमात्मा का निरंतर स्मरण शास्त्र स्वाध्याय से रहता है । शास्त्र से शास्त्र के रचयिता परमात्मा की याद आती ही है ।

जिनेश्वर भगवंतों का प्रभाव अद्भुत है । राग और द्वेष रहित परमात्मा भी उनका ध्यान करने वाली आत्माओं को दुःखों से मुक्त करते हैं । चिन्तामणि रत्न में कहाँ राग और द्वेष होते हैं ? फिर भी उसका ध्यान करने वाले, विधिपूर्वक उपासना करने वाले के मनोवांछित पूर्ण होते हैं । परमात्मा का आत्म द्रव्य ही ऐसा सर्वोत्तम प्रभावशाली है कि उनका ×नाम स्थापना-द्रव्य या भाव द्वारा स्मरण किया जाए तो सभी कार्यों की सिद्धि होती है ।

जिनेश्वर परमात्मा के स्मरण का सुन्दर उपाय शास्त्र का स्वाध्याय है । शास्त्र स्वाध्याय के माध्यम से जिनेश्वर भगवान् का जो स्मरण होता है, जो स्मृति होती है, वह अपूर्व और अद्भुत होती है, उसमें रसानुभूति होती है ।

"आगमं आयरंतेण अत्तणो हियकंखिणो ।
तित्थनाहो सयंबुद्धो सव्वे ते बहुमन्निया ॥"

× चार निक्षेप का स्वरूप परिशिष्ट में देखें ।

'तूने आगम का (शास्त्र का) आदर किया अर्थात् आत्महित करने की इच्छा वाले और स्वयंबुद्ध तीर्थंकर आदि सबका आदर किया है।''

आगम का आदर करने का इस प्रकार सर्वत्र कहा गया है, परन्तु शास्त्र को सर्वोपरि मानना तभी संभव हो सकता है, जब आत्मा हित करने के लिये तत्पर बनी हो। जहाँ तक इन्द्रियों के विषय सुखों में ही आसक्त हो, कषायों के अधीन हो, संज्ञाओं के प्रभाव में दबी हो तब तक शास्त्र के प्रति अभिरुचि नहीं हो सकती, शास्त्र का आदर नहीं हो सकता।

आज के विज्ञान युग में और भौतिकवाद के ज्वार में शास्त्राध्ययन बहुत घट गया है। शास्त्रों के सिवाय इतना अधिक पढ़ने को मिलता है कि शास्त्र पढ़ने की रुचि ही नहीं होती। बालकों, युवकों और वृद्धों—सभी को देश कथाओं, राज-कथाओं, भोजन कथाओं, स्त्री कथाओं, सिनेमा-कथाओं में ऐसा अनुराग पैदा हुआ है कि शास्त्र कथाएँ उन्हें नीरस लगती हैं, निरुपयोगी लगती हैं। शास्त्र कथाएँ मनुष्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग अदा नहीं करती।

परन्तु जो मुनि हैं, साधु हैं, उन्हें तो शास्त्राध्ययन द्वारा परमात्मा जिनेश्वर देव की अचिन्त्य कृपा का पात्र बनना ही है।

अदृष्टार्थेऽनुधावन्तः शास्त्रदीपं विना जड़ाः।
प्राप्नुवन्ति परं खेद प्रस्खलन्तः पदे पदे ॥५॥

श्लोकार्थ

शास्त्ररूपी दीपक के विना परोक्ष अर्थ में पीछे दौड़ते अविवेकी मनुष्य कदम २ पर ठोकरें खाते हुए अत्यन्त क्लेश के शिकार बनते हैं।

श्लोक विवेचन

जो प्रत्यक्ष नहीं।

कान से सुनाई देते नहीं। आँखों से दिखाई नहीं देते, नाक से सूँघे नहीं जाते, जीभ से चखे नहीं जाते—स्पर्श से जिनकी अनुभूति नहीं हो सकती—ऐसे परोक्ष पदार्थों का ज्ञान आप कैसे प्राप्त करेंगे ?

आप कब से भटक रहे हैं ? कितनी ठोकरें खाई ? कितना क्लेश हुआ ? भाग्यशाली ! इस प्रकार कब तक भटकते रहोगे ?

परोक्ष पदार्थों में मुख्य पदार्थ है आत्मा।

परोक्ष पदार्थों में महत्त्वपूर्ण पदार्थ है—मोक्ष।

परोक्ष पदार्थों में स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, महाविदेह आदि क्षेत्र""आदि अनेक पदार्थों का समावेश होता है। इन परोक्ष पदार्थों की सृष्टि के गाइड हैं शास्त्र। परोक्ष पदार्थों की पहिचान करवाने वाले, बताने वाले दीपक हैं शास्त्र ! शास्त्रों की 'गाइड' बिना, शास्त्रों के दीपक बिना आप इन परोक्ष पदार्थों की सृष्टि में उलझ जायेंगे, उकता जायेंगे। अँधा व्यक्ति अनजान प्रदेश में भटकेगा नहीं तो क्या होगा ? फिर आप कहेंगे, 'यह सब कल्पना है।'

शास्त्रों का स्पर्श किए बिना पश्चिम के देशों की डिग्री लेकर विद्वान् बने हुए और स्वयं को बुद्धिशाली मानते मनुष्य परोक्ष दुनिया को मात्र 'कल्पना' कहकर इस दिशा में कदम ही नहीं रखते।

महामुनि ! आप तो इस परोक्ष दुनिया के रहस्य जानने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हैं। आपको तो ये अगम्य, अगोचर रहस्य प्राप्त

करने ही पड़ेंगे। उसके लिये शास्त्रज्ञान का दीपक आपके पास ही रखना होगा। अंधकारपूर्ण प्रदेश में यात्रा करने वाला गृहस्थ 'बैटरी' साथ ही रखता है न। किसी खड्डे में पांव न फिसल जाए, कोई कांटा पांव में न चुभ जाए, किसी पत्थर के साथ टकरा न जाए, इसलिये बैटरी को वह बड़े ही महत्त्व का साधन समझकर अपने पास ही रखता है। परोक्ष पदार्थों की दुनिया में शास्त्रदीपक का प्रकाश फैलाती बैटरी चाहिये ही; अन्यथा अज्ञानता के खड्डे में पाँव गिर जाए, राग के कांटे पांव में चुभ जाएँ; और मिथ्यात्व के पत्थरों से टकरा जाएं—अतः शास्त्र-ज्ञान का दीपक साथ ही रखें।

परोक्ष दुनिया के रहस्य जानने हैं न? आत्मा, परमात्मा और मोक्ष की अभिनव, अद्‌भुत् और सद्‌भुत् बातें सुननी हैं न? आत्मा पर छाए हुए अनंत कर्मों के जाल की रचना जाने बिना कर्मों के बंधन कैसे तोड़ोगे? शास्त्रज्ञान के दीपक बिना कर्मों के जाल में फँसना ही होगा।

हाँ, परोक्ष पदार्थों की परिशोध में आपकी रुचि नहीं, परोक्ष पदार्थों की प्राप्ति हेतु उत्साह नहीं, परोक्ष पदार्थों का भंडार प्राप्त करने हेतु साहस करने की हिम्मत नहीं, तो शास्त्रों के ज्ञान में आपको अभिरुचि हो नहीं सकती। तो क्या शास्त्र ज्ञान का दीपक हाथ में लेकर घूमना आपको पसन्द नहीं?

परोक्ष पदार्थों को जानने देखने के लिये रस प्रचुरता चाहिये। उछलता हुआ उत्साह चाहिये, अविरल साहस करने की साह-सिकता चाहिये तो इसका 'गाइड' खोजने का मन हो न! परोक्ष पदार्थ का प्रमाण, स्थान, मार्ग, सतर्कता, पहाड़, नदियाँ, वन, महावन, साधन आदि के ज्ञान विना परोक्ष दुनिया की सफर कैसे हो सकती है?

इसीलिये शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है। हाँ, शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का विल्कुल क्षयोपशम न हो तो शास्त्रज्ञानी महापुरुषों का अनुसरण करें, उनके कथनानुसार ही चलें तब भी आप परोक्ष अर्थ के भंडार के निकट पहुँच जाएँगे। द्राविड़ और वारिखिल्ल के साथ, पुंडरिक स्वामी के साथ और पांडवों आदि के साथ करोड़ों मुनिजन परोक्ष अर्थ के शिखर पर पहुंच गए, वे कैसे ? ज्ञानीजनों के सहारे। मुनि के लिये शास्त्रज्ञान जो आवश्यक वनाया गया है वह हेतु पूर्वक है। मुनि परोक्ष दुनिया का यात्री होता है।

शुद्धोञ्छाद्यपि शास्त्राज्ञानिरपेक्षस्य नो हितम्।
भौतहन्तुर्यथा तस्य पदस्पर्शनिवारणम् ॥६॥

श्लोकार्थ

शास्त्र-आज्ञा की अपेक्षा रहित-स्वच्छंदमति को शुद्धभिक्षादि वाह्य आचार भी हितकारी नहीं जैसे भौतमति की हत्या करने वाले को भौतमति के पाँव को स्पर्श करने का निषेध करना।

श्लोक विवेचन

एक बड़ा जंगल।

जंगल में भील लोग रहते हैं।

उनका राजा 'भिल्लराजा' कहलाता है।

भिल्लराजा ने एक गुरु किए जिनका नाम 'भौतमति'।

भौतमति योगी के पास एक सुन्दर छत्र था। मयूर पंखों से वह वना हुआ था। कारीगरी का एक नमूना था। भिल्लराजा की रानी को यह छत्र वहुत पसंद आया। उसने राजा को वह छत्र ला देने के लिये कहा। भिल्लराजा तो गया गुरुदेव के पास।

'गुरुदेव ! आपका छत्र रानी को पसन्द आ गया है, कृपया दीजिये ।'

'नहीं, यह नहीं हो सकता ।'

गुरु ने छत्र देने से इनकार कर दिया । भिल्लराजा क्रुद्ध हो गया । राजसभा में आकर सिपाहियों को आज्ञा दी : 'जाओ, भौतमति गुरु का वध करके छत्र ले आओ ।'

सिपाही रवाना हुए, परन्तु तुरन्त भिल्लराज ने उन्हें पुनः बुलाकर कहा :

'देखो, गुरु के चरण-पूज्य होने से वहाँ प्रहार न करें ।'

सिपाहियों ने आज्ञा शिरोधार्य की । रवाना हुए । गुरु के पास पहुंच कर, दूर से तीर का प्रहार कर, गुरु को बींध डाला और छत्र लेकर भिल्लराजा के पास गये । राजा ने पूछा :

'गुरुदेव के चरणों का तो स्पर्श नहीं किया न ?'

'नहीं जी, हमने तो दूर से तीर फेंक कर उन्हें बींध डाला ।'

भिल्लराजा की गुरुभक्ति कैसी ?

शास्त्रों की आज्ञा का उलंघन कर आप शुद्ध ४२ दोषरहित भिक्षा ले आते हैं, निर्दोष वस्ती में उतरते हैं, महाव्रतों का पालन करते हैं, परन्तु आज्ञा का उलंघन किया अर्थात् आत्मा की हत्या की । आत्मा की हत्या कर चाहे जितने बाह्य आचारों का पालन किया जाए, उनकी कोई कीमत नहीं । जिनाज्ञा-निरपेक्ष रहकर पाले हुए बाह्य आचार आत्मा का अहित करते हैं । इसलिये जिनाज्ञा का परिज्ञान होना आवश्यक है ।

कोई मुनि ऐसा माने कि 'हमें शास्त्र स्वाध्याय की क्या

आवश्यकता है ? हम तो+बियालीस दोष टालकर भिक्षा लाएँगे। पाँच महाव्रतों का पालन करेंगे। प्रतिक्रमण प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ करेंगे, उपवास, आयंबिल आदि तप करेंगे—' ऐसा मानते और आचरण करते हुए मुनियों को संवोधित कर यहाँ कहा गया है, 'आपके वाह्य आचार आपका आत्म हित नहीं करेंगे। जिनाज्ञा के अनुसार आपका आचरण नहीं। आप जिनाज्ञा को जानने का प्रयत्नन हीं करते, यह ही भारी दोष है।'

वर्तमान काल में जिनाज्ञा ४५ आगम सूत्रों में संग्रहित है। ★११ अंग+१२ उपांग+६ छेद+४ मूल+१० पयन्ना+२ नंदी सूत्र और अनुयोग द्वार=४५ मूल सूत्र। इन पर रचित चूर्णियों, भाष्यों, निर्युक्तियों और टीकाओं इस प्रकार पंचांगी आगम का अध्ययन करने से ही जिनाज्ञा का यथार्थ वोध हो सकता है। मूलसूत्रों को ही मान कर उनके अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार करने वाला जिनाज्ञा को नहीं समझ सकता अथवा ४५ आगमों में से कुछ आगम माने, कुछ न माने तो भी उसे जिनाज्ञा का परिज्ञान नहीं हो सकता।

पंचांगी आगमों के अतिरिक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि, श्री उमास्वाति वाचक, श्री हरिभद्र सूरिजी, श्री हेमचन्द्र सूरिजी, श्री वादिदेव सूरिजी, श्री शांतिसूरिजी, श्री विमलाचार्य, श्री यशोदेव सूरि,—उपाध्याय श्री यशोविजय जी आदि महर्षियों की मौलिक ग्रन्थ रचनाओं का अध्ययन करना भी आवश्यक है। इन पूर्वाचार्य भगवंतों ने आगमोक्त जिनाज्ञाओं को तर्क सिद्ध कर जिनाज्ञाओं के रहस्य प्रकट किए हैं।

+ बियालीस दोष } देखें परिशिष्ट
★ ४५ आगम }

जिनाज्ञा का ज्ञान प्राप्त कर पाले हुए आचार आत्महित करते हैं। सदैव जिनाज्ञा-सापेक्षता अपूर्व कर्मक्षय करती है। 'अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति जिनाज्ञानुसार मैं करूँगा—' ऐसा भाव मुनि-हृदय में निरन्तर रहना चाहिये।

अज्ञानाऽहिमहामंत्रं स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम् ।
धर्मारामसुधाकुल्यां शास्त्रमाहुर्महर्षयः ।।७।।

श्लोकार्थ

बड़े ऋषि शास्त्र को अज्ञानरूपी सर्प का विष उतारने में महामंत्र समान, स्वच्छंदता रूपी ज्वर का नाश करने में उपवास समान, धर्मरूपी बगीचे में अमृत की नहर जैसे कहते हैं।

श्लोक विवेचन

कहते हैं कि

☆सर्प का विष महामंत्र उतार डालता है।

☆बुखार उपवास करने से उतर जाता है।

☆पानी के सींचने से उद्यान हराभरा रहता है।

आपको किसी सर्प का विष चढ़ा है, क्या आप जानते हैं? आपको ज्वर की गर्मी है, इसका भान है क्या? आपका उद्यान पानी विना वीरान हो गया है इस वात का आपको ख्याल है क्या?

और इसके लिये आप कोई महामंत्र खोजते हैं क्या? किसी औषधि की तलाश करते हैं अथवा पानी की नहर आपके वगीचे में वहती रहे इसका प्रयत्न करते हैं क्या? आपको इधर उधर टापने की आवश्यकता नहीं, चिंता, शोक या भय रखने की आवश्यकता नहीं।

हाँ, आप निदान करवाना चाहते हैं तो आओ, यहाँ शांति से बैठो।

आपको 'अज्ञान' नामक सर्प का विष चढ़ा है।

आपको 'स्वच्छंदता' नामक बुखार आ रहा है, काफी समय से आ रहा है—है न ?

आपका 'धर्म' नामक वगीचा सूख रहा है ?

आपको निदान सही लगे तो औषधादि लेना। जैसा निदान अचूक है वैसे ही इसके निवारण के उपाय भी अचूक हैं, अकसीर हैं, रामबाण हैं।

'शास्त्र महामंत्र का जाप करें। अज्ञान-सर्प का विष उतर जाएगा। 'शास्त्र' नाम का उपवास करें, आपका ज्वर हट जाएगा। 'शास्त्र' की नहर वहाओ, और धर्मरूपी बगीचा नवपल्लवित हो जाएगा।

इतना अवश्य समझलें कि एकाध दिन, एकाध माह, वर्ष 'शास्त्र' का स्वाध्याय करने मात्र से अज्ञान सर्प का विष नहीं उतरेगा। सम्पूर्ण जीवन में दिन-रात प्रतिक्षण शास्त्र का जाप चलता रहना चाहिये। स्वच्छंदता का ज्वर उतारने के लिये शास्त्र स्वाध्याय रूपी उपवास अनेक करने पड़ेंगे। ज्वर जीर्ण है और आत्मा के प्रदेश में उसका कुप्रभाव व्याप्त हो चुका है, उसे दूर करने के लिये अनेक उपवास करने होंगे। शास्त्र की नहर द्वारा धर्म वगीचे को निरन्तर सींचना होगा। अन्यथा सूखते देर नहीं लगेगी। शास्त्राध्ययन करने का प्रयोजन मालूम हुआ न ? इन सब लक्ष्यों से यदि शास्त्राध्ययन करेंगे तो आपकी आत्मा का रूप बदल जाएगा। विष उतरने से आपको कैसा आनन्द आएगा इसकी कल्पना करें। ज्वर उतरने से आपको

कैसी प्रसन्नता होगी– इस विषय में सोचो। बगीचा हराभरा हो जाएगा, आपको छाया ठंडक और सुगंध देगा। विषरहित होकर, निरोगी बनकर जब इस धर्म उद्यान में आप विश्राम करेंगे तब देवलोक के इन्द्र से भी बढ़कर सुख का आप अनुभव करेंगे।

हाँ, विष चढ़ा हो, ज्वर में शरीर जलता हो, उद्यान में आपको आनन्द नहीं आएगा। उद्यान की रमणीयता आपको प्रसन्न नहीं कर सकेगी। उद्यान के सुगंधित पुष्प आपको सुवासित नहीं कर सकेंगे, वहां के विश्राम स्थल आपको आराम नहीं दे सकेंगे। अतः 'शास्त्र' जिनके अर्थ स्वयं तीर्थंकर भगवान् ने कहे हैं जिन्हें लिपिबद्ध श्री गणधर भगवान् ने किये हैं, पूर्वाचार्य भगवतों ने जिन अर्थों को लोक भोग्य बनाए हैं—उन शास्त्रों का निरन्तर चिन्तन करें।

शास्त्र स्वाध्याय व्यसन रूप बन जाना चाहिये। इसके बिना चैन ही नहीं हो सकती। सब कुछ मिले परन्तु शास्त्र स्वाध्याय न हो वहां तक व्याकुलता रहे। परन्तु जैसे २ शास्त्र स्वाध्याय बढ़ता जाए, वैसे २ अज्ञान, स्वच्छंदता और धर्महीनता दूर होते जाते हैं या नहीं इसका ध्यान रक्खें। इसी लिये शास्त्र स्वाध्याय करना है, यह सदा याद रहे।

शास्त्रोक्ताचारकर्ता च शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः।
शास्त्रैकदृक् महायोगी प्राप्नोति परमं पदम् ॥८॥

श्लोकार्थ

शास्त्र में कथित आचार का पालन करने वाले, शास्त्र के जानने वाले, शास्त्र का उपदेश देने वाले और शास्त्र में एक दृष्टि वाले महान् योगी परम-पद को पाते हैं।

श्लोक विवेचन

महायोगी !

शास्त्रों के जानने वाले होते हैं।

शास्त्र का उपदेश देने वाले होते हैं।

शास्त्र में प्रतिपादित आचारों को स्वजीवन में जीने वाले होते हैं।

इन तीनों का संगम जिसके जीवन में दिखाई दे, वह महायोगी है। इन तीन बातों की चावी है : शास्त्र दृष्टि। शास्त्र दृष्टि बिना शास्त्रों का जानना सम्भव नहीं। उपदेश देना सम्भव नहीं और शास्त्रीय जीवन जीने का पुरुषार्थ भी सम्भव नहीं।

महायोगी बनने के लिए पहली शर्त है शास्त्र दृष्टि की। दृष्टि शास्त्र की ओर ही झुकी रहे। अपनी वृत्तियों, विचारों, मन के झुकावों आदि का विलीनीकरण मात्र शास्त्र में ही किया हुआ हो। शास्त्र से भिन्न जिसकी वृत्ति नहीं, विचार नहीं, शास्त्रीय बातों से अपनी वृत्तियों को भावित कर दी हों, इनके विचार ही शास्त्रीय बन गए हों, इनका सुदृढ़ संकल्प होता है कि शास्त्र से ही स्व-पर आत्मा का हित सम्भव है। अर्थात् ये महायोगी इन हितकारी शास्त्रीय बातों का ही उपदेश दें। शास्त्र निरपेक्ष रहकर, मात्र जन-अभिरुचि के अनुसार उपदेश न दें। लोगों की अभिरुचि शास्त्र विरुद्ध बातों की होती है, फिर भी ये महात्मा ऐसी बातों के उपदेश द्वारा लोकरंजन न करें। अहित-कारी उपदेश महायोगी कभी न दें।

अपना आत्महित भी शास्त्र के मार्ग दर्शनानुसार ही साधे। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में शास्त्र ने मार्ग दर्शन दे रक्खा है, बड़ी और छोटी सभी प्रवृत्तियां कैसे करें, शास्त्र ने बड़ी ही स्पष्ट और

सुन्दर विधि बताई है। योगी इसे जाने और जीए तथा सुपात्र को इसका उपदेश भी दे।

मोक्ष मार्ग की जिसे आराधना करनी हो, आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप जिसे प्रकट करना हो, उसे शास्त्र का आदर करना ही होगा। भले ही शास्त्र प्राचीन हों, परन्तु वे नित्य नूतन संदेश देते हैं। जिसे आत्महित करना है, उसके लिए तो शास्त्र के सिवाय अन्य कोई मार्ग ही नहीं। हाँ, जिसे सांसारिक जीवन जाना है, आत्मा, मोक्ष या परलोक का विचार नहीं, ऐसे विद्वान बुद्धिमान या राष्ट्रनेता भले ही शास्त्रों की परवाह न करें, भले ही शास्त्रों की उपेक्षा करें। उनके आदर्श भिन्न हैं, आपके आदर्श भिन्न हैं।

अतः मन, वचन, काया से शास्त्र की उपासना में लग जायें।

आश्विन शुक्ला ६
६-१०-१९७०

जसराज सिंघी
वरिष्ठ अध्यापक, पिंडवाड़ा

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२५ परिग्रह-त्याग

परिग्रह। इस ग्रह का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर छाया हुआ है। मनुष्य दूसरे ग्रहों के प्रभाव से मुक्त होना चाहता है पर आश्चर्य है कि 'परिग्रह' के प्रभाव से प्रभावित होना चाहता है। इस पाप ग्रह के क्या असर हैं, ये आपको जानना ही पड़ेगा। हृदय को कंपाने वाली एवं धन-मूर्छा को थर्राने वाली परिग्रह की बातें पढ़कर आपको एक नई दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी।

न: परावर्तते राशेर्वक्रतां जातु नोज्झति ।

परिग्रहग्रहः कोऽयं विडम्बितजगत्त्रयः ॥१॥ १६३

श्लोकार्थ

जो राशि से पीछे फिरता नहीं है, कभी भी वक्रता छोडता नहीं है, जिसने तीनों लोक को विडम्बना दी है, ऐसा यह 'परिग्रह रूप' ग्रह कौनसा है ?

विवेचन

सौ–दो सौ, हजार दो हजार,

लाख–दो लाख········करोड़ दो करोड़······· ?

अरब·······दस अरब········? बस, आगे अङ्क बढ़ता ही जाता है। पीछे घूम कर देखने की बात ही नहीं·······'परिग्रह' नाम का ग्रह जिस जीव के जन्म नक्षत्र पर छाया हुआ है, उसकी छत्र–छाया में तृष्णा और इसकी व्याकुलता देखी है क्या ? अगर आप स्वयं इस पापी ग्रह के असर से दबे हुए हो तो आपको इसकी छत्रछाया में······ तृष्णा या व्याकुलता का दुःख दिखाई नहीं देगा। तूफानी नदी में बहता हुआ मनुष्य दूसरे बहते हुए जीवों को देख नहीं सकता·······नदी के तट पर खड़े हुए मनुष्य इन जीवों की विडम्बना, दुःख एवं असहाय अवस्था देख सकते हैं। 'परिग्रह' ग्रह के असर से मुक्त महापुरुष ही देख सकते हैं कि परिग्रह ग्रह के सर्वभक्षी असर में जीव कितने छटपटाते हैं।

धन–सम्पत्ति और वैभव के अनंत शिखर पर आरोहण करने वाला या मंथन करने वाले जीवों को करुणासिन्धु उपाध्यायजी कहते हैं कि हे जीव ! तू यह व्यर्थ पुरुषार्थ छोड़ दे।

आज दिन तक कोई मनुष्य या देव-देवेन्द्र भी इस भौतिक सम्पत्ति के शिखर पर पहुंचा नहीं है……क्योंकि इसके शिखर पर पहुँचना सम्भव नहीं है……यह अनंत है। इस मन मोहक दिखने वाले शिखर के अरमान छोड़ दे। व्यर्थ में दुःख क्यों सहन करता है ?

और इस परिग्रह की धूर्तता तो देखो! जीव की इच्छा विरुद्ध ही चलता है। जिसको सम्पत्ति वैभव का बिलकुल ही मोह नहीं है उसके चारों तरफ से सम्पत्ति की वर्षा होती है……और जो वैभव के लिए लालायित रहता है……उससे यह करोड़ों कोस दूर रहता है। परिग्रह ही मानव की भव्य भावना को भस्म करता है……विवेक को गायब कर देता है……फिर देखिये इन मनुष्यों की धूर्तता……यह सीधा चलता ही नहीं है।

किसी भी खगोल शास्त्री ने आज दिन तक तीनों लोक को अशान्त करने वाले 'परिग्रह' की खोज नहीं की……इसके व्यापक असरों का कारण नहीं खोजा। इस 'ग्रह' को तो सिर्फ सर्वज्ञ परमात्मा ने ही देखा है और इसके असरों की व्यापकता बताई है।

असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात् परिग्रह नियन्त्रणम्॥

—योग शास्त्र

परिग्रह यानी मूर्छा…लोभ…लालच। इसका फल है असंतोष, अविश्वास और आरम्भ। इन तीनों का फल है दुःख, वेदना और अशान्ति। इसलिए परिग्रह का नियंत्रण करना चाहिए।

त्रिभुवन को नचाने वाले इस दुष्ट ग्रह को निस्तेज किये

विना सुख शान्ति मिलना दुष्कर है। सगर चक्रवर्ती के करोड़ पुत्र थे ? कुचिकर्ण के असंख्य गायें थी ? तिलक श्रेष्ठि के अथाह धान्य था ? और मगध सम्राट नंदराजा के पास कितना स्वर्ण था ? तो भी क्या तृप्ति थी ? शान्ति थी ?

परिग्रह की वृत्ति द्रव्य का उपार्जन-संरक्षण और बढ़ाने की इच्छा कराती है। इन इच्छाओं से दूसरे पदार्थों में ममत्व दृढ़ होता जाता है। आसक्ति बढ़ती ही जाती है.......इससे एक तरफ धर्म क्रिया करने के बावजूद भी आत्म भाव निर्मल नहीं बनता है। तामस एवं राजस वृत्ति उमड़ती रहती है। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरिजी महाराज कहते हैं।

'दोषास्तु पर्वत स्थुला: प्रादुष्यन्ति परिग्रहे'

परिग्रह पर्वत के समान महान दोष पैदा करते हैं। परिग्रह से ओतप्रोत मनुष्य अपने पिता की भी हत्या कर देता है। परमात्मा एवं सद्गुरु की भी अवहेलना करता है.......साधु सन्तों की हत्या करना.......असत्य बोलना, चोरी करना आदि.......।

धन-धान्य-परिवार-बंगला-मोटर.......आदि परिग्रह है। आत्मा से भिन्न पदार्थों पर मूर्छा ममत्व परिग्रह है। परिग्रह का त्याग किये बिना आत्मा शान्त-प्रशान्त नहीं बन सकती।

परिग्रहग्रहावेशाद् दुर्भाषितरज: किराम् ।
श्रयन्ते विकृता: किं न प्रलापा लिङ्गिनामपि ॥२॥ १९४

श्लोकार्थ

परिग्रह रूपी ग्रह के प्रवेश होने से पवित्र साधु संतों के वेष धारण करने वालो में क्या विकार वाली बकवास सुनाई नहीं पडती है ?

विवेचन

धन-सम्पत्ति-बंगला मोटर आदि में खोये हुए, परिग्रह के रंग में रंगे हुए गृहस्थ की बात छोड़ दें, परन्तु जिसने सब बाह्य परिग्रह का त्याग किया है, जिन्होंने त्यागी मुनि का वेष धारण किया है, जिन्होंने आत्मानन्द की पूर्णता का पंथ पकड़ा है…….. ऐसे जब परिग्रह के रंग में रंगे हुए देखने को मिलते हैं तब क्या ज्ञान दृष्टि वाले पुरुष को खेद न होगा ?

मुनि और परिग्रह ? परिग्रह की गठरियों को संभालता हुआ मुनि, मुनि जीवन के कर्तव्यों से भ्रष्ट हो जाता है। पवित्र महाव्रतों के पालन में शिथिल बन जाता है। जिन मार्ग की आराधना के आदर्श को कलंकित करता है। अगर ज्ञान और चारित्र के विपुल साधनों के संग्रह करने के बाद भी मुनि यह समझते हैं कि वह उचित नहीं कर रहा है….परिग्रह के पाप में डूब रहा है, वह मुनि दूसरों को परिग्रह का मार्ग नहीं बतावे। वह परिग्रह के माध्यम से अपना गौरव गान न करे। उसका अनुकरण करते हुए दूसरे मुनियों को वह कहेगा, "महात्माओ इस जाल में मत फसना…….मार्ग भ्रष्ट हो जाओगे, मैं तो इसमें जकड़ गया हूँ….मेरा अनुकरण करना योग्य नहीं है। आप निर्लेप रहिये….आराधना के पथ पर आगे बढ़िये।"

परन्तु जो मुनि आंतर निरीक्षण नहीं करता, अपने दोषों को नहीं देखता….वह तो परिग्रह इकट्ठा करने वाला मजदूर बनने वाला है और दूसरों को भी परिग्रही बनने का उपदेश ही देगा। उसका उपदेश मार्गानुसारी नहीं है पर उन्मार्ग पोषक है। वे कहेंगे….'हम तो सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग् चारित्र के साधन रखते हैं….हम कहाँ कंचन और कामिनी का संग करते हैं ?

फिर पाप किसका ? और जो हम रखते हैं उस पर हमें ममत्व कहाँ है ? ममत्व हो तो परिग्रह !' ऐसे अपना बचाव करेंगे और यह परिग्रह तो रख सकते हैं ऐसा उपदेश देंगे।

उपदेश देकर पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए लाखों रुपये इकट्ठे कर उस पर अपना अधिकार स्थापित करना, या अपने भक्त की तिजोरी में वह रकम रखवाना क्या यह परिग्रह नहीं है ? हजारों पुस्तकें खरीद कर उन पर अपना नाम लिखना.... या उस संग्रह का मालिक बनना, क्या यह परिग्रह नहीं है ? इतना ही नहीं इन सब कार्य कलापों पर गर्व करना और उससे अपनी महत्ता बताना .. क्या यह मुनित्व है ? पूज्य उपाध्यायजी महाराज ऐसे परिग्रही को 'वेषधारी' कहते हैं। सिर्फ परिधान मुनि के हैं पर आचरण गृहस्थ का। अपरिग्रह के उपदेश देने वाले ही परिग्रह के शिखर को फतह करने की प्रतिस्पर्धा करते हैं, तो कौन से ज्ञानी पुरुष का हृदय दुःखी नहीं होगा ?

एक त्यागी महात्मा के पास एक श्रीमंत भक्त गया, वंदना करके महात्मा को कहा; 'मुझे एक हजार रुपये दुःखी लोगों को देने हैं....आपको जो उचित लगे उन्हें दीजिये।'

भक्त ने सौ सौ के दस नोट निकाल कर महात्मा के सामने रक्खे। महात्माजी ने कुछ क्षण भक्त की तरफ देखा और कहा– 'यह काम आप अपने मुनीम को सौंपे। मैं मुनीम नहीं हूँ।' सेठ ने नोट जेब में रक्खे....क्षमा मांगी, और चले गये। हृदय में मुनि को धन्यवाद भी देने लगे।

मुनि जीवन में भी इस तरह परिग्रह प्रवेश करता है....अगर इसमें सावधानी नहीं बरती जाये तो परिग्रह के पाप का असर बहुत ही बढ़ जाता है। श्री हेमचन्द्र सूरिजी महाराज ने कहा है—

तपः श्रतपरीवरां शमसाम्राज्यसम्पदम् ।
परिग्रह–ग्रहग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ।।
योग शास्त्र

परिग्रह का पापी ग्रह जव योगी पुरुषों को भी जकड़ लेता है तव तप, त्याग, ज्ञान-ध्यान, क्षमा नम्रता आदि आभ्यन्तर लक्ष्मी को छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं जैनमत के अपरिग्रहवाद को भौंडे रूप में प्रकट करते हैं। क्या ऐसे वेषधारियों से अपना परिग्रह पर वचाव करते नहीं सुना ? 'उपमति' में कहा है कि ऐसे प्राणी अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं—

यस्त्यक्त्वा तृणवद् वाह्य मांतरम् च परिग्रहम् ।
उदास्ते तात्पदाम्भोजं पर्युपास्ते जगत्त्रयी ।।३।। १६५

श्लोकार्थ

जो तिनके की तरह वाह्य एवं आभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर उदासीन रहता है उसके चरण कमल की तीनों लोक सेवा करते हैं।

विवेचन

वे पवित्र पुरुष वंदनीय हैं, पूजनीय हैं जो धन, सम्पत्ति, सोना, चाँदी, हीरा मोती आदि का त्याग करते हैं। वे महात्मा सेवनीय हैं जो मिथ्यात्व—अविरति, कषाय, गारव-प्रमाद का त्याग करते हैं फिर निर्मोही और अहंकार रहित वनकर पृथ्वी पर विचरण करते हैं। ऐसे त्यागी महापुरुष ही वंदनीय हैं। जिनकी वंदन, भक्ति करने से कर्म क्षय एवं दोषों का नाश होता है और गुण विकसित होते हैं।

धन-संपत्ति आदि वाह्य परिग्रह हैं।

मिथ्यात्व अविरति आदि आभ्यंतर परिग्रह हैं।

इन दोनों परिग्रहों को योगी तिनके के समान त्याग करते हैं। जिस तरह घर का कूड़ा कर्कट वाहर फेंकते समय उसे छोड़ने का गर्व नहीं होता है क्योंकि यह तो फेंकने लायक ही वस्तु थी तो उस पर गर्व कैसा? कचरा समझ कर फैंके हुए पदार्थ पर आकर्षण नहीं होता है परन्तु बहुमूल्य समझ कर किसी पदार्थ को छोड़ने पर भी उस तरफ पुनः पुनः आकर्षण-ममत्व हुए विना नहीं रहता है।

मैंने लाखों करोड़ों का वैभव छोड़ दिया है.. विशाल परिवार का सुख छोड़ दिया ...मैंने महान् त्याग किया है। अगर यह विचार आये तो समझिये कि परिग्रह का तिनके के समान त्याग नहीं किया है। इस तरह के त्याग के पीछे उदासीनता नहीं आती है, त्यागी अपने त्याग का कभी भी वखान नहीं करता है, मन में भी अपने त्याग को महत्व नहीं देता है।

शालिभद्र ने ३२ पत्नियों का और नित्य नई नई ६६ पेटियों का त्याग किया था.. ममतामयी माँ का त्याग किया....यह तिनके के समान त्याग था....इसलिए वैभारगिरि पर वंदन के लिए आये हुए अपनी माता व पत्नियों के सामने तक नहीं देखा.... उदासीनता को धारण कर सनत्कुमार ने चक्रवर्ती पद का त्याग किया....छः महिने तक पीछे-पीछे चलते हुए उनके माता पिता एवं लाखों रानियों की तरफ पीछे मुड़कर भी नहीं देखा! उदासीनता धारण कर आगे बढ़ गये।

वाह्य परिग्रह के त्याग के साथ आभ्यंतर परिग्रह का त्याग होना चाहिए, तभी उदासीनता आती है....निर्मम भाव प्रकट होते हैं। अगर आभ्यंतर परिग्रह....मिथ्यात्व एवं कषाय को नहीं त्यागा गया तो पुनः वाह्य परिग्रह की लालसा जागृत होती है। ....इतना ही नहीं, मानव जीवन के परिग्रह करते हुए अनंत गुण

एवं दैवी सुखों के परिग्रह को प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है।

मनुष्य, जीवन के सुखों को त्याग कर देवलोक के सुख प्राप्त करने के लिए चारित्र भी ले लेते हैं तो भी वह अपरिग्रही नहीं बनता है। आभ्यंतर परिग्रह की गांठ वैसी की वैसी ही रहती है।

बाह्य—आभ्यंतर परिग्रह का त्यागी निर्मम—निरहंकारी बनकर आत्मानंद की पूर्णता में स्वयं को पूर्ण समझते हैं। बाह्य पदार्थों से पूर्ण होने की कभी भी इच्छा नहीं करता है। बाह्य पदार्थों का संयोग अपने स्वयं के लिए अपूर्ण समझता है। इस-लिए बाह्य पदार्थों का त्याग कर मन से भी इसके राग को नष्ट कर देते हैं।

बाह्य ३२ करोड़ स्वर्ण मुद्रायें एवं ३२ स्त्रियों के परिग्रह को तिनके के समान त्याग कर और आभ्यंतर रागद्वेष को त्याग कर ध्यान में मस्त धन्नाअणगार की जब भगवान महा-वीर ने समवसरण में प्रशंसा की तब वहाँ बैठे हुए देव-देवेन्द्र, मानव, पशु पक्षी ऐसा कोई भी नहीं था कि जिसने धन्ना अण-गार को नमन न किया हो? मगध सम्राट श्रेणिक तो वैभार गिरि के पत्थरों को लांघकर धन्नाअणगार के दर्शनों के लिए दौड़ पड़े, और इस महर्षि के दर्शन कर इनके चरणों में अपना मस्तक झुका लिया। आज भी 'अनुत्तरोपपातिक सूत्र' में इसके प्रमाण मौजूद हैं। बाह्य आभ्यंतर परिग्रह के त्यागी इन अण-गार को तीनों लोक ने प्रणाम किया था और आज अपन भी करते हैं।

हृदय की परम शान्ति, आत्मा की पवित्रता और मोक्ष मार्ग की आराधना परिग्रह त्याग पर अवलंबित है। परिग्रह में व्याकुलता, वेदना एवं पाप का भंडार है।

चित्ते ऽन्तर्ग्रन्थि गहने वहिर्निर्ग्रन्थता वृथा ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य भुजगो न हि निर्विषः ॥४॥ १६६

श्लोकार्थ

अंतरंग परिग्रह से अगर मन व्याकुल है तो वाह्य संसार त्यागी मुनि जीवन भी व्यर्थ है क्योंकि केंचुलिमात्र छोड़ने से सर्प विष रहित नहीं होता है ।

विवेचन

भले ही आपने वस्त्र परिवर्तन किया, घर त्याग कर उपाश्रय में वास किया, केश मुंडन करा कर केश लुंचन कराने लगे, धोती या पेन्ट पहनना छोड़कर 'चोल पट्टक' पहनने लगे, जूते छोड़कर नंगे पैर चलने लगे परन्तु इससे मन की व्याकुलता, विवशता या अस्थिरता दूर नहीं होगी ।

तो क्या करना चाहिए ?

आभ्यंतर परिग्रह को त्याग कर पुरुषार्थी बनिये । जो परिग्रह आपने त्याग किया उसको याद कर उसके रागी न बनो । त्याग किये वाह्य परिग्रह से उच्चकोटि के परिग्रह को प्राप्त करने के लिए उतावले न वनो तो ही मन प्रसन्न एवं पवित्र वना रहेगा । जव तक अंतरंग रागद्वेष एवं मोह ग्रन्थि का छेदन नहीं होगा, भौतिक पदार्थों का हृदय से आकर्षण खत्म नहीं होगा तव तक मन की स्वस्थता आ ही नहीं सकती । आंतरिक मलिन इच्छाओं का संग्रह–परिग्रही मन को हमेशा रोगी ही रखता है ।

'इस अंतरंग परिग्रह का त्याग तो कठिन है ?'

इसके त्याग किये विना बाह्य निर्ग्रन्थ-वेश वृथा है । भले ही सर्प अपनी केंचुली उतार देता है परन्तु जब तक वह केंचुली के साथ साथ विष को नहीं छोड़ता तो वह विषरहित नहीं बनता

आपने वाह्य वेश एवं बाह्य आचरण में परिवर्तन किया परन्तु सिर्फ इतने से क्या ? क्या आप उस लक्ष्मणा साध्वी का नाम नहीं जानते हैं।

प्राचीन काल की बात है। राजकुमारी लक्ष्मणा ने समग्र संसार के परिग्रह को छोड़ दिया। भगवान के आर्या संघ में साधना आरंभ की। कैसी अद्‌भुत साधना ! ज्ञान एवं ध्यान का समन्वय किया। विनय एवं वैयावृत्य की संवादिता-साधना की। एक दिन इनकी दृष्टि चकवा एवं चकवी के जोड़े पर पड़ी.... जोड़ा मैथुन क्रिया में मस्त था....वह विचारने लगी 'भगवन् ने मैथुन का सर्वथा निषेध किया है...वे स्वयं विकार रहित हैं.... उन्हें विकारी जीवों के संभोग सुख का अनुभव कहाँ है ?'

संभोग सुख के अंतरंग परिग्रह से लक्ष्मणा साध्वी का हृदय विचलित हुआ। मैथुन क्रिया के देखने से संभोग सुख के परिग्रह की कामना जाग्रत हुई। इस परिग्रह को त्याग करने के उपदेश देने वाले तीर्थंकर भगवंत भी अज्ञानी लगे।

क्षण दो क्षण के बाद लक्ष्मणा स्वस्थ हुई....अरे रे....मैंने यह क्या विचार किया ! भगवंत तो सर्वज्ञ हैं....जगत की कोई भी वस्तु इनकी अजानी नहीं है....यह सब जानते हैं....मुझ दुर्भागिनी ने गुरुदेव के लिए ऐसा अनुचित विचार किया....।

उसने भगवंत के समक्ष प्रायश्चित करने का विचार किया.... एक कदम आगे बढ़ी और रुक गई.......'प्रायश्चित करने के लिए मुझे मेरे मन के विकार प्रभु को कहने पड़ेंगे....मेरे लिए समवसरण में बैठे हुए अन्य जन क्या विचार करेंगे ! लक्ष्मणा इतने नीच विचार करने वाली है ! नहीं, नहीं, मैं प्रायश्चित स्वयं ही कर लूंगी....भगवान को पूछूँगी कि, 'प्रभु ऐसे विचार करने वाले को क्या प्रायश्चित लेना पड़ता है ! मैंने ऐसा विचार

किया, इसका क्या प्रायश्चित है ! ऐसा नहीं पूछूँगी ।

ऐसे दूसरे अंतरंग परिग्रह ने उसका मन डांवाडोल कर दिया....चित्त चंचल बन गया । 'माया' यह अंतरंग परिग्रह है । भले ही उसने अपना पाप स्वमुख से स्वीकार नहीं किया तो भी आज हजारों साल व्यतीत होने के बाद भी अपन को यह पाप जानने को मिला । कैसे ? सर्वज्ञ वीतराग से कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती है । लक्ष्मणा संसार की योनियों में भवभ्रमण कर रही है । यह है अंतरंग परिग्रह की लीला ।

बाह्य परिग्रह को त्याग करने के बावजूद भी अगर अंतरंग परिग्रह की गांठ रह गई तो संसार परिभ्रमण के सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है । इसलिए यहाँ उपाध्यायजी ने कहा है कि अगर तुम्हारा मन अंतरंग परिग्रह से व्याकुल है तो बाहर का साधू वेष आदि सब व्यर्थ है, अर्थहीन है.... । ऐसा कहकर साधू वेष छोड़ने के लिए नहीं कहते हैं, परन्तु अंतरंग परिग्रह को त्याग करने की भव्य प्रेरणा देते हैं ।

त्यक्ते परिग्रहे साधोः प्रयाति सकलं रजः ।
पालित्यागे क्षणादेव सरसः सलिलं यथा ॥५॥ १६७

श्लोकार्थ

परिग्रह का त्याग करने से साधू का सर्व पाप क्षण मात्र में चला जाता है । जैसे दीवार टूटते ही सरोवर का पानी चला जाता है ।

'विवेचन'

लबालब भरे हुए सरोवर के पानी को निकालना है, तो उसकी दीवार तोड़ दो ? सरोवर पानी रहित बन जायेगा । दीवार तोड़नी नहीं और सरोवर खाली करने की बात करना, यह कैसे संभव हो ?

आपके आत्म सरोवर में भरे हुए पाप रूपी पानी को निकालना है ? तो परिग्रह की दीवार तोड़ दे !.......अवश्य, तोड़नी ही पड़ेगी, इसके सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है। मैं जानता हूँ कि आपने इस दीवार को बांधने के लिए रात दिन महनत की है, संयम और स्वाध्याय को त्यागकर इस दीवार को बांधने में आपने अपना सर्वस्व लगा दिया है। महाव्रतों को कलंकित कर इस दीवार के सौंदर्य को निखारा है।...पर मैं कहता हूँ कि आप इस दीवार को तोड़ दें।...... इसके विगर आत्म सरोवर में भरा हुआ पाप का पानी वाहर नहीं निकलेगा।

इस रमणीय परिग्रह....की दीवार पर वैठ कर नयन रम्य स्त्री कथा, सुस्वादु भोजन, देश तथा राजतन्त्र आदि की वातें करने में आपको आनन्द आता है, भोले निरपराधी जीवों के सन्मान में ठेस पहुँचाने में लीन हो....आप इस परिग्रह की दीवार पर जमे हुए हो और खुशामदियों के वीच आप अपने को महान् समझ रहे हो। परन्तु यह याद रक्खें कि अगर दीवार से आप फिसल गये तो अगाध पाप रूपी जल में समाधि लेनी पड़ेगी....वहाँ वैठे हुए खुशामदियों में से कोई भी इस अगाध जल से आपको वाहर निकालने के लिए पानी में नहीं कूदेगा।

परिग्रह की दीवार पर अलख लगा कर वैठे हुए आप, वहाँ के शाश्वत नियम को जानते हैं ? दीवार पर वैठ कर पानी को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करते हैं तो वह अगाध पाप, जल में फैल जाता है....भले ही आपका वेष त्यागी का हो, भले ही आपका उपदेश वैराग्य का हो, आपकी क्रियाऐं जिन मार्ग की हो, लाखों भक्त आपकी जयजयकार करते हों, आंखे वन्द कर आप पद्मासन करते हैं या घोर तपश्चर्या करते हो परन्तु अगर ये सब परिग्रह की दीवार पर वैठकर ही करते हैं, तो आत्मा

को कोई लाभ नहीं....आखिर आप दीवार पर से गिरने वाले हैं और अगाध पाप रूपी जल में डूब मरने वाले हैं।

परिग्रह की दीवार पर बैठ कर आप संसार को अपरिग्रह का उपदेश देते हैं? आप खुद इस दीवार को तोड़ दीजिये.... पाप का पानी बहा दो....क्या आपको इस दीवार पर बैठ कर दुर्गन्ध नहीं आयेगी? शायद, इसके आदी हो गये हो। आप इस जगह बैठकर साधुत्व को क्यों लज्जित करते हैं? हाथ में कुदाली व फावड़े लेकर परिग्रह के पाल को तोड़ दो! पूर्ण उत्साह से उस पर पिल पड़ो।

जब दीवार टूट जायेगी...पाप का पानी बह जायेगा.... तब आप निर्मल, आत्म सरोवर के किनारे खड़े होकर कोई अलग ही अनुभूति करेंगे। आप को महसूस होगा कि अब तक परिग्रह में संयम का अमृत सूख गया था और हृदय का केसर से सुवासित महाव्रतों का बगीचा किसी ने उजाड़ दिया था। आंखों के सामने किसी ने अंधेरा फैला दिया था। साधना आराधना का खिलता हुआ बाग नष्ट कर दिया था और जगह जगह सिर्फ ठूंठ ही रह गये थे। परिग्रह के पाप से सर्वविरति जीवन के सम्बन्ध टूट गये थे। विरक्ति के भेष में आसक्ति का जाल बनाया था।

परिग्रह के पाप से ही तो साधु, महाव्रतों का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित होते हैं। परिग्रह का ममत्व ही तो इन्हें क्रोध, कषाय, रस, ऋद्धि, शाता आदि का उपभोग करने के लिए उत्साहित करता है। जहां परिग्रह को छोड़ दिया वहाँ क्रोध, कषाय आदि स्वतः ही शान्त हो जायेंगे। गारव से घृणा हो जायेगी। ...महाव्रतों के पालन में स्थिरता एवं दृढ़ता आजायेगी।

जव आप कुटुम्व, परिवार, धन सम्पत्ति, एवं दूसरी अनेक सुख सुविधा छोड़ कर श्रमण (साधु) वने हैं तो अव साधु जीवन में मामूली परिग्रह छोड़ने में हिचक क्यों ? समुद्र पार करने पर किनारे आकर डूवने की गलती क्यों ? इसलिए परिग्रह की दीवार को तोड़ दो, आत्म सरोवर से पाप का पानी वह जायेगा फिर आप निर्मल वन जायेंगे।

त्यक्तपुत्र कलत्रस्य मूर्च्छामुक्तस्य योगिनः।
चिन्मात्रप्रतिवद्धस्य का पुद्गल नियंत्रणा ॥६॥१६८

श्लोकार्थ

जिसने पुत्र और स्त्री का त्याग किया है, जो ममत्व रहित हैं और सिर्फ ज्ञान में ही लीन हैं ऐसे योगी को पुद्गल का वन्धन क्यों हो ?

विवेचनः

अलख जगाने वाला—भौतिक सुखों से लापरवाह योगी क्या किसी का वन्धन स्वीकार करता है ? वह तो वन्धन रहित होकर आत्म ज्ञान में लवलीन रहता है।

योगी ! तेरे योग को संभाल। योग पर भोग की सेवाल तो नहीं जम गई है ? योग के ऊपर भोग के भूत ने तो अधिकार नहीं जमाया है ? नहीं तो तेरे किये हुए त्याग निष्फल जायेंगे। तूने स्त्री, पुत्र-पुत्री, वंगला, मोटर, गद्दी तकिया, कोमल गुदगुदे मुलायम विस्तर आदि सव सुख त्याग दिया, अव तुम्हारे लिए, यह मेरा है, ऐसा कोई नहीं है ? तूने सर्व ममत्व को तोड़ दिया है....तुझ पर अव किसी भी जड़ चेतन पदार्थ का अधिकार नहीं हो सकता।

हे योगी ! तेरी चेतना जाग्रत हो गई है इसलिए परिग्रह के पत्थरों को उखाड कर फेंक दिया है। अव तुझ पर पुद्गल का प्रभाव नहीं हो सकता है, द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव का

कोई भी बन्धन तुझ पर असर नहीं कर सकता क्योंकि चेतना शक्ति किसी भी बन्धन को स्वीकार नहीं करती है। जबरदस्ती कोई भी नियंत्रण तुझ पर नहीं रख सकते हैं।

'मुझे ऐसे ही या इस तरह के ही वस्त्र चाहिए, ऐसे ही पात्र पेन, घड़ी, काष्टासन एवं चौकी चाहिये ऐसा द्रव्याग्रह, हे योगी तुझे शोभा नहीं देगा ! इन द्रव्यों के सिवाय तुम्हारा काम नहीं चलता है तो द्रव्यों की अपेक्षा तेरा चित्त निरंतर क्षुब्ध रहेगा।

'मुझे तो गांव में या शहर में ही रहना है, निर्जन स्थान प्रिय नहीं है, वह स्थान अच्छा लगता है जहाँ लोग लगातार आते जाते हों, सुन्दर उपाश्रय चाहिए, ऐसा गांव पसन्द है जहाँ गर्मी कम पड़ती हो……यह सब क्षेत्राग्रह है। क्षेत्र का नियंत्रण योगी पर ? या योगी का नियंत्रण क्षेत्र पर ? तू स्वयं क्षेत्र-निरपेक्ष होकर विचार कर। गांव हो या जंगल, सुविधा हो या असुविधा, तू तो ज्ञानानन्द में तल्लीन हो जा। तू अपने को किसी भी बात में न समझ। ज्ञान की पूर्णता का आभास होने पर पुद्गलों से पूर्ण होने की—सुखी बनने की कल्पना भाप बनकर उड़ जाती है।

मुझे सर्दी प्रिय है। गर्मी की ऋतु तो बहुत परेशान करती है……चौमासे में जहाँ वर्षा की झड़ी लगती हो वहाँ रहने की इच्छा करना आदि ऐसा काल प्रतिबन्ध तुम्हें परेशान करता है ? अगर ऐसे काल सापेक्ष विकल्पों में डांवाडोल होते हो तो तू 'चिन्मय' नहीं बना, यह निश्चित बात है। पुद्गल नियंत्रण में तू कैदी है।

तुझे 'भाव सापेक्षता' तो दुःख नहीं देती है ? तेरे गुणों का गान होता हो, उल्लासमय वातावरण हो……अन्य जीवों के

अच्छे बुरे भावों का तेरे पर असर पड़ता है ? और उसी अनुसार राग द्वेष होता है तो तू योगी कैसे हुआ ?

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से तू निरपेक्ष बन ! पुद्गल निरपेक्ष बने बिना भवसागर तिर नहीं सकोगे। चित्त स्वस्थ रह नहीं सकेगा। सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में तल्लीन नहीं हो सकोगे। तुम संसार त्याग कर साधु बने, मोह त्याग कर मुनि बने, और अंगना त्याग कर अणगार बने। इस तरह ज्यादातर अपेक्षा तो छोड़ दी है। अब तुम्हें मानसिक त्याग करना है……अब स्थूल त्याग से सूक्ष्म त्याग की भूमिका निभानी है। जो त्याग किया है उसमें संतोष न मानो। इसको अपने कल्पना लोक में मत रक्खो परन्तु तुम्हें अभी भी बहुत त्याग करना है। पुद्गल नियंत्रण से तुम्हें सर्वथा मुक्त होना है, यह बात गांठ बांध लो। यह शरीर भी पौद्गलिक है, इसके नियंत्रण से भी छूटना है तो दूसरे पौद्गलिक पदार्थों की तो बात ही क्या है। जिन पौद्गलिक पदार्थों का संग अनिवार्य है, उसके साथ भी उनका तुम्हारे पर नियंत्रण नहीं होना चाहिए। तुम्हारा इनके ऊपर नियंत्रण होना चाहिए। पुद्गल पर तुम्हारा नियंत्रण रखकर उससे निरपेक्ष बन कर रहो तो ही ज्ञानानन्द में लीन होंगे।

चिन्मात्रदीपको गच्छेत् निर्वातस्थानसंनिभैः ।
निष्परिग्रहतास्थैर्यं धर्मोपकरणैरपि ॥७॥ १६६

श्लोकार्थ

ज्ञानरूपी दीपक, पवन रहित स्थान की तरह धर्म के उपकरण से भी परिग्रह त्याग रूप स्थिरता को प्राप्त करता है।

विवेचन

दीपक,

पात्र में घी भरा हुआ है, रूई की बत्ती है। प्रकाश झलझलाता है। पवन का कोई झौंका नहीं, तो ज्योति बुझने का अंदेशा नहीं। यह स्थिर है और प्रकाश फैल रहा है।

तत्वज्ञानी महर्षि एवं दार्शनिकों ने ज्ञान को दीपक की उपमा दी है। जिस तरह स्थूल जगत में दीपक के प्रकाश की आवश्यकता रहती है उसी तरह आत्मा के सूक्ष्म प्रदेश में ज्ञान दीपक की आवश्यकता रहती है। परन्तु निद्रा में मनुष्य जैसे प्रकाश नहीं चाहता है उसी तरह मोह निद्रा में ज्ञान का प्रकाश भी नहीं चाहता है। अज्ञान के अंधकार में मोह निद्रा फलती फूलती है।

दीपक स्थिर हो, उसमें घी या तैल हो एवं शान्त पवन रहित जगह पर हो तो उसकी ज्योति प्रकाश फैला सकती है। ज्ञान दीपक के लिए भी ये शर्तें अनिवार्य है।

ज्ञान दीपक का घी-तैल तो सुयोग्य भोजन है।

ज्ञान दीपक का पवन रहित स्थान धर्म के उपकरण हैं।

हां, ज्ञानोपासना लगातार चलती रहे, धर्म ध्यान और धम चिंतन निरावाध गति से होता रहे, इसलिए आप घटिया और जीर्णशीर्ण श्वेत वस्त्र पहनते हो तो यह परिग्रह नहीं है। सतत स्वाध्याय को चालू रखने के लिए अगर आप वस्त्र, पात्र ग्रहण करते हैं तो यह परिग्रह नहीं है। वस्त्र, पात्र धर्म साधन आदि ग्रहण करने में और धारण करने के लिए दो शर्तें हैं—

(१) निःस्पृह वृत्ति से ग्रहण करना।
(२) ज्ञान दीपक को जलते रखना।

भले ही दिगम्बर कहें कि 'तुम परिग्रही हो··· ······ज्ञान से ओतप्रोत मुनि को वस्त्र नहीं पहनने चाहिए और पात्र नहीं रखने चाहिए' इस विधान में उनका यह तर्क है कि वस्त्र-पात्र ग्रहण करना या धारण करना मूर्छा के कारण होता है।

इनके कहने से न तो अपन परिग्रही वन सकते हैं और न वे अपरिग्रही हो सकते हैं। वस्त्र-पात्र ग्रहण करने में मूर्छा ही होती है तो भोजन करने में मूर्छा क्यों न हो ? क्या भोजन राग द्वेप का निमित्त नहीं है ? क्या कमंडलु और मोरपंख रखने में परिग्रह नहीं है ? हां, शरीर भी परिग्रह है ? दिगम्बर मुनि भोजन करते हैं, कमंडलु और मोरपंख रखते हैं······कड़कड़ाती सर्दी में घास से भरी हुई पेटी में गहरी नींद लेना, क्या यह शरीर की मूर्छा नहीं कही जायेगी ? असंयमी संसारी जीवों को औपधि आदि वताना क्या यह अपरिग्रह का लक्षण है ?

हे मुनिवरो, जो आप शास्त्र मर्यादा में रहकर चौदह प्रकार के धर्म उपकरण ग्रहण करते हो, जिससे आपका ज्ञान दीपक अखंड रहता है तो आप परिग्रही नहीं हैं। सिर्फ नग्न रहने से अपरिग्रही और वस्त्र पहनने से परिग्रही नहीं वन सकते हैं। गलियों में भटकते हुए कुत्ते भी नग्न रहते हैं ? क्या उन्हें अपरिग्रही मुनि कहेंगे ? और दशहरे में घोड़े को वहुत सजाया जाता है तो क्या घोड़े को परिग्रही कहेंगे ? न तो कुत्ता मूर्छा रहित है और न घोड़े को शृंगार से मूर्छा है।

ज्ञान दीपक वुझ न जाये, यह लक्ष्य है। ज्ञान दीपक को सतत जलता रखने के लिए अगर आप शास्त्रीय उत्सर्ग–अपवाद का मार्ग लेते हैं तो भी आप निर्दोष हो। परन्तु लेशमात्र भी आत्म वंचना न हो, इसके लिए सतर्क रहें। एक तरफ यह विचार करें कि मैं शास्त्र का अध्ययन करने के लिए वस्त्र-पात्र

आदि ग्रहण करता हूँ तो दूसरी तरफ यह भी सोचें कि वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करने में मूर्छा""आसक्ति गहरी बन रही है। जैसे-जैसे आपकी ज्ञानोपासना बढ़ती जाती है वैसे ही पर पदार्थों का ममत्व घट जाता है तो इस ज्ञान दीपक द्वारा आपका जीवन मार्ग प्रकाशमान हुआ है, ऐसा कहा जायेगा।

एक मात्र ज्ञानोपासना।

कोई दूसरी बाह्य प्रवृत्ति नहीं तो मन को भटकने के लिए कोई स्थान नहीं""ज्ञानोपासना में ही लवलीनता। फिर भले ही शरीर पर पदार्थों को ग्रहण करे या धारण करे। आत्मा पर उसका क्या असर ?

मूर्च्छाछिन्नधियां सर्वजगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छारहितानां तु जगदेवापरिग्रहः ॥८॥ २००

श्लोकार्थ

मूर्च्छा से जिसकी बुद्धि ढकी हुई है उनको सम्पूर्ण संसार परिग्रह रूप है, परन्तु मूर्च्छा रहित के लिए संसार भी अपरिग्रह रूप है।

विवेचन

परिग्रह–अपरिग्रह की कितनी मार्मिक व्याख्या की है ? कितनी स्पष्ट और निश्चित। इस संसार में ऐसी कौनसी वस्तु है जिसको अपन पूर्णरूपेण परिग्रह या अपरिग्रह रूप कह सकते हैं ? मूर्च्छा परिग्रह, अमूर्च्छा अपरिग्रह। संयम साधना में सहायक पदार्थ अपरिग्रह और संयम आराधना में बाधक पदार्थ परिग्रह है।

पर–पदार्थों का त्याग किया। धन-संपत्ति, बंगला, मोटर

आदि छोड़कर साधु बने, शरीर पर वस्त्र भी नहीं और भोजन के लिए पात्र भी नहीं, इससे आपने मान लिया कि 'मैं अपरिग्रही बन गया' भले ही आपकी बात क्षण भर मान भी लें तो भी आपसे पूछता हूँ कि त्यागे हुए पदार्थों के प्रति आपको राग द्वेष होता है कि नहीं ? कभी त्याग किये हुए पदार्थ आपको सताते हैं या नहीं ? अरे, शरीर भी तो पर पदार्थ ही है ? क्या शरीर रोगग्रस्त होता है तो शरीर······ममत्व जाग्रत नहीं होता है ? शरीर का तो त्याग किया नहीं। पर भव का भी त्याग किया नहीं, अब आप गंभीरता से विचार करें कि वास्तव में आप अपरिग्रही बने हैं ? स्थूल दृष्टि से विचार न करें पर सूक्ष्म दृष्टि से चिंतन करने से परिग्रह अपरिग्रह को व्याख्या स्पष्ट समझ जायेंगे।

महात्मन् ! ओ निर्मोही······निर्लेप मुनिराज······आपको तो परिग्रह का स्पर्श किया हुआ पवन भी नहीं छूना चाहिए। परिग्रह के पहाड़ों को सर पर उठाकर घूमने वाले धनवान आपको प्रदक्षिणा देकर पलायन होने के लिए तत्पर होते हैं······ आपको न तो परिग्रह का आग्रह है और न भौतिक—सांसारिक पदार्थों की रंचमात्र भी स्पृहा है। आपने जो मन, वचन, काया से परिग्रह का त्याग किया है तो इस परिग्रह का मूल्य आपके हृदय में बिलकुल नहीं होना चाहिए और जो बाह्य दृष्टि से परिग्रह रूप दिखता है, जैसे आपके शरीर को ढकने वाले वस्त्र, भिक्षा पात्र एवं स्वाध्याय की पुस्तकों पर आपको ऐसा आग्रह नहीं है तो आप अंतरंग दृष्टि से संयम के उपकरण से भी निर्लेप हैं।

रास्ते में भटकते······भीख मांग कर निर्वाह करने वाले, व्यसनों से भरे हुए भिखारियों को देखा है; जिनके पास परिग्रह

कहने लायक कुछ नहीं है.........अगर कहा जाये तो फटा पुराना कमीज़ और दुर्गंधयुक्त कपड़ा......... ! और ज्यादा कहना हो तो अत्यन्त हीन दयनीय दशा दिखाकर पैदा की हुई कुछ रेजगारी। जिसे आप 'परिग्रह' कह सकें ऐसा वास्तव में क्या दिखता है ? क्या आप उसे अपरिग्रही महात्मा, निर्मोही-निर्लिप्त संत कहेंगे ? नहीं कदापि नहीं।

क्यों ?

क्योंकि उसे तो 'जगदेव परिग्रह' है। उसकी महत्वाकांक्षायें पूरे संसार पर छा गई हैं। समस्त संसार ही उसका परिग्रह है। संसार की सर्व संपत्ति पर उसने मन से ममत्व किया है।

आपके पास क्या है और क्या नहीं इस पर परिग्रह और अपरिग्रह का निर्णय न करें। आप क्या चाहते हैं और क्या नहीं चाहते उस पर परिग्रह और अपरिग्रह का निर्णय करें। हां, आप अपने तप, दान, चारित्र पालन आदि से क्या चाहते हैं ? यदि आप देवलोक का इन्द्रासन या मनुष्य लोक में चक्रवर्ती पद चाहते हैं, स्वर्ग की अप्सराओं से आमोद-प्रमोद या इस संसार की चन्द्रमुखियों के स्नेहालिंगन चाहते हैं, तो आप अपरिग्रही कैसे हुए ?

दूसरी तरफ असंख्य लावण्यमयी ललनाओं से घिरे हुए, अपार वैभव के स्वामी मणियों से झलझलाता सिंहासन, रत्नों से जड़ित खंभों वाला महल, बहुमूल्य वस्त्र एवं अलंकारों के होते हुए भी 'नाहं पुद्गल भावानां कर्ताकारयितापि च' इस भाव से ओतप्रोत है; जो त्याग-संयम के लिए बेचैन है, जो चार गति के सुखों से निर्लेप है, जिसकी दृष्टि में लोहा व सोना समान है, जो सोने को मिट्टी से ज्यादा महत्व नहीं देता है,

जिसको शिव, अचल, अरुज, अनंत, अक्षय, अव्याबाध मोक्ष के सिवाय दूसरी कोई इच्छा नहीं, क्या आप उसे परिग्रही कहेंगे ? जिसको कोई मूर्छा नहीं उसे परिग्रही नहीं कह सकते हैं और जिनको अनंत तृष्णा है उसे अपरिग्रही नहीं कह सकते हैं इस-लिए बुद्धि पर चढ़ी हुई मूर्छा रूपी चमड़ी का आपरेशन करके बुद्धि को मूर्छा से मुक्त करें फिर पूर्णता का पथ प्रशस्त होगा। प्रयाण तीव्र बनेगा। आपका हृदय कमल पूर्णानन्द से छल छलायेगा।

————

ओं ह्रीं अर्हं नमः

२६. अनुभव

यह कोई संसार के खट्टे मीठे अनुभवों का संस्मरण नहीं है। यह कोई सामाजिक, राजनीतिक अनुभवों का अध्याय नहीं है। यहाँ तो आत्मा के अगम अगोचर अनुभवों की बात है। जो अनुभव अब तक नहीं कर सके हैं···उसी अनुभव को जानने के लिए यहाँ मार्गदर्शन है, प्रेरणा–प्रोत्साहन है। आत्मा के परमानन्द का अनुभव अगर जीवन में एक बार भी हो जाये तो बस ! मोक्ष सुख का आभास भाग्यहीनों के भाग्य में कहाँ ?

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयोः पृथक् ।
वुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः ॥१॥ २०१

श्लोकार्थ

जिस तरह दिन और रात्रि से संध्या अलग है उसी तरह केवल ज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न केवलज्ञान रूप सूर्य के अरुणोदय समान अनुभव है, ऐसा ज्ञानियों का कहना है ।

विवेचन

यहाँ इस अनुभव की वात नहीं है जिसको कई बार लोग कहते हैं : 'मेरा यह अनुभव है'''अनुभव की वात कहता हूँ.....' । ऐसा कहने वाला मनुष्य भूतकाल में अपने जीवन में घटित घटनाओं को 'अनुभव' कहता है । सामान्य लोगों की वुद्धि न समझ सके ऐसे अनुभव की वात ग्रंथकार ने की है ।

एक समय मुझे एक सद् गृहस्थ मिले । सात्विक प्रकृति के थे, प्रतिदिन 'ध्यान' भी करते थे......उन्होंने मुझे कहा :

"मुझे ध्यान में कई तरह के अनुभव होते हैं ।" "कैसे कैसे अनुभव होते हैं ?' मैंने पूछा । 'अरे, कभी तो लाल लाल रंग ही दिखाई देता है......कभी श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति दिखाई देती है .... कभी मैं अनजाने प्रदेश में पहुँच जाता हूँ....' उसने कहा और उसने ध्यानावस्था में जो विचार उठे'''सिद्धान्त हीन को 'आत्मानुभव' कह कर वर्णन किया ।

ऐसे अनुभवों से यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय नहीं है ।

पहले तो 'अनुभव ज्ञान' ग्रन्थकार स्पष्ट करना चाहते हैं । उसको समझाने के लिए कहते हैं :

आपने संध्या देखी है ? संध्या को आप दिन कहेंगे या रात्रि ? नहीं, दिन और रात से संध्या अलग है.........इसी तरह अनुभव 'श्रुतज्ञान या केवलज्ञान' नहीं है। उनसे अलग ही है.... हाँ, केवलज्ञान से अत्यन्त निकट जरूर है। जैसे सूर्योदय के पहले अरुणोदय होता है वैसे ही अनुभव को अपन केवलज्ञान रूपी सूर्य के पहले का अरुणोदय कह सकते हैं। अर्थात् वहाँ मतिज्ञानावरण के क्षयोपक्षम से उत्पन्न हुए चमत्कार नहीं....... बुद्धि...मति की कल्पना-सृष्टि नहीं.......शास्त्र ज्ञान के अध्ययन ....चिंतन.......मनन से पैदा हुए रहस्यों का ज्ञान नहीं है। 'मेरी बुद्धि में यह विचार आता है........' या उस शास्त्र में इस प्रकार कहा है........ 'अथवा मुझे तो उस शास्त्र का यह रहस्य समझ में आता है.........' यह सब अनुभव की सीढ़ी पर है........ अनुभव तर्क से बहुत ऊँचे आसन पर है। अनुभव शास्त्रों के ज्ञान से दबा हुआ नहीं है.......और अनुभव बुद्धि या शास्त्र से समझ में आवे ऐसा भी नहीं है....... ।

जब किसी को अनुभव की बात तर्क से समझाने की कोशिश करते हैं तो समझाने में बुद्धि-मति ज्ञान और तर्क......शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है.......परन्तु अनुभव सबसे ही अलग है.......अगर सच कहा जाये तो अनुभव समझाने की वस्तु ही नहीं है।

'यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धि—परभावारमण—तदास्वादनैक-त्वमनुभवः।'

भगवान हरिभद्रसूरिजी ने अनुभव का स्वरूप बताते हुए कहा है :

(१) यथार्थ स्वरूप का ज्ञान।

(२) पर भाव में अ-रमणता।

(३) स्वरूप रमण में तन्मयता।

संसार की वस्तुएँ जिस रूप में हैं उसी स्वरूप में ज्ञान होता है.......ज्ञान में राग द्वेष नहीं होता है। आत्मा से भिन्न पदार्थों की रमणता न हो.......इस योगी को तो आत्म-स्वरूप की ही रमणता होती है...उसका शरीर इस दुनिया की स्थूल भूमिका पर बैठा हुआ होता है परन्तु आत्मा संसार की सूक्ष्म से सूक्ष्म भूमिका पर आरूढ होता है।

संक्षेप में, परन्तु अत्यन्त गंभीर शब्दों में अनुभवी आत्मा की स्थिति का वर्णन है। स्वरूप में रमणता अपन नहीं कर सकते क्योंकि परभाव की रमणता में डूब गये हैं.......परभाव की रमणता अर्थात् वस्तु स्वरूप के अज्ञान का आधार है। जैसे जैसे वस्तु स्वरूप का अज्ञान दूर होता जाता है वैसे वैसे ही आत्म रमणता आती है और परभव का भ्रमण कम होता जाता है। अनुभव ऊर्द्ध्वगामी गति.......आरम्भ होती है, यह शाश्वत.......परम ज्योति में विलय होने के लिए गहरी तत्परता प्रगट करता है.......तब जीवन की जड़ता को भेद कर अनुभव के आनन्द को वरण करने का अप्रतिम साहस प्रकट होता है.... तब अज्ञान से सिसकती चेतना ज्ञान ज्योति की किरणों का प्रसाद प्राप्त कर परम तृप्ति अनुभव करेगी।

व्यापारः सर्वशास्त्राणां दिक्प्रदर्शन एव हि।
पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधेः ॥२॥ २०२

श्लोकार्थ

सर्व शास्त्रों का उद्यम दिशा बताना ही है परन्तु सिर्फ अनुभव ही संसार समुद्र को पार कराता है।

विवेचन

कितना कर्कश कोलाहल हो रहा है। शास्त्रार्थ और शब्दार्थ के एकांत आग्रह के कारण हलाहल से भी अत्यन्त तेज जहर फैला हुआ है.........इस विष की फूत्कारों से मणिधर सर्पराज की फूत्कारें भी फीकी लगती हैं........। कोई कहते हैं कि हम ४५ आगम मानते हैं। कोई कहते हैं, 'हम ३२ आगम ही मानते हैं........' और कोई कहते हैं कि 'हम एक भी आगम को नहीं मानते........।

कैसा भयंकर प्रलाप ? पर क्यों ? क्या इन शास्त्रों को मानने से भवसागर तिर जायेंगे ? क्या ये शास्त्र हमको निर्वाण दिलायेंगे ? अगर शास्त्रों से ही भवसागर पार कर सकते हैं तो अपन आज दिन तक संसार में भटकते न होते....क्या अतीत में अपन कभी भी शास्त्रों के ज्ञाता नहीं हुए होंगे ? अरे, नौ नौ 'पूर्व' का ज्ञान प्राप्त किया था....तो भी पूर्वों का ज्ञान (शास्त्र ज्ञान) हमको तिरा न सका। क्यों ? कभी विचार किया है ? फिर क्यों शास्त्रों के लिए कोलाहल करके अशान्ति फैलाते हो ? शास्त्रों का भार गले पर बांध कर क्यों भव सागर में डूब मरने की चेष्टा करते हो ? शास्त्र आपको अनंत–अव्याबाध सुख नहीं दे सकता है।

यह शास्त्रों की अवहेलना न समझें और शास्त्रों की पवित्रता का अपमान न समझें पर शास्त्रों की मर्यादा का भान कराने के लिए ऐसा कहता हूँ। शास्त्रों पर ही पूरे आश्वस्त होकर बैठे हुए से अपनी जड़ता भगाने के लिए ऐसा कहता हूँ।

शास्त्र ? इसका काम सिर्फ दिशा बताने का है। यह आपको

सही या गलत दिशा का भान कराते हैं……बस, शास्त्र इससे आगे एक कदम भी नहीं बढ़ता है।

शास्त्रों के सरंजाम एवं उपदेश अपनी आत्म भूमि पर अच्छी तरह छा जाते हैं, परन्तु विषय-कषाय के धधकते गोले क्षण मात्र में ही शास्त्रों के सरंजाम की धज्जियां उड़ा देते हैं। इनके दृष्टांत खोजने जाने की आवश्यकता नहीं है……निगोद में पछाड़ खाकर पड़े हुए कोई चौदह पूर्वधर को पूछे कि उनका सर्वोत्कृष्ट शास्त्र ज्ञान उन्हें क्यों नहीं बचा सका ? विषय… कषाय की तुनकमिजाजी से छूटे हुए तीखे बाण जब छाती को चीर देते हैं……तब शास्त्रों का कवच खोखला हो जाता है…. ….इसलिए कर्मों से जूझने के लिए सिर्फ शास्त्र लेकर, इसके विश्वास पर निकल जाने से आपको जिंदगी भर पश्चाताप करना पड़ेगा कि धोखा हुआ है। इसलिए ग्रंथकार पहले ही स्पष्ट भाषा में कहते हैं "शास्त्र तो आपको सिर्फ़ दिशा ज्ञान ही करा सकते हैं।"

फिर हमको भवसागर से कौन तारेगा ? चिंता न करें। 'अनुभव' अपन को भवसागर से तारेगा। इस 'अनुभव' तक पहुंचने का मार्ग शास्त्र बतायेंगे ? कोई मन कल्पित मार्ग पर चले गये तो 'अनुभव' के पास नहीं पहुंच सकोगे और कोई मानसिक भ्रमणा को अनुभव समझ कर कृतकृत्य हो जाओगे तो इससे आत्मा की कोई उन्नति नहीं होगी। दिशा ज्ञान तो शास्त्रों से ही प्राप्त करें। जैसे-जैसे आप अनुभव के शिखर पर चढ़ेंगे वैसे-वैसे ही आपकी पर-परिणति निवृत्त होती जायेगी, पर-पुद्गल के आकर्षण गल जायेंगे। आत्मा रमणता से छल-छला उठेगी। आत्म-परिणति का मदमाता मौसम खिल उठेगा

……तब यथार्थ वस्तु स्वरूप का अववोध रूप 'अनुभव' का शिखर आप फतह करेंगे।

इस शिखर पर चढ़ने की शिक्षा लिए विना, सिर्फ भावना से प्रेरित होकर ही चढने गये तो अगम-निगम के इन पहाड़ों की खाइयों में गिर पड़ेंगे……खोजने पर भी नहीं मिलेंगे इसलिए पूर्वाभ्यास जरूरी है। अध्ययन करना जरूरी है। फिर साहस कर अनुभव-शिखर पर आरोहण करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी।

इच्छा है ?

नहीं। इच्छा से नहीं चलेगा। संकल्प शक्ति भी आवश्यक है। दृढ़ संकल्प करना पड़ेगा। साधना के मार्ग पर लोह हृदय किये विना नहीं चलता। विघ्नों को कुचलने के लिए दाँत भींच कर आगे वढो आभ्यंतर विघ्नों की शृंखलाओं को तोड़ दो…कमर ही तोड़ दो जिससे वापिस बैठ कर विघ्न मार्ग में वाधा उपस्थित न करें। इतनी निर्भयता एवं उत्साह के विना अनुभव का शिखर लांघने की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं विना।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि न गम्यं यद् वुधा जगुः ॥३॥ २०३

श्लोकार्थ

इन्द्रियों के अगोचर परमात्मस्वरूप विशुद्ध अनुभव के विना शास्त्रों की सैंकड़ों उक्तियों से भी जानने योग्य नहीं है, ऐसा पंडितों ने कहा है।

विवेचन

शुद्ध ब्रह्म !

विशुद्ध आत्मा !

पांचों इन्द्रियों में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे शुद्ध ब्रह्म को जान सकें। किसी भी आवरण से रहित विशुद्ध आत्मा का अनुभव करने की शक्ति विचारी इन्द्रियों में कहाँ से हो ? अर्थात् कान से विशुद्ध ब्रह्म की ध्वनि सुन नहीं सकता है, आंखें शुद्ध ब्रह्म को देख नहीं सकती हैं, नाक उसे सूंघ नहीं सकता है, जीभ चवा नहीं सकती है और चमड़ी स्पर्श नहीं कर सकती है।

भले ही शास्त्रों की युक्तियों से—तर्कों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर दो, भले ही वुद्धि की कुशाग्रता से नास्तिकों के हृदय में आत्मा की सिद्धि कर दो परन्तु आत्मा को पहचानना शास्त्र के सामर्थ्य के वाहर की वात है, वुद्धि की सीमा से वाहर की वात है। जानते ही हो कि शास्त्र और वुद्धि के वोरे भर कर राजा प्रदेशी के पास जाने वालों को कितना दुःख उठाना पड़ा था ? राजा प्रदेशी को वे विद्वान् शास्त्र या वुद्धि से आत्मा को नहीं वता सके ! इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को देखने का आग्रह करने वाले प्रदेशी राजा ने कितने घोर अन्याय किये थे ? परन्तु जव केशी आचार्य उन्हें मिले, इन्द्रियों से अगोचर, इन्द्रियों से अगम्य आत्मा का दर्शन कराया तव प्रदेशी राजा महात्मा प्रदेशी वन गया था।

आत्मा को विशुद्ध अनुभव से जाना।

इन्द्रियों के उन्माद को अलग करके आत्मा को पहचाना।

आत्मा को प्राप्त किया शास्त्रों एवं युक्तियों से परे बन कर।

आत्मा को जानने के लिए, पहचानने के लिए प्राप्त करने के लिए जिसने दृढ़ संकल्प किया हो उसे इन्द्रिय लोलुपता शान्त करनी चाहिए। किसी भी इन्द्रिय को हस्तक्षेप नहीं करने देना

चाहिए। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की दुनिया से मन को दूर प्रदेश में ले जाना चाहिए……तब विशुद्ध अनुभव की भूमिका का सृजन होता है।

आत्मा को जानने के सिवाय दूसरी किसी चीज को जानने की इच्छा नहीं होनी चाहिए। आत्मा को पहचानने के सिवाय दूसरी किसी भी चीज के पहचानने की जिज्ञासा नहीं होनी चाहिए। आत्मा को प्राप्त करने के सिवाय दूसरी कोई भी चीज प्राप्त करने की तमन्ना नहीं होनी चाहिए। जब तक यह श्रेणी प्राप्त न हो तब तक आत्मानुभव का पवित्र क्षण प्राप्त करना संभव नहीं है।

आत्मानुभव करने के लिए इस प्रकार जीवन परिवर्तन करने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। सिर्फ आत्मानुभव की बातें करने से कार्य सिद्धि नहीं होगी। इसके लिए पहाड़ों में कन्दराओं में या आश्रमों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है अंतरंग साधना की। आवश्यकता है शास्त्रों के विवादों से परे होने की और आवश्यकता है तर्क वितर्क के विषम जाल से बाहर निकलने की।

आत्मानुभव करने के लिए आत्मानुभवी के साथ रहना चाहिए। आस-पास की दुनिया बदल जानी चाहिए। आत्म-ध्यान में लीन होने का प्रयत्न चालू हो जाना चाहिए। दूसरी सब इच्छायें, कामनायें एवं अभिलाषाओं को दफना देना चाहिए। इस तरह किया हुआ आत्मानुभव संसार सागर पार कराता है।

हाँ, आत्मानुभव का ढोंग करने से नहीं चलेगा। दिन रात विषय-कषाय और प्रमाद से लोटपोट मानव आधा या एक घंटा

एकांत स्थान में बैठकर, विचार शून्य होकर 'सोऽहं' का जाप करने से मान ले कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया तो यह आत्मवंचना होगी। आत्मानुभवी का संपूर्ण जीवन बदल जाता है। उसे तो विषय विष के प्याले के समान लगते हैं और कषाय मणिधर (भयंकर सर्प) की प्रतिकृति लगते हैं। प्रमाद इसके पास भटकेगा ही नहीं। आहार विहार में साधारण मानव से बहुत ऊँचा उठा हुआ होता है। आत्मानुभूति का उसे इतना आनन्द होता है कि दूसरे आनन्द उसे तुच्छ लगते हैं। परमात्म-स्वरूप पाने के लिए आत्मानुभव को पाने के सिवाय दूसरे सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसका यह तात्पर्य है।

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात् तेषु निश्चयः ॥४॥ २०४

श्लोकार्थ

जो युक्तियों से इन्द्रियों से अगोचर पदार्थ जान सकते हैं तो इतने समय में विद्वानों से अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में निर्णय कर लिया होता।

विवेचन

विश्व में दो प्रकार के तत्व हैं :

(१) इन्द्रियों से अगोचर।

(२) इन्द्रियों से गोचर।

सम्पूर्ण विश्व इन्द्रियों से अगोचर नहीं है इसी तरह सम्पूर्ण विश्व इन्द्रियों से गोचर भी नहीं है, ऐसा माने विना चल नहीं सकता। विश्व की ऐसी अनंत बातें हैं जिनका साक्षात्कार अपनी

या किसी की भी इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। ऐसे तत्वों को, पदार्थों को 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है।

ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का निर्णय मनुष्य किस तरह कर सकते हैं ? भले ही मनुष्य विद्वान् या तीव्र बुद्धिशाली हो, विद्वत्ता या बुद्धि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं करा सकती है। क्या संसार में आज दिन तक कोई विद्वान या बुद्धिमान पैदा ही नहीं हुआ है। क्या वे एक भी अतीन्द्रिय पदार्थों का सर्व सम्मत निर्णय कर सके हैं।

आज बुद्धि एवं तर्क से ही समझने का आग्रह बढ़ता जाता है। बुद्धि एवं तर्क से समझा जावे और इन्द्रियों से अनुभव हो सके उसको ही मानने की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। जो बुद्धि से नहीं समझ सकते हैं और तर्क से सिद्ध नहीं होता है उसकी अवहेलना करने का तूफान बढ़ रहा है। तब श्री उपाध्याय जी का यह कथन सर्वत्र प्रसारित करना आवश्यक है।

बुद्धि से नहीं समझा जा सके ऐसा कोई तत्व क्या इस संसार में नहीं है ? क्या संसार में कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जो बुद्धि से हल नहीं हुई हो ? क्या कोई प्रश्न ही नहीं रहा ? आज वैज्ञानिकों के सामने हजारों ऐसे प्रश्न हैं जिनका हल बुद्धि से नहीं निकल सका है।

शायद आप कहेंगे कि जैसे-जैसे बुद्धि का विकास होगा वैसे-वैसे उन समस्याओं का हल निकल जायेगा।

बुद्धि में हमेशा उत्सुकता होती है। बुद्धि हमेशा अपूर्ण होती है। अपूर्ण बुद्धि पूर्ण चैतन्य का साक्षात्कार किये बिना या इसके ऊपर श्रद्धा स्थापित किये बिना सर्व समस्याओं का समाधान संभव नहीं है।

चांद पर पहुँचाने वाले वर्तमान विज्ञान से पृथ्वी के मानवों की दरिद्रता हल नहीं हो रही है । अन्न का प्रश्न बांह फैलाये खड़ा है । मानव मानसिक अशान्ति में झुलस रहे हैं । फिर भी विज्ञान के गुण गाते हुए अर्धदग्ध मानव विज्ञान की सर्वोत्कृष्टता पर अंधश्रद्धा रखते हैं । बुद्धि का दुराग्रह मनुष्य को अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व भी स्वीकारने नहीं देता तो फिर अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करने की तो बात ही कहां हो सकती है ।

आत्मा परमात्मा इन्द्रियों के अगोचर तत्व हैं । तर्क और युक्ति से इनका अस्तित्व सिद्ध है पर इन्द्रियों से ये तत्व प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकते हैं । इनको अनुभव करने के लिए इन्द्रियातीत शक्ति चाहिये । इसलिये इन्द्रियातीत तत्वों को मात्र जानने के लिए ही जानना नहीं है । इन तत्वों का साक्षात्कार ही मनुष्य को परम शान्ति प्रदान करता है । इसका साक्षात्कार मानव की ऐसी सर्व समस्याओं का हल है जिसका हल किसी भी दूसरे साधन से हो नहीं सकता । इसका साक्षात्कार होने के वाद मनुष्य स्वयं को 'दुःखी अशांत' नहीं समझता है । दुःख और अशान्ति उसे स्पर्श भी नहीं कर सकती ।

इसलिए, अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय करने के लिए बुद्धि के अश्व पर बैठ कर वाद-विवाद में मानव जीवन का अमूल्य समय नष्ट किये विना, अनुभव के मार्ग पर चलकर आत्मा की अनुभूति कर दुःख अशान्ति से मुक्त होने में ही सार है और यही परमार्थ है । यहाँ ग्रन्थकार ने अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय करने में आज तक कोई विद्वान सफल हुआ नहीं है, ऐसा कह कर अपन को मार्ग बदलने की प्रेरणा दी है । आत्मानुभव के मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया है ।

शास्त्र और विद्वान् तो मात्र मार्ग दर्शक हैं, इनके पास रहने मात्र से कार्य सिद्धि नहीं होगी।

केषां न कल्पनादर्वी शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी।
विरलास्तद्रसास्वाद विदोऽनुभव जिह्वया ॥५॥ २०५

श्लोकार्थ

किसी की भी कल्पना रूपी कड़छी शास्त्र रूपी खीर में प्रवेश करने वाली नहीं है, परन्तु तुच्छ अनुभव रूपी जीभ द्वारा शास्त्र के रस का स्वाद जाना जा सकता है।

विवेचन

गृहकार्य में मशगूल रहने वाली भारतीय नारी को जैसे अनुभव ज्ञान का विज्ञान समझाते हो उसी तरह श्री उपाध्याय जी महाराज चौके के माध्यम से 'अनुभव' समझाते हैं।

इस चूल्हे पर उफनती खीर को देखो। उसमें कडछी को रखकर (कडछी विना हिलाये) क्या आप खीर को हिला सकते हैं? उसे आप जलने देना नहीं चाहते हैं......पर कडछी से खीर हिलाने मात्र से क्या खीर का रसास्वादन आपको प्राप्त हो जायेगा? नहीं।

खीर का स्वाद जानने के लिए उसे जीभ पर रखना ही पड़ेगा। खीर के साथ जीभ का संयोग हो और लपलपाती जीभ मुख के चारों तरफ घूमती हो तब उसके रस की अनुभूति होती है।

शास्त्र खीर का भोजन है।

कल्पना (तर्क बुद्धि) कडछी है।

अनुभव जीभ है।

उपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि तर्क बुद्धि से यदि शास्त्र उथलाते ही रहेंगे तो उससे आपको शास्त्र ज्ञान के रसास्वादन का अनुभव नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं परन्तु शास्त्रों को तर्क बुद्धि से हिलाते रहने से जीवन पूर्ण हो गया तो अंत समय में अफसोस होगा कि 'हिला-हिला कर खीर तो तैयार की, परन्तु इसका रसास्वादन करने के लिए भाग्यहीन रहा हूँ' यानी रस का मजा नहीं लूट सका।

खीर पकाई जाती है उसका उपभोग करने के लिए उसके रसास्वादन के लिए। कडछी तो सिर्फ खीर बनाने का साधन है। साधन तक ही इसका महत्व है। इस साधन से खीर तैयार होने के बाद लक्ष्य खीर पर ही होना चाहिए, कडछी पर नहीं।

तर्क बुद्धि की मर्यादा यहाँ स्पष्ट कर दी गई है। शास्त्रों का अर्थ निर्णय हो गया, खीर तैयार होने के बाद कडछी तो एक कोने में रख दी जाती है। इसी तरह तर्क बुद्धि का फिर काम नहीं है। फिर तो ये तैयार हुए अर्थ निर्णय का रसास्वादन करने के लिए अनुभव रूपी जीभ ऊपर उसे रक्खे और उसको चबा-चबा कर रसानुभूति करे।

यहाँ शास्त्र ज्ञान और अनुभव का सम्बन्ध भी बताया है। खीर के बिना खीर का रसास्वादन जीभ द्वारा मनुष्य नहीं कर सकता है। जीभ कितनी ही सक्रिय हो परन्तु खीर ही न हो तो? इसी तरह शास्त्र ज्ञान के बिगर अनुभव की जीभ क्या कर सकती है? इसलिए शास्त्र ज्ञान की खीर पकाना जरूरी है। इसकी उपेक्षा करने से नहीं चलेगा।

और खीर को पकाने के लिए कडछी भी इतना ही महत्व रखती है। सिर्फ खीर को चूल्हे पर रखने से खीर तैयार नहीं

होती है। जल जावेगी और स्वादहीन वन जावेगी। इसको तो कडछी से हिलाते रहना पड़ेगा। इसी तरह तर्क वुद्धि विगर शास्त्रों की खीर पक नहीं सकती है। जव तक शास्त्रों के अर्थ की ज्ञान रूप खीर नहीं पकती है तव तक तक वुद्धि की कडछी से हिलाते रहे। खीर को पहले तैयार करे। तैयार होने के बाद कडछी को कोने में रखकर.......जीभ को तैयार करे।

अनुभव को कैसे घरेलू भाषा में यहाँ समझाया गया है।

वुद्धिवादियों ने इसकी वुद्धि की कार्य सीमा वाँध दी है। वुद्धि की तर्क की अवहेलना करने वालों को वुद्धि की अनिवार्यता समझाई गई है। सिर्फ अनुभव का प्रलाप करने वालों को शास्त्र और शास्त्रों के रहस्यों को प्राप्त करने की वात हृदय में वैठा दी गई है। जिन्दगी भर शास्त्रों की गठरियाँ सर पर रख कर विद्वत्ता में कृतकृत्य मानने वाले को अनुभव की दिशा निर्देश की गई है। इस तरह सवका समन्वय करके कैसा आत्म विज्ञान प्रकट किया है।

चलिये। अपन जीवन के चौके में वैठ कर चूल्हे पर शास्त्र ज्ञान की खीर पकावें.......तर्क वुद्धि की कडछी से खीर को पका कर, अनुभव की जीभ द्वारा इस खीर का रसास्वादन लेकर जीवन को सार्थक वनावें।

पश्यतु व्रह्म निर्द्वन्द्वं निर्द्वन्द्वानुभवं विना।
कथं लिपिमयी दृष्टिर्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥६॥ २०६

श्लोकार्थ

क्लेश रहित शुद्ध अनुभव विना पुस्तक रूप, वाणी रूप, अर्थ का ज्ञान रूप दृष्टि राग द्वेष आदि से रहित शुद्ध आत्म स्वरूप को कैसे देख सकते हैं?

विवेचन

चर्म दृष्टि,

शास्त्र दृष्टि,

अनुभव दृष्टि,

जिस पदार्थ का दर्शन अनुभव दृष्टि से ही हो सकता है उस पदार्थ को चर्म या शास्त्र दृष्टि से देखने का पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। कर्म कलंक से मुक्त विशुद्ध ब्रह्म का दर्शन चर्म दृष्टि या शास्त्र दृष्टि से नहीं हो सकता है। इसके लिए अनुभव दृष्टि की आवश्यकता होती है।

लिपिमयी दृष्टि

वाङ्मयी दृष्टि

मनोमयी दृष्टि

इन तीनों दृष्टियों का समावेश शास्त्र दृष्टि में होता है। ये तीनों दृष्टियां विशुद्ध शास्त्र दृष्टि देखने में असमर्थ हैं।

'लिपि' संज्ञाक्षर रूप होती है चाहे यह लिपि गुजराती हो, संस्कृत हो या कोई भी हो, केवल अक्षरों की दृष्टि से परम ब्रह्म के दर्शन नहीं होते हैं।

'वाङ्मय दृष्टि' व्यंजनाक्षर रूप है अर्थात् कोरे अक्षरों के उच्चारण मात्र से परम ब्रह्म के दर्शन नहीं होते हैं।

'मनोमयी दृष्टि' अर्थ के परिज्ञान रूप है अर्थात् कितना भी अर्थ ज्ञान मिले तो भी इसके द्वारा सर्व क्लेश रहित आत्म स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

कोई कहता हो कि पुस्तकें पढ़कर या ग्रन्थ पढ़कर परम ब्रह्म

के दर्शन होते हैं, तो यह भ्रम है। अगर कोई कहता है कि श्लोक शब्द या अक्षरों के उच्चारण करने से आत्मा के दर्शन होते हैं तो भी यह यथार्थ नहीं है। अगर यह भी कहे कि शास्त्रों के एक-एक शब्द के अक्षर का अर्थ समझने से आत्मा का साक्षात्कार होगा यह भी मानने योग्य नहीं है।

आत्मा का.......कर्मों के आवरणों से मुक्त पवित्र आत्मा के दर्शन के लिए 'केवल ज्ञान' की दृष्टि चाहिए। यही अनुभव दृष्टि है। जब तक अपनी दृष्टि कर्मों के प्रभाव से रोगी है तब तक कर्म रहित आत्मा नहीं दिखाई देगी। जैसे लाल रंग के कांच के चश्मे से पदार्थ लाल रंग का ही दिखाई देगा सफेद नहीं, उसी तरह कर्मों के प्रभाव से प्रभावित दृष्टि से सब कर्म युक्त ही दिखेगा कर्म रहित नहीं।

रागी व द्वेषी दृष्टि वीतराग को देख सकती है क्या? वीतराग के शरीर को भले ही देख ले परन्तु वीतरागी आत्मा को नहीं देख सकेगी। उसे दूसरे वीतराग के शरीर को व अपनी आत्मा को देखने के लिए राग-द्वेष रहित दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि दृष्टि को निर्मल करो। दृष्टि निर्मल करने का अर्थ है मन को व मन के विचारों को निर्मल करना। क्षण-क्षण में आत्मद्वेष के द्वन्द्वों में फंसे हुए विचार आत्म चिन्तन भी नहीं कर सकते हैं। जब तक राग-द्वेष के पर्वतों से विचारों की आन्तरिक नदी बहती रहेगी तब तक अशांति का तूफान रहेगा ही। मन के राग द्वेष मिटाने के लिए पंचेन्द्रियों पर संयम, चार कषायों पर अंकुश, पाँच आश्रवों से विराम और तीन दंड विरति ऐसे सत्रह प्रकार के संयम का पालना करना होगा। केवल बाह्य संयम ही नहीं परन्तु आंतरिक

संयम आवश्यक है। स्वाभाविक तौर पर विचार विषय, कषाय, आश्रव और दंड से प्रभावित न हों ऐसी मनः स्थिति बनानी चाहिए।

संसार के चप्पे चप्पे में खड़ी हुई समस्याओं और नई-नई अनुकूल या प्रतिकूल घटनाओं में मन रागी द्वेषी न बने और मध्यस्थता धारण करे तो वह आत्म स्वरूप की निकटता प्राप्त सकता है। प्रतिक्षण क्रोधादि कषायों में मशगूल, शब्दादि विषयों में आकर्षित, हिंसा आदि आश्रवों में खेलते हुए अपन विशुद्ध आत्म स्वरूप के दर्शन की बात करने के अधिकारी हैं क्या? चर्म दृष्टि और व्यवहार दृष्टि में ही फंसे हुए अपन भले ही 'आत्म दर्शन' पर धारा प्रवाह भाषण दे सकते हैं परन्तु स्वयं पर इसका कोई असर नहीं होता है।

न सुपुप्तिरमोहत्वान्नापि च स्वापजागरौ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्ते स्तुर्यैवानुभवो दशा ॥७॥ २०७

श्लोकार्थ

मोह रहित होने से गहरी निद्रा रूप सुषुप्तावस्था भी नहीं है, स्वप्न एवं जाग्रत दशा भी नहीं है, कल्पना रूप कारीगर का अभाव होने से यह अनुभव रूप चौथी ही अवस्था है।

विवेचन

अनुभव दशा !!!

क्या यह सुप्तावस्था है? क्या यह स्वप्नावस्था है या जागृत दशा है? इन तीनों अवस्थाओं में से किसी का भी अनुभव में समावेश नहीं हो सकता है? पर क्यों? आइये इस पर विचार करें।

सुषुप्तावस्था निर्विकल्प है; अर्थात् सुषुप्तावस्था में मन का कोई विचार या विकार नहीं होता है.........परन्तु आत्मा मोह के बन्धन से मुक्त नहीं होता है। क्या गहरी निद्रा रूप सुषुप्ति मोह रहित होती है? जबकि अनुभव दशा मोह के प्रभाव से मुक्त होती है इसलिए अनुभव का समावेश सुषुप्ति में नहीं हो सकता।

(२) स्वप्न के साथ क्या अनुभव को मिला सकते हैं? स्वप्न कितना ही मनमोहक रमणीय और भव्य हो पर उसमें कल्पना के सिवाय वास्तविकता का अंश नहीं होता है. जबकि अनुभव दशा में कल्पना का अंश नहीं होता है इसलिए स्वप्न दशा में अनुभव का समावेश नहीं होता है या स्वप्न दशा को अनुभव दशा नहीं कह सकते हैं।

(३) जाग्रतावस्था भी कल्पना शिल्प का ही सर्जन है। इसे भी अनुभव दशा नहीं कह सकते हैं। अतः अनुभव दशा इन तीनों अवस्थाओं से अलग ही चौथी अवस्था है।

आज 'सुषुप्ति' को आत्मानुभव कहने वाला भी एक वर्ग है। ये कहते हैं, "शून्य हो जाओ, मन से सब विचार निकाल दो अच्छा हो या बुरा कोई भी विचार नहीं होना चाहिए"...... इस तरह जितने समय तक रह सको उतने समय तक रहो। इससे आपको आत्मानुभव होगा।" जैसे सुषुप्ति—घोर निंद्रा में कोई विचार नहीं होता है परन्तु वह भी मोह शून्य दशा नहीं है। कुछ समय के लिए मोह की चेतनता के अंगारों पर राख डालने मात्र से मोह दशा दूर नहीं होती है। घंटा या दो घंटे शून्य के समुद्र में गोता लगाने से मन के अन्दर रहने वाली मोह दशा घुल नहीं सकती। शून्य के समुद्र में से वास्तविक संसार में आते ही स्त्री-धन-भोजन मित्र परिवार आदि की तरफ मोह

वृत्तियाँ उछलती हैं। अनुभव दशा में ऐसा नहीं होता है। इस अवस्था में तो चाहे दिन हो या रात्रि, शहर हो या जंगल, हमेशा और सब जगह मोहरहित अवस्था होती है। न राग के आलाप प्रलाप होते हैं और न द्वेष के तूफान। वहाँ तो वास्तविक आत्म दर्शन का अपूर्व आनंद होता है और लगातार आत्मानुभूति होती है।

शून्यता में आत्म साक्षात्कार की बातें करने वाले जब शून्यता के समुद्र में गोते लगाकर बाहर निकलते हैं तब उनका हृदय संसार के शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श का भोग करने के लिए कितना आतुर रहता है अगर यह देखना हो तो आचार्य रजनीश के शिविर में जाकर देख सकते हैं। भोग विलास की तूफानी दुनियां में 'आत्मानुभूति' करने वाले आज के बुद्धिजीवियों की बुद्धि को धन्यवाद देना चाहिए या धिक्कारना ?

कभी कभी यह प्रोफेसर (आचार्य ?) प्रकृति की⋯⋯निसर्ग की कल्पना लोक की साहित्यिक भाषा में लिखते हैं और इसी कल्पना में आत्म दर्शन⋯⋯आत्मानुभूति कराने का दंभ करते हैं। क्या विचार शून्यता=आत्मानुभूति है ? क्या निसर्ग का मानसिक कल्पना चित्र आत्मानुभूति है ? तो विचार शून्य एकेन्द्रिय आदि जीवों को आत्म साक्षात्कार हो गया हुआ मानना चाहिए। निसर्ग के गोद में रहते हुए पशु पक्षियों को आत्मानुभूति के देवदूत मानना चाहिए।

आत्मा का अनुभव सुषुप्तावस्था, स्वप्नावस्था या जाग्रतावस्था नहीं है परन्तु इन तीनों से अलग ही एक चौथी अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए सही दिशा में पुरुषार्थ करना चाहिए।

अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्र दृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मानुभवेनाधिगच्छति ।।८।।२०८

श्लोकार्थ

मुनि शास्त्रदृष्टि से समस्त शब्द ब्रह्म को जान कर के अनुभव से स्वयं प्रकाश रूप पर ब्रह्म.......परमात्मा को पहचान लेते हैं।

विवेचन

'अनुभव दृष्टि से ही विशुद्ध आत्म स्वरूप को जान सकते हैं तो फिर शास्त्रों से क्या प्रयोजन ? शास्त्रों का अध्ययन, परिशीलन क्या काम का नहीं है ?'

इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शास्त्र दृष्टि से समस्त शब्द ब्रह्म का ज्ञान करना है। यह ज्ञान प्राप्त करके परमात्मस्वरूप को जानना है। शास्त्र दृष्टि के विना शब्द ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है और अनुभव दृष्टि खुल नहीं सकती है।

शास्त्रों का अध्ययन, चिंतन, परिशीलन अनुभव दृष्टि के लिए करना है शास्त्राध्ययन का लक्ष्य—ध्येय 'अनुभव' होना चाहिए। शास्त्रों में फंसने का नहीं। शास्त्रों का अध्ययन कर विद्वान् वन कर कीर्ति कमाने वाले मनुष्य अनुभव दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

शास्त्रों का ज्ञान ऐसा होना चाहिए कि 'शास्त्र' हमारी 'दृष्टि' वन जायें। धर्म दृष्टि पर शास्त्र दृष्टि का चश्मा लग जाना चाहिए। देखना, सुनना या विचार करना सब शास्त्र के अनुसार ही होना चाहिए।

कुरगडु मुनि के पात्र में चार चार महिनों के उपवास वाले मुनियों ने रोष से थूका था तब कुरगडु मुनि ने 'थूंक' को शास्त्र दृष्टि से देखा था। तपस्वियों के तिरस्कार भरे शब्द शास्त्र दृष्टि से सुने थे और उसे घृणा की दृष्टि से देखने वाले इन मुनियों को शास्त्र की दृष्टि से देखा था। (१) चर्म दृष्टि ने 'थूंक' बताया परन्तु शास्त्र दृष्टि ने उसे 'घी' बताया। यह तो कोरे चावलों में इन तपस्वियों ने 'घी' डाला है। यह तो तपस्वियों के मुख का अमृत है। (२) चर्म दृष्टि से जो वचन तिरस्कार भरे लगते थे, शास्त्र दृष्टि से वे वचन 'पवित्र प्रेरणा का स्रोत' लगे ! 'मैं आज संवत्सरी के महापर्व पर भी पेट भरने वाला हूँ। मुझे इन तपस्वियों ने उपवास करने की प्रेरणा दी है।' (३) चर्म दृष्टि इन तपस्वियों को 'क्रोधी…अभिमानी' बताती थी परन्तु शास्त्र दृष्टि इन मुनिवरों को मोक्षमार्ग के यात्री बताती थी। उन्हें मोक्षमार्ग दर्शक बताती थी।

शास्त्र दृष्टि से कुरगडु मुनि ने अनुभव रूपी अमृत प्राप्त कर लिया था। कुछ ही क्षणों में इस अनुभव दृष्टि से विशुद्ध परम ब्रह्म के दर्शन कर लिये थे ! यह कार्य करती है शास्त्र दृष्टि।

एक पैर पर खड़े होकर, दोनों हाथ ऊँचे करके सूर्य की तरफ देखकर ध्यान करते हुए प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के कानों में सैनिकों के ये वचन पड़े………'देखो, बिचारे नन्हे राजकुमार को छोड़कर प्रसन्नचन्द्र जंगल में ध्यान करते हैं जबकि राजकुमार का चाचा उसका राज्य हड़पने के लिए तैयारी कर रहा है।'

प्रसन्नचन्द्र ने इन वचनों को शास्त्र दृष्टि से नहीं सुना। उसने मनरूपी भूमि पर शत्रु से जंग छेड़ दिया……रौद्र ध्यान में

चढ़ घोर हिंसा का तांडव नृत्य किया। सातमी नरक में जाने लायक कर्म बांधने लगे। भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में बैठे हुए श्रेणिक राजा ने जब चर्मदृष्टि से प्रसन्नचन्द्र की ध्यान मुद्रा को देखकर राजर्षि की प्रशंसा करके प्रश्न पूछा तो भगवंत ने कहा; 'श्रेणिक, यह राजर्षि अगर अभी मरे तो सातमी नरक में जाये।'

राजर्षि मुनि वेष में थे, ध्यानस्थ मुद्रा एवं कठोर आतापना लेने की क्रिया में थे परन्तु दृष्टि शास्त्र की नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप उनका सुनना ही उनका अधोगमन करा रहा था। परन्तु ज्योंही उसने शास्त्र दृष्टि से देखा तो मस्तक का मुकट लेकर शत्रु को मारने के लिए जाते समय मुड़ा हुआ सर देखा और दृष्टि एकदम बदल गई। शास्त्र दृष्टि ने उसको अधोगति में से झड़प से निकाल लिया और केवलज्ञान की भूमिका पर लाकर खड़ा कर दिया।

शास्त्रों का अध्ययन' शास्त्र दृष्टि' के लिए करने से, उसके द्वारा विश्व दर्शन करने से, परमब्रह्म—अन्य निरपेक्ष परमात्म दशा प्राप्त की जा सकती है।

ओं ह्रीं अर्हं नमः

२७. योग

अगर आपने किसी मुनि, योगी, संन्यासी या प्रोफेसर का योग पर कोई प्रवचन सुना हो तो आपको यह अष्टक अत्यन्त सही और सत्य मार्गदर्शन करेगा। योग के नाम से आज सर्वत्र, देश-विदेश में भ्रान्तियाँ फैल रही हैं। योग के प्रयोग पर चलचित्र बन गये हैं। भोगी योगी का ढोंग कर योग की प्रक्रियायें सिखा रहे हैं।

एकाग्र चित्त से इस प्रकरण का अध्ययन करिये। एक निष्काम महर्षि सैकड़ों वर्षों पहले योग पर आठ श्लोक लिख गये हैं उनका मनन करें।

मोक्षेण योजनाद् योगः सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥१॥ २०९

श्लोकार्थ

मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने से सब आचरण योग कहलाते हैं । विशेष कर स्थान (आसन आदि), वर्ण (अक्षर) अर्थ ज्ञान, आलंबन और एकाग्रता विषयक है ।

विवेचन

भोग और योग ।

भोग से दृष्टि उचटे तो योग पर दृष्टि जमती है । भोग का भूत जब तक सुधी जीव की मन, वचन, काया पर छाया हुआ है तब तक सुधी जीव को योग मार्ग दिखाई ही नहीं देगा । काम वासनाओं का भोगी योग मार्ग को दुःख से भरा हुआ देखता है ।

परन्तु वैषयिक सुखों से विरागी, शास्त्र दृष्टि वाला साधक ऐसा मार्ग खोज निकालता है जिस पर चल कर वह परम सुख प्राप्त कर सकता है । रास्ते की कठिनाइयाँ, भय आदि उसके हृदय को विचलित करने की कोशिश करते हैं परन्तु उनकी आत्मा का उल्लास एवं सत्वभाव विघ्नों की अवहेलना करते हैं और उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं ।

संसार और मोक्ष दोनों को जोड़ने वाला सेतु योग मार्ग है । 'मोक्षेण योजनाद् योगः' आत्मा का जो मोक्ष से सम्बन्ध कराता है उसे योग कहते हैं । जिस मार्ग पर चल कर आत्मा मोक्ष के द्वार पर पहुँचे उसे योग मार्ग कहते हैं ।

'योगविंशिका' ग्रंथ में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने कहा है ।

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो'

'मोक्ष के साथ जुड़ने वाले सब धर्म कार्य योग है।' मोक्ष का कारण भूत जीव का पुरुषार्थ भी योग है परन्तु यहाँ विशेष कर पांच प्रकार के योग बताये गये हैं।

(१) स्थान

(२) वर्ण

(३) अर्थ

(४) आलंबन

(५) एकाग्रता

(१) सब शास्त्रों में प्रसिद्ध कायोत्सर्ग–पर्यंकबंध–पद्मासन आदि आसन 'स्थान' है।

(२) धर्म क्रियाओं में बोले जाने वाले शब्द 'वर्ण' कहलाते हैं।

(३) शब्दाभिधेय के व्यवसाय को 'अर्थ' कहते हैं।

(४) बाह्य मूर्ति आदि विषयक ध्यान को 'आलंबन' कहते हैं।

(५) रूप वाले द्रव्य के आलंबन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि को 'एकाग्रता' कहते हैं।

इनमें पहले के चार प्रकार सविकल्प समाधि रूप हैं और पांचवां प्रकार निर्विकल्प समाधि रूप है।

इन पांचों प्रकारों में पहला प्रकार योग 'आसन' का है। हर एक योगाचार्य ने योग का प्रारम्भ आसन से बताया है। 'अष्टांग योग' में भी पहला आसन है। 'आसन' के द्वारा शरीर की

चंचलता दूर की जाती है। जव तक शरीर स्थिर न हो तव तक मन की स्थिरता नहीं होती है।

अपनी धार्मिक क्रियायें—सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में भी आसन का महत्व समावेश है। सामायिक में सुखासन, पद्मासन, सिद्धासन से बैठकर स्वाध्याय, जप आदि करे तो सामायिक की धर्मक्रिया प्रभावशाली वन जाती है। प्रतिक्रमण में जो 'काऊस्सग्ग' किये जाते हैं वे भी आसन ही हैं इसलिए काऊस्सग्ग के दोषों को टालने का लक्ष्य होना चाहिए।

इसी तरह मुद्राओं का भी लक्ष्य होना चाहिए। कौन सी क्रिया किस मुद्रा में हो उसका ज्ञान होना चाहिए। इसी तरह सूत्रों के अर्थों का ज्ञान और उनका उपयोग होना चाहिए। शुद्ध उच्चारण हो। मूर्ति, स्थापना आदि जो भी आलंवन सामने हो उस पर दृष्टि स्थिर होनी चाहिए तव यह महान योग वनेगा और आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ देगा।

वैठने का ढंग नहीं, सूत्रों के उच्चारण शुद्ध नहीं, अर्थोपयोग के प्रति उपेक्षा, मुद्राओं का ध्यान नहीं और आलंवन के प्रति अवहेलना हो ऐसा योग आत्मा को मोक्ष से नहीं जोड़ सकता........पर मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने की इच्छा हो ऐसे योग से भोग प्राप्त करने वाले रजो एवं तमो गुणों से भरे हुए जीव योग की भी कदर्थना करते हुए देखने में आते हैं।

कर्मयोगद्वयं तत्र ज्ञानयोगत्रयं विदुः।
विरतेष्वेव नियमाद् वीजमात्रं परेष्वपि ॥२॥ २१०

श्लोकार्थ

इनमें दो कर्म योग और तीन ज्ञान योग जाने जाते हैं, ये विरतिवंत में अवश्य होते हैं। दूसरों में भी योग वीज रूप है।

विवेचन

'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है। इन पांच योगों में दो क्रिया योग हैं और तीन ज्ञान योग हैं।

स्थान और शब्द क्रिया योग है।

अर्थ, आलंबन और एकाग्रता ज्ञान योग है।

कायोत्सर्ग, पद्मासन आदि आसन, योग मुद्रा, मुक्ता सुक्ति मुद्रा और जिन मुद्रा आदि मुद्रायें क्रिया योग है। अगर ये आसन, मुद्रा वगैरह किये बिना ही प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन आदि क्रियायें करते हैं तो क्या वे क्रिया योग कहलायेंगे ? क्या अपना क्रिया योग भी पूरी तरह से आराधन किया जाता है। प्रति-क्रमण आदि क्रियाओं में काऊस्सग्ग करते हैं। क्या ये काऊस्सग्ग उनके नियमों के अनुसार होते हैं ? काऊस्सग्ग किस तरह करना इसकी शिक्षा लिए बिगर ही काऊस्सग्ग करने वाले क्या 'स्थान-योग' की उपेक्षा नहीं करते हैं ? हा ! उन्हें यह भी ख्याल नहीं है कि काऊस्सग्ग भी योग है। पद्मासन आदि आसन योग हैं। योग मुद्रा आदि योग है। कौन सी क्रिया करते समय कैसी मुद्रा होनी चाहिए, ऐसा ख्याल कितने लोगों को है ?

'वर्ण' योग की आराधना क्रिया योग है। सामायिक आदि सूत्रों का उच्चारण कैसे करना चाहिए ? क्या इसमें शुद्धि का लक्ष्य है ? इसमें अल्प या पूर्णविराम का ध्यान रहता है ? सिर्फ नवकार मंत्र का भी उच्चारण शुद्ध है ? अगर इस तरह स्थान योग और वर्ण योग का पालन न करके क्रियायें करते जायें तो क्या क्रिया योग के आराधक कहलायेंगे ?

अब 'ज्ञान योग' की उपासना पर विचार करें।

सूत्रों के अर्थ का ज्ञान होना चाहिए। क्रिया योग में मन की स्थिरता, चित्त प्रसन्नता तभी होती है जब कि इनके अर्थों का ज्ञान हो। अर्थ ज्ञान ऐसे प्राप्त करना चाहिए कि सूत्रों का आलंबन लिए बिगर ही अर्थों की झुरझुरी चलने लगे और इसके भाव प्रवाह में मन वहने लगे।

'हमको धर्म क्रियाओं में आनन्द नहीं आता है।' यह शिकायत बहुत ज्यादा बढ़ रही है परन्तु आनंद प्राप्त करने के लिए धर्म क्रियायें कौन करता है ? हाँ, धर्म क्रियायें भरपूर आनंद दे सकती हैं परन्तु इससे आनंद प्राप्त करने की इच्छा है क्या ? सिनेमा, नाटक सर्कस आदि से जब तक आनंद प्राप्त करने की इच्छा प्रबल है तब तक धर्म क्रियायें फीकी-फीकी ही लगेंगी। योगी को योग कैसे प्रिय लगेगा ? भोग में नीरसता आये बिगर योग में रसवृत्ति जाग्रत नहीं होगी। योग क्रियाओं में लगा हुआ भोगी का मन भोग की दुनियाँ में भटकने लगता है तब भोगी धर्म क्रियाओं में दोष देखता है।

आलंबन के माध्यम से योगी अपने मन को स्थिर रखता है। परमात्मा की मूर्ति श्रेष्ठ आलंबन है। पद्मासनस्थ मध्यस्थ भाव को धारण किये हुए प्रतिमा योगी के मन को स्थिर रखती है। योगी के लिए जिनमूर्ति प्रेरणा स्रोत बनती है। योगी की आँखें बन्द होते हुए भी उसका अंतर मन मूर्ति के दर्शन करता है। जिह्वा शान्त होते हुए भी परमात्मा की स्तुति गा रहा होता है। परमात्म दशा के प्रेमी के लिए मूर्ति स्नेह संवर्धन के लिए पर्याप्त साधन बन जाती है।

जिसके प्रति मनुष्य को राग, स्नेह, प्रीति होती है उसके विरह में उसकी प्रतिकृति (फोटो), उसकी मूर्ति·······स्नेही के

लिए कितना महत्व रखती है यह उन्हें पूछ कर देखिये। इस फोटो के द्वारा प्रेमी उसकी निकटता प्राप्त करता है, उसकी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं। उसके स्वरूप का ध्यान हो जाता है। जैसे ही मूर्ति के द्वारा उत्कटता प्रकट होती है वैसे ही वह पांचवें योग में चला जाता है।

'रहित' योग में कोई विकल्प, विचार या कल्पना को स्थान नहीं है वह उसके समान ही बन जाता है फिर उसको किसका विचार करना है ?

इस तरह क्रिया योग और ज्ञान योग को समझ कर मुनि तब इनकी आराधना करते हैं। जब अपुनर्बंधक श्रावक आदि में इस योग का प्रारंभ होता है उसमें योग का बीजारोपण हो जाता है।

कृपानिर्वेदसंवेगप्रशमोत्पत्तिकारिणः।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः॥३॥ २११

श्लोकार्थ

यहाँ प्रत्येक योग के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ये चार भेद हैं। वे कृपा, ससार का भय, मोक्ष की इच्छा और प्रशम की उत्पत्ति करने वाले हैं।

विवेचन

पांच योग, हरएक के चार-चार प्रकार, कुल बीस प्रकार, प्रत्येक योग के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, ये चार चार भेद हैं।

पहला योग है 'स्थान'। आसन और मुद्राओं से इच्छा जाग्रत होती है। पीछे उसमें प्रवृत्ति होती है अर्थात् जिस धर्म

त्रिया में जो आसन और मुद्रा रखनी हो वही रक्खे। उसके वाद उसमें स्थिरता आती है। आसन मुद्रा में अरुचि व चंचलता दूर होती है। ऐसे करने से आसन और मुद्रा सिद्ध होती है।

दूसरा योग है 'वर्ण' जिस क्रिया में जिस सूत्र का उच्चारण करना हो उस सूत्र के अध्ययन करने की इच्छा हो और फिर उन २ क्रियाओं में सूत्रों के उच्चारण करने की प्रवृत्ति करे। सूत्रों के उच्चारण में स्थिरता आवे, अर्थात् कभी जल्दी तो कभी मंद गति.....ऐसी अस्थिरता नहीं रहे। लयवद्धता से सूत्रोच्चारण की सिद्धि प्राप्त होती है।

तीसरा योग है 'अर्थ'। उसमें उन उन सूत्रों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हो। अर्थ ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करे, अर्थ ज्ञान स्थिर हो अर्थात् भूले नहीं। इस तरह अर्थ ज्ञान की सिद्धि ऐसी प्राप्त करे कि वे धर्म क्रिया करते समय अर्थोपयोग स्वाभाविक रूप से चलता ही रहे।

चौथा योग है 'आलंवन।' आलम्वन रूप जिन मूर्ति आदि के प्रति प्रेम हो। इनका आलंवन लेने की प्रवृत्ति बढ़े। मन निःशंक, निर्भय होकर आलंवन में स्थिर हो और उसमें ऐसी स्थिरता हो कि दूसरे जीवों की भी भावना योग की तरफ आकर्षित हो।

'रहित' निर्विकल्प समाधि रूप है। इसमें इच्छा आदि नहीं हो सकती परन्तु ऐसे निर्विकल्प योगी की वे प्रशंसा करें। और ऐसे योगी वनने के उपायों में प्रवृत्ति करें। मन स्थिर वनता जाये और ऐसा निरालम्वन योगी वन जाये कि दूसरे जीवों को भी अपने योग की तरफ झुका लेवे।

इस योग की आत्मा में अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम प्रगट होते हैं अर्थात् आत्मा का संवेदन इसी तरह का बन जाता है।

दुःखी जीवों को देखकर उसके हृदय में उनका दुःख दूर करने की इच्छा जाग्रत हो। द्रव्य से दुःखी और भाव से दुःखी दोनों प्रकार के दुःखियों के दुःख निवारण करने की इच्छा होती है। वह दुखियों की उपेक्षा नहीं कर सकता है।

संसार के सुखों से वह विरक्त बने। संसार को कारागृह या श्मसान के समान समझे। इससे मुक्त होने की कोशिश करता हो चाहे चक्रवर्ती का या इन्द्र का सुख मिले तो भी इनकी तरफ आकर्षित न हो।

इस योगी का मन आत्मा की परिशुद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए तड़फता हो। 'कब मैं मोक्ष जाऊँगा ?' यह तमन्ना हमेशा हो। मोक्ष के सुखों की तरफ आकर्षित हुआ होना चाहिए।

उपशम का तो सागर हो। कषायों को क्षीण भंवर भी इनके तन मन में दिखाई नहीं देती हो। कषाय इसके मन को मंथन नहीं कर सकती हैं। इसका मुख हमेशा प्रशांतभाव से देदीप्यमान होता है। यह इच्छादि योग का फल है, कार्य है।

अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइ तह य पयमु त्ति।
एएसिं अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं ॥

—योगविंशिका

इच्छादियोग के ये अनुभाव हैं, अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम। ये अनुभाव प्रगट करने के लिए योगी को पुरुषार्थ करना चाहिए। इन अनुभावों से आत्मा अपूर्व शान्ति अनुभव करती है।

ज्ञान और क्रिया द्वारा आत्मा के भावों को परिवर्तन करने का लक्ष्य रखना चाहिए। लौकिक भावनाओं से लोकोत्तर भावनाओं में जाना है। स्थूल से सूक्ष्म में जाना है।

इच्छा तद्वत् कथा प्रीतिः प्रवृत्तिः पालनं परम् ।
स्थैर्यं बाधकभीहानिः सिद्धिरन्यार्थं साधनम् ।।४।। २१२

श्लोकार्थ

योगी की कथा में प्रीति हो वह 'इच्छा योग' है। उपयोग के पालन को 'प्रवृत्ति योग', अतिचार के भयों के त्याग को 'स्थिरता योग', और दूसरों के अर्थ का साधन करने को 'सिद्धि योग' कहते हैं।

विवेचन

अब इच्छा आदि चार योगों की स्वतंत्र परिभाषा की जाती है—

(१) इच्छा योग, योग की वार्ता में प्रीति जाग्रत करता है। योग एवं योगी की वार्तायें रुचिकर लगती हैं। उन्हें आप श्मशान में काउस्सग्ग ध्यानस्थ खड़े हुए अयवंति सुकुमाल की कथा कहेंगे तो भाव विभोर हो जायेंगे। अगर आप कृष्ण वासुदेव के भाई गज सुकुमाल मुनि की कहानी सुनायेंगे तो वे उसमें मग्न हो जायेंगे। अगर खंधक मुनि या झांझरीया मुनि की वार्ता कहेंगे तो उसमें इतने मग्न हो जायेंगे कि भूख प्यास का भी ध्यान नहीं रहेगा। इन्हें आप 'इच्छा योगी' जानिये। आप यह न समझें कि ये वार्तायें तो सबको अच्छी लगती हैं। ये तो इच्छा योगी को ही अच्छी लगती हैं दूसरों को नहीं। इस इच्छा योगी को आजकल के रहस्य रोमांच के उपन्यास, सामा-

जिक या श्रृंगार रस से भरी हुई कहानियाँ विज्ञान के नये आविष्कारों के चमत्कारिक लेख आदि नीरस लगेंगे। उन्हें पढ़ना या सुनना भी अच्छा नहीं लगेगा। देश विदेश की घटनायें, मंत्रियों का चुनाव या राजाओं का अधःपतन, विश्व की सुन्दरतम स्त्रियों, उनके हाव, भाव, कटाक्ष, श्रृंगार, कपड़ों, बालों आदि का फैशन सब अजब एवं रसहीन लगेंगे। उन्हें सौंधी सौंधी सुगन्ध वाले तरह-तरह के सुस्वादु भोजन भी अच्छे नहीं लगते हैं।

(२) जिसे जो पसन्द हो वह उसे प्राप्त करने के लिए या उसके समान बनने का प्रयत्न करता है, इच्छा योगी ऐसे शुभ उपयोग का पालन करने के लिए तत्पर रहते हैं। उनका आदर्श कोई 'योगी' हो जाता है। फिर चाहे आनंदघनजी हों या यशोविजयजी, उनके समान योगी बनने के लिए शुभ पवित्र उपाय का पालन करते हैं।

(३) शुरू-शुरू में उनका पुरुषार्थ त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है। उसमें गल्तियाँ भी होती हैं और अतिचार भी लगता है परन्तु सजग योगी लक्ष्य से चूकते नहीं हैं। वे अतिचार को टालने की कोशिश करते हैं और अपनी त्रुटियाँ सुधार लेते हैं। वे ऐसे अप्रमत्त बन जाते हैं कि निरतिचार आचार पालन करते हैं जिससे उनको कोई अतिचार लगने का भय ही नहीं रहता है।

(४) ऐसे योगी को अहिंसा आदि गुण ऐसे सिद्ध हो जाते हैं कि इनके सान्निध्य मात्र से ही ये गुण दसरे जीवों को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्यों की वैर वृत्ति का शमन हो जाता है और पशुओं की हिंसा वृत्ति शान्त हो जाती है।

यहां सर्व प्रथम योग 'कथा प्रीति' अत्यन्त महत्व पूर्ण है।

योगी के योग की कथा आदि सुनने के लिए मन ललच जाता है। वह इच्छा स्वाभाविक होती है। ऐसी प्रीति वाले मनुष्य स्थान आदि योग बहुत पसन्द करते हैं। इसलिए योगियों का पावन सान्निध्य खोजता फिरता है। जब परम योगी मिल जाते हैं तब उनका हृदय आनंद विभोर हो जाता है।

आज मुनियों में यह स्थानादि योगों की ओर प्रवृत्ति प्रायः देखने में नहीं आती है। योग का मार्ग मानों किसी दूसरे वर्ग के लिए हो वे ऐसा समझते हैं। शास्त्र-स्वाध्याय और तपश्चर्या जरूर होती है परन्तु वे स्थानादि योग के ज्ञाता नहीं होने से शास्त्र स्वाध्याय और तपश्चर्या सविकल्प में से निर्विकल्प में ले जाने में असमर्थ रहते हैं।

मोक्ष के साथ धर्म योग को जोड़ने वाले आराधकों को स्थानादि योगों का भी समावेश करना चाहिए। धर्म क्रिया मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने की सामर्थ्य रखती है। परन्तु धर्म क्रिया सही रूप से होनी चाहिए। धर्म क्रिया में उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं अतिचार रहित बनने की जागृति आनी चाहिए। ध्येयहीन एवं विचार शून्य धर्म क्रिया आत्मा का कल्याण नहीं कर सकती है।

अर्थालम्बनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम्।
श्रेयसे योगिनःस्थानवर्ण योर्यत्न एव च ॥५॥ २१३

श्लोकार्थ

चैत्यवन्दन आदि क्रिया में अर्थ एवं आलंबन का स्मरण करना चाहिए, स्थान तथा वर्ण के उद्यम भी योगी के लिए कल्याण कारक हैं।

विवेचन

योगी !

ऊर्ध्वगामी गतिशीलता !

परम ज्योति में विलीन होने की गहरी इच्छा !

अन्धकार में प्रकाश फैलाने वाले झूँठ का नाश कर सत्य को स्थापित करने वाले मृत्यु की जड़ता को मिटाकर अमरता की वरमाला पहनने वाले योगी होते हैं। योगी कल्याण और सुख चाहता है पर जो सुख योगी चाहते हैं वह विश्व के वाजार में नहीं मिलता ! हा, इस वाजार में सुख को खरीदने वालों की भीड़ लगी हुई है। योगी यहाँ आते हैं कुछ आश्चर्य, निराशा एवं निश्वास छोड़कर आगे वढ़ जाते हैं। इन बाजारों में सजाए हुए सुख के अन्दर दृष्टिपात करे तो हृदय द्रवीभूत हो जाता है। यह हलाहल विष से भी भयंकर है इस के ऊपर सुख का शृंगार है। जिसे खरीदने वाला देखता है। संसार के प्राणी ऊपर का सौन्दर्य देखते हैं, खरीद कर उसका उपभोग करते हैं और आखिर स्वयं हो टूट जाते हैं।

योगी सुख चाहते हैं परन्तु इन्हें इन्द्रियों की खुजलाहट नहीं है। योगी आनन्द के इच्छुक हैं परन्तु उनके मन का उन्माद नहीं हैं। ये स्वस्थ हैं; शान्त हैं। ये बाह्य दुनिया के सुख प्राप्त करने की परवाह न कर आंतरिक संसार में गोते लगाते हैं इनकी सूक्ष्म दृष्टि वहाँ सुख का विपुल भंडार देखती है।

आंतरिक सृष्टि में प्रवेश करने का वे दृढ संकल्प करते हैं इसलिए वे सर्वज्ञ का मार्ग दर्शन शास्त्रों में खोजते हैं। जब मार्ग दर्शन मिल जाता है तब हृदय गद्गद हो जाता है। उनकी आंखें

हर्ष के आंसुओं से छलछला उठती है। वे स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन इन चारों योगों की आराधना करना प्रारम्भ कर देते हैं।

सर्व प्रथम आसन मुद्राओं का अभ्यास शुरू करते हैं। सुखासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि आसन सिद्ध करके घंटों तक उन आसनों को कर अपने शरीर को अनुरूप बनाते हैं। योग मुद्रा आदि मुद्रायें सिद्ध करके शरीर को आज्ञाकारी बनाते हैं। इसलिए आहार, विहार एवं नीहार के नियमों का सतर्कता से पालन करते हैं। प्रमाद (आलस्य) या शक्तिहीनता शरीर से निकाल कर अपने शरीर को स्थान योग के लिए सुयोग्य बनाते हैं।

इसके उपरान्त दैनिक जीवन में धर्म क्रियाये; चैत्य वंदन, प्रतिक्रमण, पडिलेहण आदि बोलने के सूत्रों का अध्ययन इस तरह करते हैं कि बोलने व सुनने वाले दोनों को मदमस्त कर देते हैं। उनके धीर गंभीर एवं मधुर कंठ की स्वर लहरी से बाहर का कोलाहल शान्त हो जाता है। स्वर-व्यंजन के उच्चारण के नियमों का पालन करने वाला योगी 'वर्ण योग' को भी सिद्ध कर देता है।

इस तरह शरीर एवं जिह्वा पर असाधारण नियंत्रण करके मन को वश करने की क्रिया प्रारम्भ करते हैं। इसके लिए आवश्यक क्रियाओं के सूत्रों का अर्थ समझते हैं। अर्थ ज्ञान से वे सूत्रों का कल्पना चित्र बनाते हैं। जैसे जैसे सूत्रों का उच्चारण करते हैं वैसे वैसे कल्पना चित्र उभरते जाते हैं। जो बोलते हैं वे सुनते जाते हैं और उनके भावों में बह जाते हैं। मन भाव विभोर हो जाता है और आनन्द की तरंगों में गोते खाने लगता है। इनके साथ साथ जिन मूर्ति आदि का आलंबन लेकर आनंद

में चार चांद लगा देते हैं। जिन मूर्ति में उसका मन रम जाता है। वीतराग एवं सर्वज्ञता से प्रेम करने लगता है।

योगी इस तरह अपना कल्याण मार्ग प्रशस्त करता है। योगी का आभ्यंतर सुख योगी ही अनुभव कर सकता है। भोगी इसे न देख सकता है और न अनुभव कर सकता है। योगी अपना सुख न भोगी को बता सकता है और न कह सकता है। अगर कभी कहने भी लगे तो भोगी को वह नीरस लगेगा। योगी का सुख भोगी को आकर्षित नहीं कर सकता है और भोगी का सुख योगी को ललचा नहीं सकता है।

आलम्वनमिह ज्ञेयं द्विविध रूप्य रूपि च।
अरूपि गुण सायुज्य योगोऽनालम्वनः परः ॥६॥ २१४

श्लोकार्थ

यहाँ आलंबन, रूपी और अरूपी दो प्रकार के हैं उसमें अरूपी–सिद्ध के स्वरूप के साथ तन्मयता योग का उत्कृष्ट आलंवन योग है।

विवेचन

चौथा योग आलंवन है।

आलंवन दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी।

जिन प्रतिमा आदि रूपी आलंबन हैं जब कि अरूपी आलंवन सिद्ध स्वरूप की तादात्म्यता है। ये आलंवन होते हुए भी इन्हें आलंवन योग कहते हैं। श्री हरिभद्र सूरिजी महाराज ने योग विंशिका में कहा है:

आलंवणं पि एयं रूविमरूवि य इत्थ परमुत्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमो अणालंवना नाम ॥

यहाँ रूपी और अरूपी दो प्रकार के आलंबन हैं। उसमें अरूपी परमात्मा के केवल ज्ञान आदि गुणों की तन्मयता रूप सूक्ष्म अनालंबन (इन्द्रियों के अगोचर होने से) योग कहा है।'

पांचवां एकाग्रता योग (रहित) जो अनालंबन योग है। स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन ये चार योग सविकल्प समाधि-रूप हैं जब कि यह पांचवां अनालंबन योग निर्विकल्प समाधि-रूप हैं। क्रमशः आत्मा को इस निर्विकल्प दशा में जाना है।

अशुभ भावों में से शुभ भावों में जाना पड़ता है और शुभ में से शुद्ध भावों में जाया जाता है। अशुभ से सीधे शुद्ध में नहीं जा सकते हैं। कंचन एवं कामिनी का आलंबन जो कि आत्मा को राग, द्वेष, मोह में फंसाने वाले हैं, दुर्गतियों में भट-काने वाले हैं, इन आलंबनों का त्याग कर इनके स्थान पर दूसरे शुभ आलंबन ग्रहण करने से ही हो सकता है। नन्हा बालक हाथ में मिट्टी लेकर खाता है, माता उसके हाथ से मिट्टी लेने का प्रयत्न करती है परन्तु वह नहीं छोड़ता है। जब उसकी मां एक हाथ में मिठाई देती है तब बालक हाथ से मिट्टी तुरन्त फैंक देता है। इसी तरह अशुभ-पाप वर्धक आलंबनों से छूटने के लिए शुभ पुण्य वर्धक आलंबन ग्रहण करने चाहिए।

जैसा आलंबन सामने होता है वैसे ही विचार चित्त में उत्पन्न होते हैं। राग द्वेष के आलंबन राग द्वेष पैदा करते हैं। विराग-प्रशम के आलंबन आत्मा में विराग प्रशम पैदा करते हैं। परम कृपालु परमात्मा की वीतराग-मूर्ति का आलंबन लेने से हृदय में विराग की मस्ती जाग्रत होगी। श्री आनन्दघनजी महाराज ने गाया है—

"अमि-भरी मूर्ति रचिरे [illegible]।

शान्त सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय..........

विमल-जिन दीठा लोयण आज ।"

जिन मूर्ति का आलंवन आत्मा में कैसा मधुर पवित्र स्पंदन पैदा करता है यह अनुभव करके देखो । ऐसा करते करते परमात्वतत्व में स्थिरता प्राप्त होती है । ध्यान में परमात्मा के दर्शन होंगे । अपनी आत्मा परमात्मस्वरूप के साथ ऐसा तादात्म्य प्राप्त करेंगे कि आत्मा और परमात्मा का भेद ही नहीं रहेगा भेद भाव रहित मिलन होगा । वहाँ कोई विकल्प नहीं रहता क्योंकि यह भेद में होती है परन्तु अभेद में निर्विकल्प दशा होती है ।

फिर इन्हें रूपी-मूर्त आलंवन की आवश्यकता नहीं रहती है । सूक्ष्म में प्रवेश करने के वाद स्थूल की अपेक्षा नहीं रहती है । सूक्ष्म आत्म गुणों के तादात्म्य साधने वाला योगी 'योग निरोध' के समक्ष पहुँच जाता है योग निरोध रूप सर्वोत्तम योग का पूर्वभावी यह आलंबन योग है । अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में योग निरोध होता है उनमें पूर्वभावी आलम्बन योग १ से ७ गुण स्थानकों में संभव नहीं है इसलिए अपन साधक दशा में रहे हुए (१ से ७ गुण स्थानकों में) जीवों के लिए तो पहले ४ योग ही आराधन करने हैं परन्तु आलंबन योग का स्वरूप जानना आवश्यक है जिससे अपना आदर्श एवं ध्येय स्पष्ट हो ।

इस आलंवन योग को "धारा वाही प्रशान्त सरिता" भी कहा जाता है ।

प्रीति-भक्ति-वचौ ऽसंगैः स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।

तस्माद् योग योगाप्ते र्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत् ।।७।।२१५

श्लोकार्थ

प्रीति, भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठान की तरह स्थानादि

योग भी चार तरह के हैं जिससे योग के निरोध रूप योग प्राप्त होनेसे अनुक्रम से मोक्ष योग प्राप्त होता है।

विवेचन

५ योग (स्थान, वर्ण, अर्थ, आलंबन, अनालंबन)
×४ योग (इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि)
२०
×४ (प्रीति, भक्ति, वचन, असंग)
८०

यह है योग के भेद प्रभेद का गणित।

इस तरह योग को आराधना करने वाला योगी अयोगी वनता है। शैलेशी प्राप्त कर मोक्ष का पथिक बनता है।

चैत्यवंदन आदि धर्म योग में परम आदर होता है। गतानुगतिक तरीके भाव शून्य हृदय से आराधित किया हुआ धर्म योग आत्मा की प्रगति नहीं कर सकता है। प्रीति अनुष्ठान में उनको स्थान नहीं मिलता है। अनुष्ठान में इतना मग्न हो कि अनुष्ठान कर्त्ता का अभ्युदय हो। संसार के सब कार्य त्याग कर एक निष्ठा से धर्मानुष्ठान की आराधना करे। मन में सतत एवं सर्वत्र धर्मानुष्ठान की प्रीति बनी रहे।

भक्ति अनुष्ठान में भी आदर, उत्कट प्रेम और अन्य प्रयोजनों का त्याग होता है परन्तु यहां एक विशेषता होती है, जो धर्म योग वह आराधन करता है उसका महत्व-गौरव उसके हृदय में अंकित हो जाता है।

प्रीति एवं भक्ति के पात्र भिन्न होते हैं जैसे पत्नी एवं माता। जैसे युवक को पत्नी अति प्रिय होती है वैसे ही हितकारी मां भी। दोनों का पालन पोषण समान होता है परन्तु पुरुष पत्नी

का पालन प्रीति से करता है और मां का कार्य भक्ति से करता है।

तीसरा वचनानुष्ठान है। सब धर्मानुष्ठानों को शास्त्रानुसार औचित्यपूर्वक करना चाहिए। चारित्रवान मुनि वचनानुष्ठान की अवश्य आराधना करे। ये शास्त्र की आज्ञा का कभी भी उलंघन नहीं करते हैं और साथ साथ औचित्य का भी पालन करते हैं। शास्त्रों की आज्ञा, विना औचित्य से पालन की जाये तो दूसरे जीवों को शास्त्र से घृणा हो जाती है।

चौथा असंगानुष्ठान है। जब धर्मानुष्ठान का बहुत ज्यादा अभ्यास हो गया हो तब असंगानुष्ठान सहजता से होता रहता है जैसे चन्दन से सुगन्ध स्वाभाविक निकलती है उसी तरह यह अनुष्ठान होता रहता है।

वचनानुष्ठान और असंगानुष्ठान में एक अन्तर है। कुम्हार डंडे से चक्र को घुमाता है; फिर डंडे के बिगर हो चक्र घूमता रहता है। इसी तरह वचनानुष्ठान शास्त्र की आज्ञा से होता है फिर शास्त्र के संस्कार मात्र से, शास्त्रों की अपेक्षा बिना सहज भाव से जो प्रवृति होती है वह असंगानुष्ठान है।

गृहस्थ वर्ग में प्रीति और भक्ति अनुष्ठान की प्रधानता होनी चाहिए। भले ही गृहस्थ शास्त्र की आज्ञाओं को नहीं जानता हो परन्तु उसे इतना जरूर जानना चाहिए कि यह धर्म मार्ग तीर्थंकरों द्वारा बताया गया है और इससे ही सर्व सुख प्राप्त होंगे कर्मों का क्षय होगा। आत्मा का निर्वाण होगा। पाप क्रियायें तो करके अनन्त संसार में भटका, चारों गति के घोर दुःख सहन किये इसलिए मुझे अब ये पाप क्रियायें नहीं करनी है। अब तो ये हितकर क्रियायें करके जीवन सफल बनाना है।'

प्रीति-भक्ति से आराधन किया हुआ धर्मानुष्ठान ऐसा पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जित कराता है कि एक नौकर भी महाराज कुमारपाल बन सकता है। पांच कौड़ी के पुण्य से इसने जो जिन पूजन के अनुष्ठान का आराधन किया वह प्रीति अनुष्ठान था। इस अनुष्ठान से ऐसा अभ्युदय हुआ।

"अभ्युदयफले चाद्ये निः श्रेयस साधने तथा चरमे।"

—षोडशके

पहले दो अनुष्ठान अभ्युदय साधक हैं। आखिर के दो अनुष्ठान निःश्रेयस के साधक हैं।

स्थाना द्ययोगि नस्तीर्थो च्छेदा लम्बनादपि।
सूत्रदाने महादोष इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥८॥२१६

श्लोकार्थ

स्थानादि योग रहित को आलंबन इत्यादि से भी 'तीर्थ का उच्छेद होता है, उनको चैत्य वंदन आदि सूत्र सिखाने पर महा पाप होता है, यह आचार्यों का कथन है।

विवेचन

कोई भी वस्तु के आदान प्रदान में योग्यता-अयोग्यता का विचार करना आवश्यक होता है। देने वाले और लेने वाले की योग्यता पर देने और लेने में व्यवहार शुद्धि होनी चाहिए।

दाता योग्य हो पर लेने वाला योग्य हो।
दाता अयोग्य हो पर लेने वाला योग्य हो।
अगर लेने व देने वाले दोनों अयोग्य हों।
तो ये तीनों प्रकार शुद्ध नहीं हैं।

देने वाला और लेने वाला दोनों योग्य हों तो यह प्रकार शुद्ध है।

सामायिक सूत्र, चैत्य वंदन सूत्र, प्रतिक्रमण सूत्र दान की यहाँ चर्चा की गई है। सूत्र किसको देना चाहिए? सूत्रों का अर्थ किसको समझाना चाहिए? यह प्रश्न है।

पूज्य उपाध्यायजी समर्थ पूर्वाचार्यों के उद्धरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

जिस व्यक्ति को स्थान, इच्छा, प्रीति आदि कोई भी योग प्रिय नहीं, किसी भी योग की आराधना जो नहीं करता है, उसे सूत्र दान नहीं करना चाहिए।

प्रश्न: वर्तमान में ऐसे योग प्रिय या योग आराधक मानव मिलने दुर्लभ हैं। अगर पांच प्रतिशत भी मिल जाये तो अहो-भाग्य है। तो चैत्यवन्दन आदि सूत्र क्या २-४ को ही सिखाना चाहिए? दूसरों को नहीं देने से क्या धर्म शासन का विच्छेद नहीं होगा? कैसे भी अविधि से भी धर्म क्रिया कोई करता है तो नहीं करने वाले से तो अच्छा है?

समाधान: सर्व प्रथम धर्म-शासन-तीर्थ को समझें। तीर्थ किसे कहते हैं? जिन आज्ञा रहित मनुष्यों के समूह तीर्थ नहीं है। जिनाज्ञा पालन, उसके प्रति आदरप्रीति बहुमान वाले साधू-साध्वी-श्रावक-श्राविका का समुदाय शासन है, तीर्थ है। इनको सूत्रदान करने में कोई पाप नहीं है क्योंकि ये अविधि को उत्तेजना नहीं देंगे। अविधि से धर्म क्रियायें करने वालों की पीठ शाबाशी से नहीं थपथपायेंगे। अविधि को उत्तेजना देने से शास्त्रोक्त क्रियाओं का उच्छेद होता है जिससे तीर्थों का उच्छेद होता है।

'धर्म क्रिया' नहीं करने वालों से अविधि से करने वाले अच्छे हैं यह कारण उचित नहीं है। अविधि की परंपरा पर चलने पर अविधि 'विधि' बन जाती है फिर कोई शास्त्रोक्त विधि बताता है तो वह 'अविधि' लगती है। पूज्य यशोविजयजी उपाध्यायजी के शब्दों में पढिये :

'शास्त्रोक्त क्रियाओं का लोप करने से उसका कुट परिणाम होता है। स्वयं मरना और दूसरों को मौत के घाट उतारने में क्या फर्क नहीं है ? उसमें इतनी विशेषता है कि स्वयं मरता है तो उसमें उसका दुष्टाशय निमित्त रूप नहीं है और दूसरों को मारता है तो उसका दुष्टाशय निमित रूप है। इसी तरह क्रिया में प्रवृति नहीं करने से गुरू का दोष नहीं है परन्तु अविधि में प्रवृत्त होता है तो उन्मार्ग में प्रवृति कराने वाले परिणाम से महादूषण (पाप) लगता है। यह भी तीर्थ उच्छेद के दुर्भागी को विचार करने योग्य है।

स्थानादि ५ योग, इच्छादि ४ योग और प्रीत्यादि ४ योग का मार्ग बताकर पूज्य उपाध्यायजी ने मोक्ष मार्ग की आराधना करने के इच्छुक को सुन्दर मार्ग दर्शन किया है। भोग की भ्रमणा से निकल कर योग के मार्ग में प्रस्थान करने के लिए इस योगाष्टक का गंभीर चिंतन करना चाहिऐ। साथ साथ 'योग विंशिका' का अध्ययन भी करना चाहिए जिससे विशेष अवबोध प्राप्त होगा।

ओं ह्रीं अर्हं नमः

२८. नियाग (यज्ञ)

संभव है कि वर्तमान में आपने यज्ञ अनुष्ठान नहीं देखा हो। आज कल इतने व्यापक रूप में देखने में नहीं आते हैं। फिर भी जो यज्ञ होते हैं क्या वे वास्तविक हैं? सच्चा यज्ञ कैसा होना चाहिए? इसकी क्रिया क्या है?

यहाँ यज्ञ में काम आने वाले शब्द आपको पढ़ने को मिलेंगे और आप स्वयं स्वतंत्रता से यज्ञ कर सकते हैं। कोई भी बाह्य साधन बिना ऐसी प्रक्रिया बताई गई है कि ऐसा कल्याण कारी यज्ञ अपन को हमेशा करना चाहिए।

य: कर्महुतवान् दीप्ते ब्रह्माग्नौ ध्यान धाय्यया।
स निश्चतेन योगेन नियागं प्रतिपत्तिमान् ॥१॥२१७

श्लोकार्थ

जिसने प्रदीप्त किया है ब्रह्म रूप अग्नि में ध्यान रूप वेद की ऋचा (मंत्रों) से कर्मों का होम किया हो वे मुनि निर्धारित भाव यज्ञ से नियाग को प्राप्त करते हैं।

श्लोक–विवेचन

यज्ञ !

जैन धर्म में यज्ञ ?

हाँ, चौंकिये नहीं, यहाँ ऐसा दिव्य यज्ञ बताया जायेगा कि उसे देख कर आप झूमने लगेंगे। यहाँ वेदों की विकृति से उत्पन्न हुए यज्ञ नहीं है। न अश्वमेध यज्ञ या पितृमेध यज्ञ, न हिंसात्मक क्रिया कांड और न निरपराध जीवों की बली चढाने का प्रपंच है।

जैनेतर संप्रदायों में यज्ञ की उत्पति पर भिन्न भिन्न मन्तव्य प्रकट होते हैं। प्रलय के बाद मनुष्यों ने विवश होकर यज्ञ किया। फिर आर्यों में पृथ्वी पर सूर्य के प्रतिनिधि के रूप में अग्नि को आहुती देने की परम्परा चली। ब्राह्मण ग्रन्थों में खास कर यज्ञ की सूक्ष्म से सूक्ष्म कर्म कांड के विगतों का विधान है।

जैसे उपनिषदों ने यज्ञ की जड़ विधि के बदले रूपक तरीके अपनाये हैं वैसे ही पूज्य उपाध्यायजी महाराज भी यज्ञ के रूपक तरीके अपनाते हैं। देखिये यह रूपक—

- ज्वाज्वल्यमान ब्रह्म अग्नि है।
- ध्यान (धर्म, शुक्ल) वेद की ऋचा है।
- कर्म (ज्ञानवरणादि) समिध (ईंधन) है।

ब्रह्म रूप अग्नि में ध्यान रूप वेद की ऋचाओं का उच्चारण पूर्वक ज्ञानावरण आदि कर्मों को होम करने को नियाग कहते हैं। नियाग का अर्थ है भाव यज्ञ। केवल क्रियाकांड तो द्रव्य यज्ञ है। नियाग (भाव यज्ञ) करने वाला मुनि कैसा होता है उसका व्यक्तित्व 'उत्तराध्ययन' सूत्र में बताया है।

'सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वो सट्ठकाया सुइचत्तदेहा जहाजयं जयइ जन्नसेट्ठं।"

"पांच संवर से सुसंवृत, जीवन के प्रति अनाकांक्षी, शरीर के प्रति ममता रहित. पवित्र, देहाध्यास के त्यागी, ऐसे मुनिवर कर्म पर विजय प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ यज्ञ कर्ता हैं।"

जैसे अग्नि प्रदीप्त करनी पड़ती है वैसे ही योग-उपासना द्वारा मंद पड़े हुए ब्रह्म तेज को प्रज्वलित करना है। ध्यान–धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों को भस्मीभूत करना है। इस तरह भाव यज्ञ का मार्मिक एवं वास्तविक अर्थ बताया गया है।

पाप ध्वंसिनि निष्कामे ज्ञान यज्ञे रतो भव।
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं भूतिताकनया ऽऽविलैः ॥२॥२१८

श्लोकार्थ

पाप का नाश करने वाला, कामना रहित ऐसे ज्ञान यज्ञ में जो आसक्त है उसे सुख की इच्छाओं के लिए मलीन पाप सहित कर्म यज्ञ से क्या प्रयोजन है।

विवेचन

आपके जीवन का क्या लक्ष्य है ?

मन-वचन एवं काया के पुरुषार्थ की कौन सी दिशा है ? कौन

सी इच्छा के अभिभूत होकर आप जी रहे हैं ? क्या पापों का विनाश करने का आपका लक्ष्य है ? पापों की गन्दगी धोने का आप पुरूषार्थ कर रहे हैं ? आत्मा को निर्मल वनाने की तमन्ना है तो आप 'ज्ञान यज्ञ' में लीन हो जाइये ।

हा, संसार की पंचेन्द्रियों को क्षणिक तृप्ति देने के लिए कोई भी सुख की कामना हृदय में लेश मात्र भी नहीं होनी चाहिए । 'पर लोक में स्वर्ग का दिव्य सुख मिलेगा, यह भी भावी सुख की कामना हृदय में नहीं होनी चाहिए । सुखों के प्रति निःस्पृह-निरागी वन कर यह ज्ञान यज्ञ करना है ।

पाप को नाश करने की भी कामना कही जाती है ? क्या आपको यह कहना है ? हा, यह कामना होते हुए भी निष्काम रूप अखंडित है । यह कामना आपको पाप करने के लिए प्रेरित नहीं करेगी । अपन को ऐसी कामना नहीं करनी चाहिए जिससे पाप के प्रति झुकाव हो । आप निशंक वनकर पापों का नाश करने के लिए ज्ञान यज्ञ प्रारम्भ कर दें ।

स्वर्ग, पुत्र, स्त्री, धन-वैभव आदि क्षुद्र कामनाओं की इच्छुक आत्मा यज्ञ की अग्नि में उज्ज्वल नहीं होगी पर उसमें दाग लग जायेंगे । ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की इच्छा करने से आत्मा मलिन और पापी बन जाती है । भोग की कामना आत्मा को मूढ वनाती है इसलिए ऐसी कामनाओं से यज्ञ नहीं करना चाहिए । भोग ऐश्वर्य की कामना के तीव्र प्रवाह में वहता हुआ जीव घोर हिंसक यज्ञ भी करने को तैयार हो जाता है । जीवित प्राणियों को भभकती अग्नि में होम कर, देवताओं को खुश करने की भ्रान्त धारणाओं से मनुष्य सुख चाहता है । 'भूतिकामः पशुमालभेत' ऐसी श्रुतियों का वे सहारा लेते हैं ।

यज्ञ कर्ता एवं कराने वाला दोनों मांस भक्षण करते हैं। छक कर शराब पीते हैं और मिथ्या शास्त्रों के वचनों से अपना बचाव करते हैं। पर स्त्रीगमन भी एक धर्म धर्माचरण में समावेश करते हैं। इस तरह घोर नरक में ढकेलने वाले पापों को भी यज्ञ के नाम से करते हैं।

अपन को ऐसे यज्ञ और इन यज्ञों के प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से दूर ही रहना चाहिए। ज्ञान यज्ञ में ही लीन रहना चाहिए। अपना जीव यज्ञ कुन्ड है। तप अग्नि है। मन-वचन-काया का पुरुषार्थ घी डालने की कड़छी है। शरीर अग्नि को प्रदीप्त करने वाला साधनाकर्म लकड़े हैं और संयम साधन शान्ति स्तोत्र है।' श्री उत्तराध्ययन के यज्ञीय अध्ययन में ऐसा ज्ञान यज्ञ बताया गया है।

वेदोक्तत्वान् मनः शुद्धया कर्मयज्ञोपि योगिनः।
ब्रह्म यज्ञ इतीच्छन्तः श्येनयागं त्यजन्ति किम् ?॥३॥२१९

श्लोकार्थ

वेद का कहना है कि मन की शुद्धि द्वारा कर्म यज्ञ भी ज्ञान योगी को ब्रह्म स्वरूप है।' ऐसे मानने वाले 'श्येन यज्ञ' को कैसे त्यागते हैं ?

विवेचन

'वेदों ने कहा है इसलिए सत्य है ऐसी मान्यता स्वीकारने योग्य नहीं है। भले ही मन शुद्धि हो या सत्व शुद्धि हो परन्तु ऐसा यज्ञ उपयोगी नहीं हो सकता है जिसमें घोर हिंसा या अज्ञानता का अन्धकार भरा हुआ है।

कोई व्यक्ति वेदोक्त यज्ञ कराने वाले को पूछे कि 'हम मन

की शुद्धता से श्येन यज्ञ' करे तो ?' वे निषेध करेंगे। वास्तव में वेदों में कहे हुए यज्ञ के गूढ अर्थ को जाने बिना, अपनी कल्पना के अनुसार हिंसात्मक एवं पाप प्रचुर यज्ञ कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता है। कर्म यज्ञ को ब्रह्म यज्ञ नहीं कह सकते हैं।

ध्येय की शुद्धि करो। कहाँ जाना है ? क्या प्राप्त करना है ? क्या मोक्ष में जाना है ? मोक्ष का ध्येय स्पष्ट हो गया है ? विशुद्ध आत्म-स्वरूप प्राप्त करना है ? अगर हाँ, तो पाप से लबालब कर्म यज्ञ करने का कोई प्रयोजन नहीं है। ज्ञान यज्ञ चलता रहना चाहिए।

ब्रह्म यज्ञः परं कर्म गृहस्थस्याधिकारिणः।
पूजादि वीतरागस्य ज्ञान मेव तु योगिनः ।।४।।२२०

गृहस्थ के अधिकारी को केवल वीतराग की पूजा आदि क्रिया ब्रह्म यज्ञ है और योगी को ज्ञान यज्ञ ही ब्रह्म यज्ञ है।

विवेचन

क्या ब्रह्म यज्ञ करने का अधिकार सिर्फ मुनिवरों को ही है ? क्या योगी ही ब्रह्म यज्ञ कर सकते हैं ? तो जो गृहस्थ हैं उनका क्या ? गृहस्थ ब्रह्म यज्ञ नहीं कर सकते हैं ? कर सकते हैं, पर उसके लिए उन्हें अधिकारी बनना पड़ेगा। योग्य बनना पड़ेगा। योग्यता संपादन किये बिना यह ब्रह्म ज्ञान नहीं कर सकते हैं। वे योग्यता है ★ मार्गानुसारी ३५ गुणों की। न्याय संपन्न वैभव से चालु कर सौम्यता पर्यन्त पैंतीस गुणों से गृहस्थ का जीवन सुवासित होना चाहिए तो यह ब्रह्म यज्ञ कर सकते हैं।

गृहस्थ जीवन में हिंसा आदि पाप थोड़े बहुत तो होंगे ही

★ मार्गानुसारी के ३५ गुणों का विवेचन पढ़िये, "आत्मा-मंगल" पुस्तक में प्र० विश्व कल्याण प्रकाशन

परन्तु अगर उनका जीवन मार्गानुसारी है तो वह ब्रह्म यज्ञ कर सकता है। उनका ब्रह्म यज्ञ वीतराग परमात्मा का पूजन सुपात्र-दान, साधु सेवा आदि है। इस प्रकार के ब्रह्म यज्ञ करने में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं परन्तु उसका समाधान जो किया जाता है उसे सरल भाव से स्वीकार करे तो मन निःशंक वन जाता है।

प्रश्नः—परमात्म पूजन, सुपात्रदान, साधु सेवा या साधार्मिक भक्ति में राग होता है। जबकि जिनेश्वर देव ने राग को हेय वताया है वो परमात्म पूजन आदि रूप ब्रह्म यज्ञ कैसे उपादेय तरीके से हो सकते हैं ?

समाधानः—राग दो प्रकार का है।

प्रशस्त और अप्रशस्त। स्त्री, धन शरीर आदि पदार्थों पर राग अप्रशस्त राग है। अप्रशस्त राग से मुक्त होने के लिए प्रशस्त राग करना ही पड़ता है। प्रशस्त राग दृढ वनते ही अप्रशस्त राग छिन्न भिन्न हो जाता है। प्रशस्त राग में पाप कर्म नहीं वंधते हैं। जो जिनेश्वर ने राग को हेय वताया है उन्हीं तीर्थकरों ने प्रशस्त राग को उपादेय कहा है वह सापेक्ष दृष्टि है।

प्रश्नः—मानलो कि प्रशस्त राग उपादेय है परन्तु परमात्म पूजन में यानी पुष्प धूप, दीपक आदि में हिंसा होती है तो वह क्रिया क्यों की जाये ? जिस क्रिया में हिंसा होती है उसे ब्रह्म यज्ञ कैसे कह सकते हैं ?

समाधानः—परमात्मा को द्रव्य पूजा में स्वरूप हिंसा होती है परन्तु अनेक आरंभ-समारंभ में रहे हुए गृहस्थ के लिए स्वरूप हिंसा आवश्यक है। स्वरूप हिंसा से कर्म वन्ध नगण्य होता है। जिसका नाश द्रव्य पूजा से उत्पन्न हुए शुभ भावों द्वारा हो जाता

है। गृहस्थ शुद्ध ज्ञान दशा में रमण नहीं कर सकता है इसलिए उसके लिए द्रव्य क्रिया करना आवश्यक है। द्रव्य पूजा के माध्यम से जीव का परमात्मा के प्रति प्रशस्त राग बंधता है इस राग से प्रेरित हो कर परमात्मा की आज्ञा पालन करने की शक्ति प्राप्त होती है। यह शक्ति बढते ही गृहस्थ जीवन त्याग कर मुनि जीवन की कक्षा में आ जाते हैं। तब उनके लिए द्रव्य क्रिया जिसमें स्वरूप हिंसा भी होती हो वह करनी नहीं पड़ती है।

ग्रीष्म की मध्याह्न में एक पथिक जा रहा है। उसे प्यास लगी है। चारों तरफ दृष्टि दौड़ाता है परन्तु कुआ या प्याऊ दिखाई नहीं देती है। आगे बढता है, वहाँ एक जल रहित नदी देखता है। वह विचार करता है, थक गया हूँ, खोदूं तो प्यास भी लगी है अब क्या करना चाहिए ? यह नदी है गड्ढा खोदूं तो पानी मिलता है, थक भी गया हूँ.........गड्ढा खोदने में कपड़े भी गंदे हो जायेंगे........' उसने खूब विचार किया...........परन्तु हा, भले ही थके हुए हो और कपड़े भी गदे हों जावेंगे परन्तु पानी मिलते ही प्यास बुझ जायेगी और थकावट मिट जायेगी और कपड़े भी धोकर स्वच्छ कर सकेंगे।' इस विचार से उसमें उत्साह का संचार हुआ और उसने गढ्ढा खोदा, पानी मिला.......पेट भर के पिया, स्नान किया और कपड़े भी धोये..........

इसी तरह जिन पूजा में भले ही स्वरूप हिंसा से आत्मा कुछ मलिन हो जाये परन्तु इसी जिन पूजा द्वारा जब शुभ और शुद्ध अध्यवसाय प्रकट होंगे तब आत्मा का सब मैल धुल जायेगा। भव भ्रमण की सब थकावट उतर जायेगी और परमानन्द की प्राप्ति होगी। इस तरह गृहस्थ को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना है

जब कि संसार त्यागी अणगार को तो सिर्फ ज्ञान का ही ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना है। उन्हें जिन पूजन के द्रव्य अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

भिन्नोद्देशेन विहितं कर्मकर्मक्षया क्षयम् ।
क्लृप्तभिन्नाधिकारं च पुत्रेष्ट ह्यादि वदिष्यताम् ॥५॥२२१

श्लोकार्थ

अलग उद्देश्य से शास्त्र में कहा हुआ अनुष्ठान कर्म का क्षय करने में असमर्थ है। जैसे पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता है उसी तरह यह अलग अधिकार भी माना जाता है।

विवेचन

आपका उद्देश्य स्पष्ट है ? आपका ध्येय दृढ है। आपको क्या प्राप्त करना है ? कैसा बनना है ? कहाँ जाना है ? जो आप पुरुषार्थ कर रहे हो उससे आपको प्राप्त करना है वह होगा यह निर्णय आपने किया है ? जो आपको बनना है उसके अनुसार आप अपनी प्रवृति से बन सकेंगे ? जहाँ जाना है वहाँ आपकी गति आपको पहुँचायेगी ऐसा आपको विश्वास है ?

आपको सिद्धि प्राप्त करनी है ? परम आनन्द की उपलब्धि के लिए तुच्छ आनन्द और क्षणिक सुख से मुक्ति चाहते हैं ? आपको परम गति में जाना है क्या ? तो चारगति के परिभ्रमण से आप मुक्ति चाहते हैं ? आपको सिद्ध स्वरूप बनना है ? तो लगातार बदलती हुई कर्म जन्म अवस्थाओं से मुक्त होने के लिए पुरुषार्थ करते हैं ? आपको शाश्वत शान्ति के धाम में जाना है ? तो यहाँ के अशान्ति, क्लेश संतापों से भरे हुए स्थानों को छोड़ने की तत्परता है ? ये सब बातें आपको गंभीरता से सोचनी पड़ेगी।

आपका लक्ष्य है पंच इन्द्रियों के सुख प्राप्त करना और आप पुरुषार्थ करते हैं धर्म का ? आपको चार गति में परिभ्रमण करना है और प्रयत्न धर्म का करते हैं। आपको कर्म जन्य, निरंतर परिवर्तन शील अवस्थाओं में रचे पचे रहना है और मेहनत करते हैं धर्म की ! लक्ष्य और पुरुषार्थ अलग अलग है इससे कार्य सिद्धि नहीं होगी।

कर्म क्षय और पुण्य बंध का पुरुषार्थ अलग अलग है। कर्म क्षय और पुण्य उपार्जित करने वाले पुरुषार्थ से कर्म क्षय नहीं होंगे ! हां, शास्त्रों में पुण्य बंध के उपाय जरूर बताये जाते हैं पर उन उपायों से कर्म क्षय या सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। पुण्य बंध जरूर होता है।

कोई कहे कि हिंसक यज्ञ में भी विविदिषा (ज्ञा) है, यह सही नहीं है। हिंसक यज्ञ का उद्देश्य अभ्युदय है, निःश्रेयस नहीं है। निःश्रेयस के लिए हिंसक यज्ञ नहीं किया जाता है। पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करने में विविदिषा नहीं होती है इसी तरह सिर्फ स्वर्ग आदि सुखों की कामना से प्रेरित दान आदि क्रियायें कर्म क्षय नहीं कर सकती हैं। तात्पर्य यह है कि साध्य के उपयोग बिना की हुई धर्म क्रिया सुख के लिए नहीं होती है।

यहाँ दान आदि क्रियाओं को हेय नहीं बताया है परन्तु इसमें समझाया है कि इससे पुण्य उपार्जित होते हैं परन्तु कर्म क्षय नहीं होते हैं। इसलिए अगर कर्मक्षय करने का उद्देश्य हो तो ज्ञानयज्ञ करें। ऐसी गलती कभी भी नहीं करे कि पुण्य बन्ध की क्रियायें छोड़ कर पापार्जन की क्रियाओं में लीन हो जाओ और कर्म क्षय का लक्ष्य ही भूल जाएं।

ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्मयज्ञान्तर्भाव साधनम् ।
ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्त स्वकृतत्वस्मये हुते ।।६।।२२२

श्लोकार्थ

ब्रह्म यज्ञ में अन्तर्भाव का साधन ब्रह्म को अर्पण करना भी ब्रह्म रूप अग्नि में कर्म का, अपने कर्तापन का अभिमान योग करते हुए भी युक्त है।

विवेचन

गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं :

काांक्षन्तः कर्मणां सिद्धि यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

अध्याय ४। श्लोक १२

इस मनुष्य लोक में मनुष्य कर्मों की फल सिद्धि के इच्छुक होकर देवताओं की पूजा करते हैं तो उन्हें उनके कर्म जन्य फल सिद्धि ही होती है।

अज्ञानी लोग कर्म करके इनके फल की इच्छा रखने से हमेशा दुःखी रहते हैं। इस दुर्दशा से जीवों को उभारने के लिए उनको कहा जाता है कि कर्म के कर्तापन का अभिमान छोड़ो। यह मैंने किया है ऐसे अहंकार को ब्रह्मरूप अग्नि में होम दो। मैं कुछ भी नहीं करता हूं ऐसी भावना जाग्रत करने के लिए कर्म क्षय करना है। यह कर्म यज्ञ ब्रह्म यज्ञ का साधन है। इस कर्तापन के अभिमान को चूर चूर करने के लिए 'गीता' में कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

गीता अध्याय ४। श्लोक २४

अर्पण करने की क्रिया ब्रह्म है, होम की वस्तु भी ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म रूप होमने वाले ने जो होम किया है वह भी ब्रह्म है और ब्रह्म रूप कर्म समाधिवाले को प्राप्त करने योग्य स्थान भी ब्रह्म है।

'जो कुछ है वह ब्रह्म है, ब्रह्म के अलावा कुछ नहीं है, 'मैं' भी नहीं हूँ और मेरा भी कुछ नहीं हैं इस तरह 'मैं' को भूलने के लिए यज्ञ करना है ब्रह्म में ही सब होम कर देना है। 'मैं' भी ब्रह्म में स्वाहा कर देना है। आज सच्चा ब्रह्म यज्ञ यही है। अहम्' रूप पशु को ब्रह्म में होम कर यज्ञ करने का यहाँ उपदेश दिया गया है।

जो कोई खराब अवांच्छनीय हुआ हो तो 'यह भगवान ने किया है' यह कह कर भगवान को समर्पण कर देते हैं और अगर कोई शुभ, मनोनुकूल हुआ हो तो 'यह मैंने किया है, मेरे पुण्य कर्म ने मुझे दिया है ऐसा अभिमान करना कोरी अज्ञानता है। जो कुछ होता है वह भगवान द्वारा होता है ऐसी विचार-धारा वाले तो भगवान के पूरे आश्रित होते हैं। हर एक विचार वचन और व्यवहार में भगवान व्याप्त होता है। अहंकार लेश मात्र भी नहीं होता है।

"नाहं पुद्गल भावानां कर्ता कारयितापि च'

"मैं पुद्गल भावों का कर्ता नहीं हूं और प्रेरक भी नहीं हूँ।' यह भावना पहले ही ग्रन्थकार ने अपने को दी है। कर्तृ-त्व का अभिमान होम दो ब्रह्म यज्ञ में।

ब्रह्मण्यर्पित सर्वस्वो ब्रह्मदृग् ब्रह्म साधनः।
ब्रह्मणा जुहृवदब्रह्म ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान् ॥७॥ २२३

ब्रह्माध्ययननिष्ठावान् परब्रह्मसमाहितः ।
ब्राह्मणा लिप्यते नाद्यै र्नियागप्रतिपत्तिमान् ॥८॥ २२४

श्लोकार्थ

जिसने ब्रह्म में सर्वस्व अर्पण किया है, ब्रह्म में ही जिसकी दृष्टि है, ब्रह्म रूप ज्ञान जिनका साधन ऐसा (ब्राह्मण) ब्रह्म में अज्ञान (असंयम) को होम कर ब्रह्मचर्य की गुप्ति वाला, ब्रह्माध्ययन की मर्यादा वाला × पर ब्रह्म में समाधि वाला, भाव यज्ञ को स्वीकारने वाल। निर्ग्रन्थ पाप से लिप्त नहीं रहता है।

: विवेचन :

मेरा कुछ नहीं है। सब ब्रह्म के चरणों में समर्पित है, हां, धन धान्य मेरा नहीं है, शरीर भी मेरा नहीं है…अरे शरीर तो स्थूल है, सूक्ष्म मन के विचार भी मेरे नहीं हैं।….किसी भी विचार पर उसका आग्रह नहीं है। उसकी दृष्टि ब्रह्म की तरफ ही लगी हुई होती है। ब्रह्म के सिवाय उसे कुछ भी नहीं दिखाई देता है और न कोई दूसरी बात रुचिकर लगती है। चाहे इसकी तरफ लाखों करोड़ों दृष्टि लगी हुई हों परन्तु इसकी दृष्टि तो ब्रह्म की तरफ ही होगी। इसके पास ज्ञान भी ब्रह्म ज्ञान का ही है। ब्रह्म ज्ञान का अर्थ है आत्म ज्ञान। आत्म ज्ञान का ही उपयोग अर्थात् सतत् सदैव मानसिक जागृति द्वारा ब्रह्म में ही लीन रहना।

× 'ब्रह्माध्ययन' देखिये परिशिष्ट।

हा, जब तक इनके पास अज्ञान का ईंधन होता है तब तक वह ब्रह्म में उसको होम करता रहता है, जला कर भस्म करता है। ब्रह्म की लीनता में बाधक ऐसे हर एक तत्व को ब्रह्माग्नि में होम करने में हिचकता नहीं है।

ब्रह्मचर्य का निष्ठा से पालन करने में इस योगी का मनोबल इतना दृढ़ हो जाता है कि आत्म ज्ञान की अग्नि में कर्मों को होम करने में थकता नहीं है। इनको कोई आचार-मर्यादा का पालन करने के लिए मन पर दबाव डालना नहीं पड़ता है परन्तु स्वाभाविकता से पालन हो जाता है। 'आचारांग सूत्र' के प्रथम अध्याय में जो मुनि जीवन की निष्ठाओं का वर्णन है उन्हें ये योगी आसानी से हृदयंगम करते हैं क्योंकि इनमें परब्रह्म के साथ विलीन होने की तत्परता है।

ऐसा है ब्रह्म यज्ञ और ऐसा है यह ब्रह्म यज्ञ करने वाला ब्राह्मण! क्या ऐसा ब्राह्मण पापों से लिप्त होगा? ऐसा ब्राह्मण कर्मों में जकड़ा जायेगा? नहीं, कभी नहीं। ब्रह्म यज्ञ को जो करता है वह ब्राह्मण। सिर्फ ब्राह्मणी की कोख से जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता है। ब्राह्मण बनने के लिए अज्ञानता से भरे हुए यज्ञ कर्म करने नहीं हैं। यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने ब्राह्मण को ही श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहा है। चाहे वह श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ हो परन्तु वह ब्रह्म यज्ञ करने वाला अवश्य होना चाहिए। ब्रह्म के अलावा इसकी दुनिया में कोई भी तत्व नहीं होना चाहिए, न पदार्थ हो और न कोई वस्तु हो, उनकी लीनता, प्रसन्नता······सब ब्रह्म में ही होनी चाहिए।

सारांश

- भाव यज्ञ करो।
- निष्काम यज्ञ करो।
- हिंसक यज्ञ वर्जित है।
- गृहस्थ के लिए वीतराग की पूजा ब्रह्म यज्ञ है।
- कर्म क्षय के उद्देश्य से भिन्न उद्देश्य से किया हुआ पुरुषार्थ कर्म क्षय नहीं करता है।
- कर्तृत्व के अभिमान को ब्रह्म यज्ञ की अग्नि में होम दो।
- ब्रह्मार्पण का सही अर्थ समझो।
- ब्रह्म की परिणति वाला ब्राह्मण कहलाता है।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२९. भाव पूजा

मुनिराज ! आत्मदेव की आपको पूजा करनी है। स्नान करना है और मस्तक पर तिलक भी लगाना है। पुष्प की माला प्रभु के गले में आरोहण करनी है और धूप दीपक आदि करने की आकांक्षा है।

किसी भी बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं, और न कोई बाह्य प्रवृत्ति। यह तो सिर्फ मानसिक भूमिका की पूजा है। इस पूजा के करने की योग्यता मुख्यतया साधुजनों में है परन्तु गृहस्थ नहीं कर सकते हैं ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ भी कर सकते हैं...वे साधना... आराधना की दृष्टि वाले होने चाहिए। कभी तो यह भाव पूजा करके देखिये अपूर्व आह्लाद अनुभव करेंगे।

दयाभम्सा कृतस्नानः संतोषशुभवस्त्र भृत् ।
विवेक तिलक भ्राजी भावनापावनाशयः ॥१॥ २२५
भक्ति श्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरज द्रवैः ।
नवब्रह्माङ्गतो देवं शुद्धमात्मानमर्चय ॥२॥ २२६

श्लोकार्थ

दया रूपी जल से स्नान करने वाला संतोष रूपी शुभ्र वस्त्र धारण करने वाला, जिसके भाल प्रदेश पर विवेक का तिलक शोभायमान है ऐसी पवित्र भावनाओं से ओतप्रोत भक्ति एवं श्रद्धा रूप सुवासित केसर एवं शीतल चन्दन से शुद्ध आत्म रूप देव की नौ तरह से ब्रह्मचर्य रूप नौ अंगों की पूजा करता है।

विवेचन

पूजन ? तुझे किसका पूजन करना है ? पूजन करके क्या प्राप्त करना है ? क्या तूने यह सब विचार किया है ? नहीं !

तू पूजन करना चाहता है, अरे, तू किसका पूजन कर रहा है....अनेक अभिलाषाओं से गोद भर के पूजन का फल चाह रहा है ....सच है न ? परन्तु तू यह भी विचार कर कि तू सही पूजक बना है क्या ? पुजारी बने बिना तेरी इच्छायें पूर्ण होंगी ? तेरी कामनाओं को संतोष मिलेगा ? इसलिए कहता हूँ कि तू 'पूजक' बन।

सर्वप्रथम तो तू स्नान कर। नहीं, तुझे पाप नहीं लगेगा। तू मुनि है यह मुझे मालुम है, पानी के स्पर्श से पाप लगता है यह मैं जानता हूं तो भी तुझे कहता हूं कि स्नान कर। तुझे ऐसा पानी बताता हूँ कि जिसके स्पर्श करने से पाप नहीं लगेगा।

'दया' के पानी से स्नान कर ! अरे, दया के शीतल, स्वच्छ सरोवर में ही कूद पड़। हां, सरोवर में स्नान करने का निषेध करने वाले ज्ञानी पुरुष भी तुझे इस दया रूपी सरोवर में स्नान करने से मना नहीं करेंगे।

जब तू इस दया सरोवर से स्नान करके बाहर आयेगा तब तेरा हृदय खुशी से लोट पोट हो जायेगा। क्रूरता का मैल धुल जायेगा और करुणा की कमनीयता छा जायेगी और तू स्वच्छ पवित्र बन जायेगा।

हे साधक ! स्नान करके तुझे नये वस्त्र ही पहनने हैं....शुद्ध श्वेत वस्त्र। तू पहनेगा ? इन वस्त्रों में तू सुन्दर लगेगा। तुझे अहसास होगा कि 'मैं पूजक हूं।' इस वस्त्र का नाम है 'संतोष।' कितना प्यारा नाम है। तृष्णा के पुद्गल के वस्त्र पहन कर तू पूजक नहीं बन सकता है। तृष्णा में रति-अरति के द्वन्द्व हैं, आनन्द-उद्वेग की तरंगे हैं। इन तृष्णाओं के रंग रंगीले वस्त्र पहन कर तू पूजक नहीं बन सकेगा। इसलिए तुझे संतोष के वस्त्र पहनने हैं। एक बार ये वस्त्र पहन कर पूजक बन, अगर तुझे ये अच्छे लगें तो दूसरी बार पहनना। अर्थात् तुझे पौद्गलिक पदार्थों की तृष्णा छोड़नी पड़ेगी, अगर तुझे पूजक बनना है तो !

अरे, तू कहां चला ? पूजन के लिए ? ठहरो भाई, इस देव मन्दिर में जाने से पहले तुझे 'तिलक' करना पड़ेगा। ललाट पर तिलक किये बिना, तू देव मन्दिर में नहीं जा सकेगा। तेरी काया दया रूपी जल से कितनी सुन्दर बनी है। संतोष रूपी वस्त्र धारण करने से तू कितना आकर्षक लग रहा है ? अब तू

'विवेक' का तिलक करके देख, तेरे रूप की प्रशंसा देवराज इन्द्र भी करेंगे।

'विवेक का तिलक! विवेक का अर्थ है भेद ज्ञान। जड़-चेतन का भेद समझ कर, चेतन आत्मा की तरफ जाना। जड़ पदार्थों में अर्थात् शरीर में जो आत्म बुद्धि है वह छोड़ कर 'शरीर से मैं (आत्मा) भिन्न हूँ' ऐसी श्रद्धा दृढ़ करना, 'शुद्धात्म द्रव्य मेवाहम्' 'मैं शुद्ध आत्म द्रव्य ही हूं' इस ज्ञान से मन को अनुकूल करना, यह है विवेक। ऐसे विवेक का तिलक पूजन के लिए अनिवार्य है। इस विवेक-तिलक से तेरी सुन्दरता के साथ-साथ तेरा आत्म विश्वास भी जागृत होगा कि 'मैं पूजक हूं।'

अब तुझे तेरे विचारों को पवित्र बनाना है। अगर तू परम आत्मा का पूजन करने का इच्छुक है तो परमात्मा के गुणों में तन्मय होने की भावना द्वारा तुझे अपने विचार पवित्र बनाने होंगे। अर्थात् दूसरे भौतिक, आधिभौतिक अपवित्र कामनाओं को छोड़ कर परमात्मा के गुणों की एक मात्र अभिलाषा लेकर परमात्म मन्दिर के द्वार पर पहुँचना है। जब तक परमात्म गुणों का एक मात्र आकर्षण, परमात्म गुणों का ध्यान नहीं होगा तब तक आशय में पवित्रता नहीं आयेगी। देव पूजन के लिए आशय की पवित्रता अत्यावश्यक है।

चल, अब केसर की स्वर्ण कटोरी भर ले। लो यह केसर और चन्दन घिसने लगो। भक्ति का केसर श्रद्धा के चन्दन से खूब घिसो। भक्ति का लाल रंग और श्रद्धा की मन्द मन्द सुगंध। इस केसर मिश्रित चन्दन की स्वर्ण कटोरी भर लो।

आराध्य परमात्मा की आराधना रग-रग में होनी चाहिए और ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि 'परमात्म आराधना

ही परमार्थ है।' मीरां का उदाहरण लीजिए कृष्ण भक्ति एवं श्रद्धा ने उसे अमर बना दिया। उसकी दुनिया ही कृष्णमय हो गई थी।

अब मन्दिर में चलो।

इस मन्दिर को बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, न कहीं दूर जाने की आवश्यकता है, आप अपने शरीर की तरफ देखें। मन मन्दिर में ही देव प्रतिष्ठित है। इस देव के दर्शन के लिए आखें मूंदनी पड़ेंगी और आंतरदृष्टि खोलनी पड़ेगी.... दिव्य दृष्टि....दिव्य विचार का सहारा लेना पड़ेगा।

शुद्ध आत्मा का आपको नौ अंगों का पूजन करना है।

ब्रह्मचर्य के नौ विधान ये शुद्ध आत्मा के नौ अंग हैं।

हे पुजारी! तू शुद्ध आत्म स्वरूप की तरफ अभिमुख हुआ है। दया, संतोष, विवेक, भक्ति एवं श्रद्धा में तू लवलीन बना है। अब ब्रह्मचर्य का पालन तेरे लिए सहज सरल है। अब्रह्म की दुर्गन्ध भी अब तुझे असह्य होगी। तेरी दृष्टि रूप पर्याय में स्थिर होगी ही नहीं, शरीर पर्याय की तरफ भी आकर्षित नहीं होगी। तेरी दृष्टि तो विशुद्ध आत्म द्रव्य पर ही स्थिर होगी। फिर स्त्रियों के साथ रहना, उनसे वार्तालाप करना, उनके आसन पर बैठना या स्त्री पुरुष की काम कथा कान लगा कर सुनना तेरे जीवन में हो कैसे सकता है? घी, दूध या माल मिष्ठान्न की महफिलों में मस्त रहना या सुस्वादु भोजन पर अकाल पीड़ित की तरह टूट पड़ना तेरी कल्पना में भी कैसे हो सकता है? शरीर पर शृंगार करना या अन्य जीवों को आकर्षित करने का स्वप्न भी कहां से हो।

हे प्रिय पूजक! पूज्य उपाध्यायजी ने आपको कितना

रोमांचकारी पूजन वताया है। यह है भाव पूजन। अनेक वर्षो तक अपन द्रव्य पूजन न करें और इस भाव पूजन की तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखे तो क्या पूर्णता के शिखर पर पहुँच सकते हैं ? यह दिव्य पूजन अपन को हमेशा करना है ?

एकांत नीरव जगह पर वैठकर, पद्मासन लगाकर एवं आँखे मूंद कर यह पूजन प्रारम्भ करे। भले ही उसमें समय ज्यादा लगे पर चिता न करे। शुद्ध आत्म द्रव्य का घंटों तक पूजन चलने दे। अध्यात्म का आनन्द, पूर्णानन्द तव अनुभव होगा और साधना पथ का मूल्य समझ में आयेगा। भाव पूजा की यह कोरी कल्पना ही नहीं है परन्तु रस से लवालव कल्पना लोक है। विषय विकारों का निराकरण करने का प्रशस्त पथ है। रचनात्मक मार्ग है। स्नान से शुरू करके नव अंग पूजन का क्रम चालू करे।

क्षम पुष्पस्त्रजं धर्मयुग्म क्षौमद्वयं तथा।
ध्यानाभरण सारं च तदङ्गे विनिवेशय ॥३॥२२७

श्लोकार्थ

यह आत्मा को क्षमा रूप फूल की माला, निश्चय और व्यवहार धर्म रूप दो वस्त्र और ध्यान रूप श्रेष्ठ अलंकार पहनाते हैं।

विवेचन

आत्म देव के गले पहनाने की माला जो गूंथनी है वह माला तुझे ही गूंथनी है। क्षमा के भीने भीने सुवासित पुष्प की माला गूंथ कर तैयार रख।

क्षमा के एक दो पुष्प नहीं, क्षमा की पूरी माला। अर्थात् कभी कदाच क्षमा करने से काम नहीं चलेगा। परन्तु बराबर क्षमा देनी पड़ेगी। क्षमा हृदय में बसानी पड़ेगी..............क्षमा के पुष्पों की सुन्दर सुवास तुम्हारे अंगों से प्रस्फुटित होती रहे। जिस मनुष्य के गले में गुलाब के पुष्प की माला हो और अगर उसके पास कोई जाये तो कौन सी सुगन्ध आवेगी ? गुलाब की। इसी तरह से साधक ! कोई तेरे पास आवे वह क्षमा के सुवास से मस्त हो जावे। चाहे साधु हो या डाकू, ज्ञानी हो या अज्ञानी, निर्दोष हो या सदोष।

ध्यान रहे ये क्षमा के पुष्प कुम्हला न जायें। इन्हें खिले हुए ताजे रक्खें। कभी भी अर्पित करने पड़ सकते हैं। जब अपने ऊपर कोई क्रोध करे द्वेष करे, अपनी निंदा करे या अपमान भी करे तो भी अपन को क्रोध नहीं करना है। उनके जैसा व्यवहार भी नहीं करना है..........न उनके प्रति अनमनापण रखना है। इसे क्षमा कहते हैं। आत्मा को सुरम्य, सुगन्धित पुष्पों की माला पहनाने का यह रहस्य है। आत्मा की यह पुष्प पूजा है..........। इस रहस्य के प्रतीक स्वरूप गृहस्थ परमात्मा की मूर्ति पर पुष्प चढ़ाते हैं..........पुष्प की माला पहनाते हैं।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म ये दो शुभ वस्त्र स्वयं के आत्मदेव को पहनाने हैं शरीर पर दो वस्त्र तो चाहिए ही ? एक अधोवस्त्र दूसरा उत्तरीय। आत्म देव के दो वस्त्र हैं निश्चय और व्यवहार। अकेले निश्चय या अकेले व्यवहार से काम नहीं चलेगा। व्यवहार धर्म अधोवस्त्र है और निश्चय धर्म उत्तरीय है। दोनों की आवश्यकता है।

माला और वस्त्र पहनाने के बाद अलंकार से भूषित किये

बिना आत्म देव शोभायमान नहीं होगा। अलंकार का नाम है 'ध्यान'। धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान आत्मा के अलंकार हैं। अलकार मूल्यवान होते हैं और उनकी सुरक्षा की आवश्यकता। शरीर धारण करने के बाद चोर डाकुओं से सतर्क रहना पड़ता है अपना धर्म ध्यान कोई लूट न ले इसके लिए सावधान रहना जरूरी है।

आत्मा की शोभा ध्यान से है। ध्यान के चार आलंबन हैं; वाचना, पृच्छना, परावर्तना और धर्म कथा में हमेशा लीन रहना चाहिए। श्रुतज्ञान की रमणता, चार प्रकार की अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। अनित्य भावना हृदयंगम कर, अशरण भावना से भावित हो। एकत्व भावना और संसार भावना का चिंतन करे। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय का चिंतन करे।

इस तरह आत्मा का पूजन करना है।

(1) क्षमा के पुष्पों की माला पहननी है।

(2) निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म रूपी दो वस्त्र पहनने हैं।

(3) धर्म ध्यान–शुक्ल ध्यान के अलंकार पहनने हैं।

आत्मदेव कितना नयन–रम्य होगा ? उनके दर्शन करते ही मन आह्लादित होगा और इनके सिवाय किसी के भी दर्शन रुचिकर नहीं लगेंगे।

मदस्थान भिदात्यागैर्लिखाग्रे चाष्टं मङ्गलम्।
ज्ञानाग्नौ शुभसंकल्पकाकतुण्डं च धूपय ॥४॥२२८

श्लोकार्थ

आत्मा के सामने मदस्थान के भेदों का त्याग करने के लिए आठ मंगल (स्वस्तिकादि) आलेख और ज्ञान रूपी अग्नि में शुभ संकल्प रूपी कृष्णागरु का धूप करे।

विवेचन

वर्तमान में चल रही पूजन विधि में अष्टमंगल ❀ का आलेखन नहीं किया जाता है परन्तु अष्टमंगल की चौकी का पूजन किया जाता है।

आलेखन करना है ?
आठमद के त्याग का उद्देश्य है ?

एक एक मंगल का आलेखन करते जायें और एक एक मद को त्याग करने की भावना जागृत करे।

कर्म से असहाय जीव एक योनि से दूसरी योनि में जाते हैं, आते हैं, वहाँ किसी की जाति शाश्वत रह सकती है ? मैं जाति का अभिमान नहीं करूँगा।

❀ अगर शील अपवित्र है तो कुल का अभिमान करने से क्या ? और अगर गुणों का वैभव है तो भी कुल का अभिमान क्यों ?

❀ अस्थि मज्जा, मांस एवं खून आदि गंदे पदार्थों से भरा हुआ और व्याधि–वृद्धावस्था से ग्रसित शरीर के सौन्दर्य ऊपर गर्व कैसा ?

❀ अष्टमंगल के नामः श्री वत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, मत्स्ययुगल, दर्पण, भद्रासन, सरावल, कुम्भ।

❀ वलवान् मनुष्य क्षण भर में निर्बल हो जाता है। और निर्बल वलवान हो जाता है। वल अनियत है.............. इस पर गर्व क्यों किया जाये?

❀ भौतिक पदार्थों की प्राप्ति या हानि कर्माधीन है तो मुझे लाभ में क्यों खुश होना चाहिए?

❀ अतीत के महापुरुषों के अनन्त विज्ञान की कल्पना करता हूं तो मेरी वुद्धि वौनी सी लगती है। फिर वुद्धि का अभिमान क्यों करना?

❀ तप का अभिमान? वाह्य–आभ्यंतर तप की घोर, निश्चल, और कठोरतम एवं उग्र आराधना करने वाले महान् तपस्वियों को देखता हूँ तव मेरा मस्तक झुक जाता है।

❀ ज्ञान का मद तो कैसे हो सकता है? जिनके सहारे तिरना है उसी का आलवन लेकर कौन डूवना चाहेगा? स्थूल-भद्रजी का उदाहरण ज्ञान भेद नहीं करने देगा।

यह है अष्ट मंगल का आलेखन। आत्मदेव के पूजन में यह विधि जरूर करनी चाहिए।

अव धूप पूजा करनी है।

साधारण धूप नहीं चलेगा। कृष्णागरू धूप चाहिये। वह है शुभ संकल्प।

ज्ञान रूप अग्नि में शुभ संकल्प का धूप डाल कर आत्म मंदिर में सुवास फैलानी है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान। मात्र आत्मरमणता। कोई अशुभ तो नहीं, शुभ संकल्प भी नहीं चाहिए। परमात्म पूजा में प्रशस्त राग होता है परमात्मा के प्रति राग..........

पूजन क्रिया की अभिरुचि .... ये शुभ संकल्प हैं। इनका आत्म रमणता में विलीनीकरण करने से कृष्णागरू धूप की सुवास आत्म मंदिर में महक उठेगी।

कितनी अद्भुत धूप पूजा बताई है यह? परमात्मा के मंदिर में धूप पूजा करने वाले भविकजन अगर यह दिव्य पूजा भी करता हो तो? अरे; परमात्मा के मंदिर में नहीं अपितु आत्मा के मंदिर में बैठकर, स्थिर मन होकर अगर यह धूप पूजा है तो साधक के चारों ओर महक फैल जावेगी?

आठमद के त्याग की भावना यह अष्ट मंगल के आलेखन की पूजा है।

शुभ संकल्पों का आत्म ज्ञान में विलीनीकरण ही धूप पूजा है।

कब ऐसा अद्भुत अपूर्व अवसर आयेगा जब कि ऐसी पूजा कर परमानन्द के रस का आस्वादन करूंगा?

प्राग्धर्मलवणोत्तारं धर्मसंन्यास वह्निना।
कुर्वन्पूरय सामर्थ्यराजन्नीराजनाविधिम् ॥५॥२२६

श्लोकार्थ

धर्म सन्यास रूपी अग्नि से पूर्व के क्षायोपशमिक धर्म रूप लवण उतार कर (उसका त्याग कर) सामर्थ्ययोग से शोभामान आरती से विधि पूर्ण कर।

विवेचन

- धर्म संन्यास अग्नि है।
- औदयिक धर्म और क्षायोपशमिक धर्म ये दो लवण हैं।
- सामर्थ्ययोग यह सुन्दर आरती है।

पूजन विधि में ये दो क्रियायें भी महत्वपूर्ण होती हैं (१) लवण उतारना (२) आरती उतारना।

यहाँ इन दो क्रियाओं का कैसा तात्विक स्वरूप दिया गया है। परन्तु यह पूजन 'क्षपक क्षेणी' चालु करने वाला जीव कर सकता है। क्षपक श्रेणी में जब जीव दूसरा अपूर्व करण करता है तब तात्विक दृष्टि से यह "धर्म संन्यास" नामका सामर्थ्य योग होता है अर्थात् यहाँ क्षमा, आर्जव-मार्दव आदि क्षायोप-शमिक धर्मों से योगी निवृत्त होते हैं।

परन्तु जो क्षपक श्रेणी चालू नहीं कर सकते हैं उनके लिए भी धर्म संन्यास बताया है; औदयिक धर्म का संन्यास। संन्यास यानी त्याग। अज्ञान असंयम, कषाय, वासनाओं आदि का त्याग धर्म संन्यास कहलाता है यह त्याग करने का नाम 'लवण' उतारना है। ऐसा धर्म संन्यास पाँचवें छट्ठे गुण स्थानक में रहे हुए श्रावकसाधु को होता है। जबकि पूवोक्त धर्म संन्यास तो क्षपक श्रेणी में ही होता है!

धर्म संन्यास की अग्नि में क्षायोपशमिक धर्मों को डाल कर लूण उतारना चाहिए; तब निम्न लिखित, कवि की कल्पना सार्थक होती है।

"जिम जिम तड़ तड़ लूण ज फूटे,
तिम तिम अशुभ कर्म बंध तूटे।"

लवण उतारने की स्थूल क्रिया तो सिर्फ इस तात्विक मार्ग का एक मात्र प्रतीक है।

आरती उतारो! 'सामर्थ्य योग' की आरती उतारो सामर्थ्ययोग 'क्षपक श्रेणी' में होता है। यह दो तरह का है; धर्मसंन्यास और योग संन्यास। धर्म सन्यास को लवण उतारने की क्रिया

में समन्वय क्रिया और आरती में योग संन्यास का समन्वय करिये।

योग संन्यास यानी योग का त्याग। काया आदि के कार्यों का त्याग। कायोत्सर्गादि क्रियाओं का भी त्याग करना। यह त्याग केवल ज्ञानी भगवान करते है अपने को तो सिर्फ इसके कल्पना लोक में विचरण करके कुछ क्षणों के लिए केवल ज्ञानियों के संसार का आस्वादन लेना है।

आत्म देव की आरती करने के लिए 'सामर्थ्य योगी' तो अपन नहीं वन सकते परन्तु 'इच्छा योगी' वन कर धर्मसंन्यास और योग संन्यास की मधुरता तो प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मा की उच्चतम अवस्था का यहाँ प्रतिपादन है। पूजा के माध्यम से यह अवस्था यहाँ वताई गई है ज्ञान योगी कैसे पूजन करते हैं उसका उल्लेख किया है। यह पूजन ज्ञान योगी ही कर सकते हैं। सामान्य ज्ञानी भी इस पूजन को कर सकता है परन्तु विशेषकर ज्ञान परायण मुनिवरों के लिए यह पूजा विधि वताई गई है। संयमी एवं ज्ञानी महात्मा यह अद्भुत अपूर्व पूजन करके दिव्य आनंद अनुभव करते हैं।

इस प्रकार लवण एवं आरती उतारने की विधि वताई गई है।

स्फुरन्मङ्गलदीपं च स्थापयानुभवं पुरः।
योग नृत्ययस्तौर्य त्रिक संयमवान् भव ॥६॥२३०

श्लोकार्थ

अनुभव से स्फुरित मंगल दीपक को सामने (आत्मा के) रख कर संयम रूप नाटक पूजा में तत्पर गीत, नृत्य एवं वाद्य इन

तीनों के समान संयम वाला बन। (एक विषय में निश्चय ध्यान और समाधि को संयम कहते हैं।)

विवेचन

अब चलें, दीपकपूजा करते हैं।

आत्मदेव के सम्मुख दीपक को स्थापित करना है। अनुभव यह दीपक है। अनुभव की परिभाषा पूज्य उपाध्यायजी ने दी है।

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयोः पृथक्।
बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः ॥

जिस तरह दिन एवं रात्रि से संध्या अलग है, इसी तरह केवल ज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न, केवल ज्ञानरूपी सूर्य के अरुणोदय समान यह 'अनुभव' है ! विद्वानों ने अनुभव की यह व्याख्या की है.........यह केवलज्ञान की निकटतम अवस्था है। ऐसे अनुभव से आत्मदेव के दीपक की पूजा करनी है।

इस दीपक के प्रकाश में ही आत्मदेव का सच्चा स्वरूप देख सकते हैं। अतीन्द्रिय परब्रह्म का दर्शन विशुद्ध अनुभव से ही होता है। शास्त्रों की सैकड़ों हजारों युक्तियों से भी अतीन्द्रिय परब्रह्म के दर्शन नहीं होते हैं परन्तु शास्त्र के माध्यम से तो अपन इस अनुभव की कल्पना कर सकते हैं। केवलज्ञान के अरुणोदय की ललाई की कल्पना कितनी मोहक है !

अब पूजन करना है—नृत्य, वाद्य और गायन से ? आत्म देव के समक्ष गीत गाओ। ऐसा गीत गाओ कि मन की सब वृत्तियां इसमें केन्द्रित हो जावें। गाते जायें और नृत्य करते

जावें। हाथ में वाद्य लेकर नृत्य करें। वाजित्र इतनी दक्षता से बजावें कि तुम्हारे कण्ठ के कोमल स्वर भी फीके लगें और नृत्य से एक उत्साह भरा वातावरण पैदा करदें। धारणा-ध्यान और समाधि इन तीनों की तारतम्यता रूप संयम यह आत्म देव का श्रेष्ठ पूजन है। एक ही विषय में इन तीनों का ऐक्य होना चाहिए। आत्मा में धारणा-ध्यान और समाधि की एकता स्थापित करनी है।

संयम का यह उच्चतम शिखर बताया गया है। योग की सर्वोत्कृष्ट भूमिका बताई गई है। आत्मा का पूजन द्वार खोला गया है। जैसे कोई अद्वितीय स्वर सम्राट मस्ती में झूमता हुआ सुरीले कर्ण प्रिय गीत गाता हो....कोई निपुण नृत्यांगना अपने नृत्य के चमत्कार प्रदर्शित कर रही हो और इनके साथ वीणावादक भी सुरीले सुरों से वातावरण आलोक मय करता हो उस समय अद्भुत तन्मयता का वातावरण प्रसारित होता है। उसी तरह धारणा-ध्यान और समाधि की एकता में संयम का अपूर्व वातावरण बनता है।

आत्म देव का मन्दिर उस समय कितना महकता हुआ पवित्र एवं प्रफुल्लित हो जाता होगा इसकी स्थिर मन से कल्पना करें....इस कल्पना की दुनियां में रम जाने से इसकी कुछ झलक मिल सकती है।

स्वरूप में तन्मय होने का यह उपदेश है। स्वभाव दशा में जाने की यह प्रेरणा है। आत्म रमणता एवं ब्रह्म में लवलीन होने की ये बातें हैं। पूजन के स्थूल साधन के आधार से पू० उपाध्यायजी मोक्षार्थी को मार्ग दर्शन दे रहे हैं।

उल्लसन्मनसः सत्यघंटा वादयतस्तव ।
भाव पूजा रतस्येत्थं कर क्रोडे महोदयः ॥७॥२३१

श्लोकार्थ

उल्लसित मन वाले सत्य रूप घंटा बजाने वाले और भाव पूजा में लीन रहने वाले मनुष्य की हथेली में मोक्ष है ।

विवेचन

भक्ति और श्रद्धा के केसर से आत्म देव के नौ अंगों को सुशोभित किया । क्षमा के पुष्पों की माला से आत्म देव की छटा में अभिवृद्धि की । निश्चय और व्यवहार के उत्तम वस्त्र पहनाकर आत्मदेव का शृंगार किया, और ध्यान के अलंकार से इस देव को दीप्तिमान किया ।

आठमद के त्यागरूप अष्टमंगल का आलेखन किया । ज्ञान की अग्नि में शुभसंकल्पों का कृष्णागरू धूप डालकर मन्दिरों को सुगन्ध से सुवासित किया.........धर्म सन्यास की ज्वाला से लवण उतारा और सामर्थ्य योग की आरती उतारी । अनुभव का मंगलदीप इस महादेव के समक्ष स्थापित किया और धारणा-ध्यान-समाधिरूप गीत नृत्य और वाद्य से ठाठ जमाया ।

मन के उल्लास की सीमा न रही..........मन की मस्ती ने..........इस मंदिर में लटकता विराट घंटा हिचकोले खाने लगा..........घंटानाद से मन्दिर घनघना उठा..........पूरानगर झनझना उठा । इस घंटानाद की ध्वनि ने विश्व को विस्मित किया । देवलोक के महल और महेन्द्र भी कंपायमान होने लगे..........."यह क्या ? किसकी ध्वनि ? अवधिज्ञान से देखा !

ओ हो ! यह तो सत्य की ध्वनि ! परम सत्य की ध्वनि ! उस आत्मदेव के मन्दिर में सत्य का साक्षात्कार हुआ है। उस का घंटानाद है। आत्मदेव आत्मा से प्रसन्न हुआ है। पूजन का सत्यफल प्राप्त हो गया है ! उसकी खुशी का यह घंटानाद है।

चराचर विश्व में सत्य एक ही है, परमार्थ एक ही है ? एक मात्र आत्मा ! एक मात्र परम ब्रह्म ! शेष सब मिथ्या है। इस परम सत्य के संसार का नाम मोक्ष है।

पूज्य यशोविजयजी मोक्ष को हथेली में वताते हैं ! भाव पूजा में लीन हो जाओ .... वस, मोक्ष आपके हाथ में है ! द्रव्यपूजा के प्रतीकों के माध्यम से मोक्ष तक पहुंचाने वाली भावपूजा यहाँ वताई गई है ! यह तात्विक पूजा करने के लिए शास्त्र अध्ययन एवं शास्त्र परिशीलन करना पड़ेगा ! शास्त्र—ग्रन्थों में वताये हुए क्रमिक आत्म विकास के साथ कदम मिला कर चलना पड़ेगा।

आत्मदेव की भावपूजन की कैसी अनोखी दुनिया है। इस स्थूल संसार से बिलकुल निराली। न वहाँ इस विश्व के स्वार्थमय प्रलाप हैं और न कषाय मिश्रित कोलाहल। न वहाँ हैं राग एवं द्वेष के दावानल और न है अज्ञान और मोह का तूफान ! न वहाँ है स्थूल व्यवहार की टेढो-मेढी गलियाँ और न वहाँ हैं चंचलता—अस्तित्व के संकल्प विकल्प।

मोक्ष दशा को खोजता हुआ साधना पथ पर दौडता हुआ जीव जब इस भावपूजा में प्रवृत्त होता है तब उसे अपनी खोज पूर्ण होती सी लगती है। हथेली में मोक्ष दिखता है।

भावपूजा की लीनता पर सब आधार है। लीनता के लिए लक्ष्य शुद्धि आवश्यक है। आत्मा की परम विशुद्ध दशा

के लक्ष्य से भावपूजा में प्रवृत्ति हो तो लीनता आये विना न रहे। साधक आत्मा का यही लक्ष्य और प्रवृत्ति होनी चाहिए। साधना का आनंद तभी अनुभव होता है और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं।

द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनाम्।
भावपूजा तु साधुनाम् भेदोपासनात्मिका ॥८॥ २३२ ॥

श्लोकार्थ

गृहस्थों को भेदपूर्वक उपासनारूप द्रव्यपूजा योग्य है और अभेद उपासना रूप भावपूजा तो साधुओं को योग्य है। (जो कि गृहस्थों को 'भावनोपनीत मानस' नामक भावपूजा होती हैं।)

विवेचन

पूजा दो प्रकार की है।

द्रव्यपूजा और भावपूजा।

जिसे जो अच्छी लगे वह पूजा नहीं करनी है। परन्तु अपनी योग्यतानुसार पूजा करनी चाहिए। आत्मा के विकास के अनुसार पूजा करनी चाहिए। योग्यता के अनुसार की हुई पूजा कल्याणकारी होती है अगर पूजा करने की योग्यता न हो तो पूजा करने से नुकसान होता है।

घर में रहे हुए पाप स्थानकों का मन से, वचन से, सेवन करने वाले गृहस्थों के लिए द्रव्य पूजा है। उसे द्रव्यपूजा करनी चाहिए। द्रव्यपजा में भेदोपासना आती है।

पूज्य है परमात्मा, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, वीतरागता और अनंत वीर्य के स्वामी। अजर-अमर और अक्षय स्थिति को प्राप्त। अपनी आत्मा से भिन्न ऐसे परमात्मा का आलंबन लेना चाहिए। ये उपास्य और गृहस्थ उपासक। वे स्वामी और गृहस्थ सेवक। वे आराध्य और गृहस्थ आराधक, वे ध्येय और गृहस्थ ध्याता।

गृहस्थ उच्चकोटि के द्रव्यों से परमात्मा की मूर्ति को पूजे। उसके लिए उसे जयणायुक्त प्रारम्भ-समारम्भ करना पडे तो वह भी करे। परमात्मा के गुण प्राप्त करने के लक्ष्य से इनकी भक्ति और उपासना करे।

तो क्या गृहस्थ को भाव पूजा करनी ही नहीं चाहिए ?

नहीं, कर सकते हैं परन्तु वे "भावनोपनीत मानस" नामक भाव पूजा कर सकते हैं। अर्थात् परमात्मा के गुणों का स्मरण और इनके परमतत्व के प्रति बहुमान, गृहस्थ कर सकते हैं यह भाव पूजा है। परन्तु वह सविकल्प भाव पूजा है। वे गीत गा सकते हैं, नृत्य कर सकते हैं। भक्ति में लवलीन हो सकते हैं।

अभेद उपासना रूप भाव पूजा तो सिर्फ साधु ही कर सकते हैं। आत्मा की उच्च विकास-भूमिका पर रहे हुए निर्ग्रन्थ परमात्मा के साथ अभेदभाव से मिलते हैं। परमात्मा के साथ स्वयं की आत्मा की एकता.......तन्मयता प्राप्त करे.......यह भाव पूजा है।

द्रव्य पूजा और भाव पूजा के भेद यहां भेदोपासना और अभेदोपासना की दृष्टि से बताये गये है। अभेदोपासना रूप

भाव पूजा का अधिकारी मात्र श्रमण—निर्ग्रन्थों को ही बताया है।

परमात्मस्वरूप के साथ आत्म गुणों की एकता की अनुभूति करने वाला मुनि कैसा परमानन्द अनुभव करता है यह शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। अभेदभावना के मिलन की मधुरता तो संवेदन से ही होती है, भाषा से नहीं।

इस अष्टक में पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने भाव पूजन का खूब सचोट मार्ग दर्शन किया है सफलता से समझाया है और इस भाव पूजा में प्रवृत्त होने के लिए मुनि को उपदेश दिया है। अभेदभाव से परमात्मस्वरूप की उपासना की दिशा निर्देश की है।

गृहस्थ वर्ग के लिए भी भाव पूजा के प्रकार बताकर, गृहस्थों को भी भेदोपासना की उच्च कक्षा बताई है जिससे गृहस्थ भी परमात्मा की उपासना में प्रवृत होकर आत्महित साधन कर सकते हैं। आत्महित.......आत्म कल्याण के लिए ही जो जीवन जीता है उन्हें यह विविध उपासना का मार्ग अत्यन्त रूचिकर लगेगा, और वे इस दिशा में प्रवृत्त होंगे।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

३०. ध्यान

मुनिजीवन में ध्यान का स्थान कितना महत्वपूर्ण है, यह बात इस अष्टक में पढ़िये। ध्याता–ध्येय और ध्यान के एकाकार में मुनि को दुःख न हो।

परन्तु ध्याता जितेन्द्रिय, धीर, प्रशान्त और स्थिर होना चाहिए। आसन सिद्ध और प्राणायाम प्रवीण होना चाहिए। ऐसा ध्याता मुनिवर चिदानन्द की मस्ती अनुभव करता है।

कल्पनाओं विकल्पों और विचारों से मुक्त हो जाओ। विचारों के भार से मन दब न जावे। पार्थिव जगत से आपके मन को मुक्त करो। निर्बन्धन बनकर ध्येय के साथ एकाकार हो जाओ। ध्यान के इस प्रकरण का चिंतनपूर्वक अभ्यास करो।

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्य चित्तस्य तस्य दुःखं न विद्यते ॥१॥ २३३

श्लोकार्थ

जहां ध्यान करने वाला, ध्यान करने योग्य और ध्यान ....इन तीनों का समन्वय हो गया है और जिनका चित्त अन्य स्थान में नहीं भटकता है ऐसे मुनि को दुःख नहीं होता है।

विवेचन

मुनि! फिर तुझे दुःख किसका? तू दुःखी हो ही नहीं सकता। तू तो इस विश्व का श्रेष्ठ एवं सुखी मनुष्य है।

पांच इन्द्रियों का कोई भी विषय तुझे दुःखी नहीं कर सकता। वैषयिक सुखों की प्राप्ति में नहीं अपितु त्याग में ही तूने सुख माना है। वैषयिक सुखों के न मिलने से दुनिया दुःख से आह भरती है परन्तु तूने तो अपने जीवन का आदर्श ही सुख का त्याग बनाया है। पांच इन्द्रियों को तूने वश में किया है............ वे तेरी आज्ञा बिना बिलकुल ही बाहर नहीं निकलती है। इन्हों ने तेरा मन भी वैषयिक सुखों से निवृत कर दिया है।

संसार के भावों से निवृत्त हुआ मन तेरे महान् 'ध्यान' में लीन है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकाकारता वे सिद्ध करते हैं। फिर उन्हें दुःख होगा ही नहीं।

मुनिराज! तुम्हारी साधना यानी वैषयिक सुखों से निवृत्त होने की साधना। जैसे जैसे तुम इन सुखों से निस्पृह बनते जाओगे वैसे वैसे कषायों से भी निवृत्त होते जाओगे। वैषयिक सुखों की इच्छा ही कषायों का प्रबल निमित्त है। शब्द,

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सुखों की इच्छा को नाश करने को ही तुम्हारी आराधना है। इसलिए आपको अपने मन को एक पवित्र स्थल में बांध देना है। ध्येय के ध्यान में आप लीन हो जाओ। आपकी मानसिक सृष्टि में इस महान् ध्येय के सिवाय किसी को भी प्रवेश न करने दो।

हा! इस ध्येय से मन डिगा और दूसरे किसी विषय पर जम गया तो आपका सुख काफूर हो जायेगा। विश्वामित्र ऋषि का मन ध्येय से चलायमान हो गया और मेनका की तरफ आकर्षित हुआ तब उसका सुख विषमय बन गया था, यह आप जानते ही हैं। नंदिषेण और आषाढ़ाभूति के दृष्टांत इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

आप एक ही काम करें। वैषयिक सुखो को स्पृहा मन से कुरेद कुरेद कर बाहर फेंकिये। इसके लिए वैषयिक सुखों पर विचार न करें। वैषयिक सुखों के नुकसान और असारता का चिंतन अब न करें। अब तो आप 'ध्येय' में लीन होने का प्रयत्न करें। जैसे जैसे यह लीनता बढ़ती जायेगी वैसे २ ही आप का सुख बढ़ता जावेगा। आपको अनुभव होगा कि 'मै सुखी हूं, मेरा सुख बढ़ रहा है।"

आप मुनि बन गये हैं इसलिए अब आपकी यह शिकायत नहीं होनी चाहिए कि 'ध्येय में मन स्थिर नहीं होता है।" जिस ध्येय के लिए आप संसार छोड़कर साधु बने हैं, उस ध्येय में आपका मन नहीं लगे, यह हो ही नहीं सकता। जिस ध्येय के लिए आपने कितने ही वैषयिक सुख त्याग दिये हैं उस ध्येय के ध्यान में आपको आनंद अनुभव न हो यह कैसे मान सकते हैं।

हां, आप ध्येय ही भूल गये हों और ध्येय हीन जीवन जीते हों तो आपका मन ध्येय के ध्यान में स्थिर नहीं रहेगा।

श्रोर श्राप सुखी भी नहीं होंगे। श्राप अपने को दुःखी मानते हैं। फिर श्राप भले ही 'पापोदय' का वहाना बनावें या भवितव्यता को दोष दें।

ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता का समय ही परमानन्द का समय है, परमब्रह्म की मस्ती की घड़ी है। मुनि जीवन जीने का एक अपूर्व अवसर है। एकाकार वन कर ध्येय में लयलीन वन जावो।

ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः समापत्तिस्तदेकता ॥२॥२३४

श्लोकार्थ

ध्यान करने वाली अंतरात्मा है, ध्यान करने योग्य तो परमात्मा कहे हैं और ध्यान एकाग्रता की बुद्धि है। इन तीनों की एकता ही 'समापत्ति' है।

विवेचन

अन्तरात्मा वने विना ध्यान नहीं कर सकते हैं। बाह्य आत्मदशा का त्याग कर अन्तरात्मा वन कर ध्यान करना चाहिए। यदि अपने में समयग्दर्शन है तो अपन अन्तरात्मा हैं।

जिनकी दृष्टि सम्यक् हो वही ध्येय रूप परमात्मा को देख सकता है अर्थात् एकाकार हो सकता है। इसलिए सम्यग्-दृष्टि जीव को ही ध्यान करने का अधिकार दिया है।

ध्यान करने योग्य है सिद्ध परमात्मा। आठों कर्मों के क्षय में जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रगट हुआ है वही शुद्धात्मा

ध्येय है अर्थात् घातकी कर्मों को क्षय कर जो अरिहंत बने हैं वे ही ध्येय हैं। प्रवचनसार में कहा है :

'जो जाणदि अरिहंते दव्वत्त–गुणत्त–पज्जवत्ते हिं
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

जो अरिहंत को द्रव्य–गुण और पर्यायरूप से जानते हैं वे आत्मा को जानते हैं और उनका मोह नाश होता है।

अरिहंत को ध्येय बनाकर अन्तरात्मा का ध्यान करे। ध्यान यानी एकाग्रता की बुद्धि सजातीय ज्ञान की धारा, अन्तरात्मा ध्येयरूप अरिहंत में एकाग्रता हो जावे। अरिहंत के द्रव्य, गुण और पर्याय ये सजातीय ज्ञान हैं। द्रव्य से अरिहन्त का ध्यान, गुण से अरिहन्त का ध्यान और पर्याय से अरिहन्त का ध्यान धरना चाहिए।

ध्यान शतक में ध्यान का रूप बताया है।"

जंथिरमज्झवसाणं तं झाणं चलं तवं चितं।
तं होज्ज भावणा वा अणुप्पेहा व अहव चिता ॥

अध्यवसाय यानी मन। स्थिर मन ही ध्यान है और चंचल मन चित्त कहलाता है। ध्यान की क्रिया चाहे भावना, अनुप्रेक्षा या चिंतनरूप हो।

हे जीव ! तू अंतरात्मा बन। तू विभावदशा से निवृत्त हो स्वभावदशा की तरफ मुड। आत्मा से परन्तु············आत्मा से भिन्न द्रव्यों की तरफ देखना बन्द कर अर्थात् जड़द्रव्य और उनके पर्याय के आधार पर राग द्वेष करना बन्द कर। जब तक तू बाह्यआत्मदशा में भटकता रहेगा तब तक ध्येयरूपी परमात्मा

में तू एकाग्र नहीं हो सकता है। इसलिए अन्तरात्मा बन। अन्तरात्मा ही एकाग्र बन सकती है। परमात्मस्वरूप की एकाग्रता बाह्यआत्मा के भाग्य में होती ही नहीं है।

हे आत्मा ! जो तू सम्यग्दृष्टि है तो तू ध्येय में लीन हो सकता है। अगर अन्तरात्मा नहीं है और सिर्फ सम्यग्दृष्टि होने का दावा करता है तो तू एकाग्र नहीं बन सकेगा। ध्येय का ध्यान नहीं धर सकता है। सम्यग्दर्शन के साथ अन्तरात्मदशा होनी ही चाहिए।

अरिहंत का विशुद्ध और परमप्रभावक आत्म द्रव्य का ध्यान धर। इनके अनंतज्ञानादि गुणों का चिंतन कर। इनके अष्टप्रतिहार्य आदि पर्यायों का ध्यान धर। अरिहंतरूपी पुष्प पर मंडराता हुआ भ्रमर बन जा। अरिहंत के सिवाय तुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगे, अरिहत को छोड़कर कहीं पर भी जाना रुचिकर नहीं लगना चाहिए। तेरी मानसिक सृष्टि में अरिहंत के सिवाय कुछ भी न हो।

यह है ध्याता–ध्यान और ध्येय की समापत्ति।

मणाविव प्रतिच्छाया समापत्तिः परात्मनः
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले ॥३॥ २३५

श्लोकार्थ

मणि की तरह, क्षीण वृत्तिवाले शुद्ध अन्तरात्मा के ध्यान से परमात्मा का जो प्रतिबिंब होता है उसे समापत्ति कहते हैं।

विवेचन

मणि देखी है ? उत्तम स्फटिक में कभी परछाई पड़ती हुई देखी है ? अगर यह नहीं देखा हो तो स्वच्छ काच में आपने अपना प्रतिबिंब तो देखा ही होगा ?

मणि हो, स्फटिक हो, या काच हो परन्तु वे मैले नहीं होने चाहिए, स्वच्छ होने चाहिए। निर्मल होंगे तो ही दूसरे पदार्थों का प्रतिबिंब पड़ेगा।

आत्मा यदि गंदा हो, मैला हो..........तो भी क्या इसमें परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ेगा ? कितनी भी कोशिश करो तो भी मलीन आत्मा में कभी भी परमात्मा का प्रतिबिंब नहीं पड़ेगा। परन्तु प्रश्न एक ही है कि अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रतिबिंब पड़े—ऐसी अपन इच्छा रखते हैं ? तो आत्मा को उज्ज्वल बनावें।

क्षीणवृति बन जाइये, वृत्तियों का क्षय। इच्छाओं का क्षय। ये वृतियाँ और इच्छायें ही अन्तरात्मदशा के महान् अवरोधक हैं। आत्मा की मलिनता हैं। इस मलिनता को दूर करने से आत्मा मणि के समान स्वच्छ एवं पारदर्शक बन जाती है। इसमें परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ता है।

अन्तरात्मा निर्मल हो और एकाग्रता हो तब परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ता है, यही समापत्ति है।

यहाँ महत्वपूर्ण बात है क्षीणवृत्ति बनने की। इच्छाओं से मुक्त होने की। इच्छायें ही एकाग्रता में विघ्न हैं। इच्छायें ही परमात्म स्वरूप के साक्षात्कार में अवरोधरूप हैं।

"मणेरिवाभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसंशयम्।
तात्स्थ्यात् तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥"

"उत्तम मणि की तरह, क्षीणवृत्ति आत्मा में परमात्मा के गुणों के संसर्गारोप से और परमात्मा के अभेद आरोप से निःसंशय समापत्ति होती है।"

'तात्स्थ्य' यानी अन्तरात्मा में परमात्म-गुणों का संसर्गारोप। 'तदञ्जनत्व' यानी अन्तरात्मा में परमात्मा का अभेदारोप, 'संसर्गारोप' यानी क्या ? यही प्रश्न है न ?

देखिये, आरोप दो प्रकार के हैं, संसर्ग और अभेद। सिद्ध आत्मा के अनंत गुणों में अन्तरात्मा से संसर्ग आरोप कहलाता है। परमात्मा के अनंतगुणों में अन्तरात्मा की एकाग्रता होने से समाधि प्राप्त होती है। यह समाधि ही ध्यान का फल है; यह ही अभेद आरोप है।

इन्हें आरोप क्यों कहते हो ?

इसलिए कि यह तात्त्विक अभेद नहीं है! परमात्मा का आत्म द्रव्य और अन्तरात्मा का आत्म द्रव्य दोनों अलग हैं। इन दोनों के अस्तित्व का एकीकरण नहीं हो सकता है, दो द्रव्य एक नहीं हो सकते हैं इसलिए आत्मद्रव्य के भाव की दृष्टि से मिलन होता है, लीनता होती है तब अभेद का आरोप कहा जाता है।

अपन अन्तरात्मा बनें, इच्छाओं का क्षय करें और परमात्मा का ध्यान धरें तो अपने मणि के समान पवित्र आत्मा में परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ेगा.........ये कैसे क्षण होंगे ! आत्मा क्षण दो क्षण मानले कि मैं परमात्मा हूँ! 'अहम् ब्रह्मास्मि' यह बात इस कक्षा में कैसी जंचेगी !

आपत्तिश्च ततः पुण्यतीर्थं कृत्कर्म बन्धतः ।
तद्भावाभिमुखत्वेन संपतिश्च क्रमाद् भवेत् ॥४॥ २३६

श्लोकार्थ

वे समापत्ति से पुण्य-प्रकृतिरूप तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध

से फल की प्राप्ति होती है और तीर्थंकर के अभिमुखपन से अनुक्रम में आत्मिक संपत्तिरूप फल प्राप्त होता है।

विवेचन

समापत्ति, आपत्ति, संपत्ति।

समापत्ति से आपत्ति और आपत्ति से संपत्ति।

आपत्ति का अर्थ आफत नहीं है। आपत्ति का अर्थ दुःख नहीं है। यह तो आपत्ति का कभी भी नहीं सुना हुआ अर्थ है। यहां 'आपत्ति' पारिभाषिक अर्थ में लिया गया है।

'तीर्थंकर-नामकर्म' बांधना ही आपत्ति है। हां, समापत्ति से तीर्थंकर नामकर्म बंधते हैं और वही आपत्ति है। जो आत्मा यह नामकर्म बांधते हैं वे ही तीर्थंकर बनते हैं और धर्मतीर्थ की स्थापना कर विश्व को धर्मरूपी प्रकाश देते हैं।

कर्म आठ प्रकार के हैं; उनमें एक 'नामकर्म' है। इस नामकर्म के १०३ प्रकार हैं इसमें एक 'तीर्थंकर नामकर्म' है। यह कर्म जो आत्मा बांधती है वह तीसरे भव में तीर्थंकर होता है।

तीसरे भव में जब से जन्म होता है तब से ही संपत्ति........। गर्भावस्था में ही तीन ज्ञान! स्वाभाविक वैराग्य आदि आत्मिक संपत्ति होती है। भौतिक संपत्ति भी विपुल होती है...........यश, कीर्ति और प्रभाव भी अपूर्व होता है।

ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकतारूप समापत्ति में से सर्जन हुई यह आपत्ति और संपत्ति है।

इत्थं ध्यानफलाद् युक्तं विंशतिस्थानकाद्यपि।
कष्ट मात्र त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे ॥५॥ २३७

श्लोकार्थ

इस प्रकार से ध्यान के फल से वीसस्थानक आदि तप भी योग्य है। कष्टमात्ररूप (तप) तो अभव्यों को भी इस संसार में दुर्लभ नहीं है।

विवेचन

शास्त्रों में कहा गया है कि 'वीसस्थानक' तप तीर्थंकर नामकर्म वांधते हैं। तीर्थंकर भी अपने अतीत के तीसरे भव में यह तप करके तीर्थंकर नामकर्म वांधते हैं।

समापत्ति का फल यदि प्राप्त नहीं होता है तो मात्र कष्टरूप तप तो अभव्य लोग भी करते हैं। उन्हें कहाँ समापत्ति का फल मिलता है? अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म का बंध मात्र कष्ट क्रिया करने से नहीं होता है। इसके लिए समापत्ति तो चाहिए ही।

'वीसस्थानक' की आराधना तो करनी पड़ती ही है। इस स्थानकों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) तीकर्थंर (२) सिद्ध (३) प्रवचन (४) गुरु (५) स्थविर (६) वहुश्रुत (७) तपस्वी (८) दर्शन (९) विनय (१०) आवश्यक (११) शील (१२) व्रत (१३) क्षणलव समाधि (१४) तय समाधि (१५) त्याग (द्रव्य से) (१६) त्याग (भाव से) (१७) वैयावच्च (१८) अपूर्वज्ञान-ग्रहण (१९) श्रुतभक्ति (२०) प्रवचन प्रभावना।

प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर (ऋषभदेव और महावीर स्वामी) ने पूर्व भव में इन वीसों स्थानकों की आराधना की थी। वीच के २२ जिनेश्वरों ने............किसी ने दो, किसी ने

विवेचन

ध्याता-ध्यानी महापुरुष की लक्षण-संहिता के ये तीन श्लोक महत्वपूर्ण हैं। अंतर निरीक्षण करने के इच्छुक ध्याता-पुरुष का यह 'थर्मामीटर' है! आइये, अपन स्वयं अंतर निरीक्षण करें।

१. **जितेन्द्रिय :** ध्याता पुरुष जितेन्द्रिय होना चाहिए। इन्द्रियों का विजेता हो। किसी भी इन्द्रिय के अधीन न हो। कोई इन्द्रिय इसको दुःख न दे सके। इन्द्रियां इस महात्मा की आज्ञा में रहें। इन्द्रिय परवशता की दीनता इसको स्पर्श न करे। इन्द्रियों की चंचलता से पैदा हुए राग और द्वेष उसे न हो। ऐसा जितेन्द्रिय महात्मा ध्यान की ध्येयता में लीन होता है।

२. **धीर :** सत्वशाली महापुरुष ही ध्यान की तीक्ष्ण धार पर चल सकता है। ध्यानावस्था में दीर्घकाल तक सत्व-शाली महापुरुष ही टिक सकता है। आन्तरबाह्य उपद्रवों के सम्मुख सत्वशील महात्मा ही टिक सकता है। रामचन्द्रजी के सामने सीतेन्द्र ने कैसे उपद्रव किये थे? तो भी सत्वशाली रामचन्द्रजी ध्यानावस्था से बिलकुल ही विचलित नहीं हुए थे। सत्व था। धीरता थी। इंद्रियों को कोई सुन्दर विषय आकर्षित न कर सके उसका नाम है सत्व! कोई भय, उपद्रव या उपसर्ग डरा न सके उसे धीरता कहते हैं। ध्येय में एकाकार बनने के लिए धीर बनना ही पड़ता है।

३. **प्रशान्त**—समता का शीतल कुण्ड! ध्याता की आत्मा यानी उपशम का उत्ताल तरंगों वाला झरणों का प्रदेश। वहां हमेशा शीतलता होती है। न क्रोध, न मान, न माया और

न लोभ। भले ही इन दुष्ट कषायों के धधकते अंगारे इन पर फेंक दिये जावें परन्तु उपशम के कुण्ड में पड़ते ही ये अंगारे बुझ जाते हैं। दृढप्रहारी महात्मा नगर के दरवाजे पर खडे होकर ध्याताऽध्यान और ध्येय की एकता की साधना कर रहे थे उस समय नगरवासियों ने उन पर क्रोध के अंगारे नहीं बरसाये थे क्या ? परन्तु इन महात्मा को अंगारे जला न सके। क्यों ? उपशम के कुण्ड में ये अंगारे बुझ गये थे। आप ध्यानी पुरुषों का इतिहास देखिये वहां उपशमरस की महिमा देखने को मिलेगी। हां ! केवल ध्यान के समय प्रशान्त रहना और दूसरे समय में कषायों पर अंकुश नहीं रखना ऐसा न हो। जीवन के प्रत्येक क्षण उपशमरस की गागर हो। दिन हो या रात्रि, नगर हो या जंगल, रोगी हो या निरोगी, कोई भी काल या क्षेत्र हो– ध्यानी पुरुष शान्तरस का सागर होता है।

४. स्थिर : ध्येय के उपासक में चंचलता न हो। जिस ध्येय के साथ ध्यान द्वारा एकत्व प्राप्त करना है, वह ध्येय क्या है ? अनतकाल की स्थिरता। वहां कोई भी मन वचन काया के प्रतीक नहीं हैं.........वहां कोई अस्थिरता नहीं.........तो फिर ये ध्याता चंचल कैसे बन सकते हैं ? अस्थिरता............ चचलता ये ध्यान में बाधक तत्व हैं। ध्यान में ऐसी सहज स्थिरता हो कि ध्यान में विक्षेप न पड़े।

५. सुखासनो : ध्यानी पुरुष सुखासन पर बैठे। ध्यानावस्था में उसका आसन (बैठने की पद्धति) ऐसी हो कि बार-बार ऊँचा-नीचा नहीं होना पड़े। एक आसन पर दीर्घ समय तक बैठ सके।

६. नासाग्रन्यस्त दृष्टि : ध्यानी पुरुष की दृष्टि इधर-उधर नहीं जानी चाहिए। नासिका के अग्रभाग में उसकी दृष्टि

स्थिर होनी चाहिए। काया की स्थिरता के साथ दृष्टि की भी स्थिरता होनी चाहिए, यह न हो तो संसार के दूसरे तत्व मन में बस जाते हैं और ध्येय का ध्यान चुका देते हैं। द्रौपदी का पूर्व-भव यहां साक्षी स्वरूप है। यह साध्वी जब नगर के बाहर ध्यान करने के लिए गई थी तब एक वेश्या का घर सामने था वहाँ पांच पुरुषों के साथ वेश्या की क्रीडा चल रही थी। उस साध्वी की दृष्टि उधर गई, एकटक होकर देखने लगी और ध्येय का ध्यान भूल गई। ध्येय परमात्मा से यह दृश्य सुखकारी लगा और यह दृश्य उसका ध्येय बन गया। वह द्रौपदी के भव में पांच पांडवों की पत्नी बनी। परमात्मा के साथ एकता साधने के लिए दृष्टि का संयम अनिवार्य है। दृष्टि का संयम नहीं रखने वाले साधक परमात्मस्वरूप की साधना नहीं कर सकते हैं। इसलिए दृष्टि नाक के अग्र भाग में स्थिर करनी चाहिए।

७. **मनोवृत्ति निरोधक :** इन्द्रियाँ मन के विचारों का अनुसरण करती है। ध्येय में चित स्थिर करने वाला साधक मनोवृत्तियों को रोकता है.........तीव्रवेग से दौडते विचारों के प्रवाह काबु में करता है। जब ध्येय में मन लीन हो जाता है तब इन्द्रियों के विषयों में दौडता हुआ मन बंध जाता है। मन का सम्बन्ध जब परमात्मा के साथ बन्ध जाता है तब इन्द्रियों के साथ का सम्बन्ध कट जाता है। इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध कट जाने के बाद "मैं परमात्मा का ध्यान धरू" ऐसी राह देखने की आवश्यकता नहीं है। आप अपने परमात्म स्वरूप में मन जोड दो तब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध कटा हुआ ही समझें।

८. **प्रसन्न :** ध्यानी को कितनी महान प्रसन्नता होती है। परमात्म स्वरूप में लीन होने का आदर्श, ध्येय धरने वाले

ध्यानी महात्मा जब अपने ध्येय तक पहुंचते हैं, आदर्श की सिद्धि प्राप्त करते हैं, तब इनकी प्रसन्नता का क्या पूछना ? इनका रोम-रोम आनन्दित हो जाता है। इनका हृदय अद्वितीय आनंद का अनुभव करता है और इनका मुखमंडल सौम्यता एवं प्रसन्नता से दीप्त हो जाता है। न उन्हें विषयों की स्पृहा होती है और न कषायों का संताप होता है। यह नहीं होने से प्रसन्नता ही होती है। "भिक्षुरेकः सुखी लोके" यह कैसा गूढ सत्य है। ध्यानी ऐसा भिक्षुमुनि ही ऐसी प्रसन्नता का सुख अनुभव कर सकते हैं।

९. **अप्रमत्त :** प्रमाद ? आलस्य ? व्यसन ? इन विषधरों को सैकड़ों माइल पीछे रखकर जो परमात्मस्वरूप के निकट पहुंचा है उसे ये विषधर चिपक नहीं सकते हैं। इसके अंग-अंग में स्फूर्ति होती है, इनके मन में अपूर्व उत्साह की लहरें होती हैं। यह बैठा हो या खडा हो·········वह भव्य विभूति को देखता है·········यह मूर्तिमत चैतन्य लगता है। मानो परमात्मा की ही प्रतिकृति हो ऐसा अहसास होता है। वैभारगिरि पर खडे धन्ना अणगार के दर्शन मगध सम्राट श्रेणिक ने किये थे तब सम्राट को धन्ना अणगार ऐसी ही विभूति लगे थे·········उसने नमस्कार किया·········गीत गाये·········अप्रमत्त महात्मा के दर्शन से उसका हृदय परम हर्ष से सरोबार हो गया था। अप्रमाद का प्रताप मगध सम्राट के भव के दुख को दूर करने वाला बना। ध्यानी के सामने मान का पानी उतर जाता है। ध्यानी की मौन वाणी प्राणियों के प्राणों को नवपल्लवित करती है।

१०. **चिदानन्द :** अमृत-अनुभवीः इस ध्यानी महापुरुष को ज्ञानानन्द का रसास्वादन करने में प्रेम होता है। इसके

अलावा संसार में उसे कोई भी आकर्षण नहीं है, सब नीरस है। ज्ञानानन्द का अमृत ही रुचिकर लगता है। आत्मज्ञान का आस्वाद करते हुए यह कभी भी नहीं थकता है।

अहो! ऐसा ध्यानी महात्मा अंतरंग साम्राज्य का विस्तार करते हुए कैसा आत्मतत्व बनाता है। इसके साम्राज्य का यही स्वामी है। कोई दूसरा इस साम्राज्य से ईर्ष्या नहीं कर सकता है। कोई विपक्ष.............या शत्रु इस साम्राज्य का नहीं है।

ऐसे ध्यानीपुरुष को किसकी उपमा दें? स्वर्ग या मनुष्य लोक में ऐसी कोई उपमा नहीं है! ऐसी अनुपम उपमा तीन लोक में नहीं है।

अद्वितीय!

अनुपमेय!

ध्याता–ध्येय और ध्यान की एकता साधन करने वाला ध्याता............चर्म चक्षु से पहचाना नहीं जाता। ऐसे ध्याता पुरुष ही अंतरंग, अनन्त आनन्द को अनुभव करते हैं। ऐसी श्रेणी प्राप्त करने के लिए उपरिलिखित दस विशेषताओं का अभ्यास करना आवश्यक है। ध्याता बनने के लिए यह आचार संहिता है। ऐसा ही ध्याता ध्येय को प्राप्त करने के योग्य बन सकता हैं।

हे आतम! तू ऐसा ध्याता बन जा। इस पार्थिव संसार से अलिप्त बन जा। ध्येय परमात्म स्वरूप का पुजारी बन जा। इसी का स्नेही और प्रेमी बन जा। इस जीवन को तू इसमें लगादे। ध्येय में ध्यान से निमग्न बन जा। इस अपूर्व आनन्द का अनुभव कर ले।

ऊ ह्रीं अर्ह नमः

३१. तप

वासनाओं पर क्रोधित योगी शरीर पर भी क्रुद्ध होता है और तप से शरीर पर टूट पड़ता है !

भला, तप से शरीर पर क्यों टूट पड़ता है ? शरीर तो साधना का साधन है, वासनायें शैतान हैं, शरीर नहीं। इस लिए तप का निशान वासनायें होनी चाहिए, शरीर नहीं। इस प्रकरण में ग्रन्थकार अपन को यह विवेक दृष्टि देते हैं। इन्द्रियों को नुक्सान हो ऐसा तप करने को मना करते हैं।

बाह्यतप की उपयोगिता आभ्यंतर तप की प्रगति में वर्णन करते हैं। आभ्यंतर तप आत्म विशुद्धि का साधन बताते हैं।

हे तपस्वियो और तप के इच्छुको ! यह अष्टक आपको मननपूर्वक पढना पड़ेगा।

ज्ञा नमेव वुधाः प्राहुः कर्मणां तापनात् तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं वाह्यं तदुपवृंहकम् ॥१॥ २४१

श्लोकार्थ

कर्मों को तपाने वाला होने से तप वह ज्ञान ही है, यह पंडितों का कथन है। वह अंतरंग तप ही इष्ट है और इसको वढ़ाने वाला वाह्यतप भी इष्ट है।

विवेचन

'तप' शव्द से कौन भारतीय अपरिचित है ? तप करने वाला तो परिचित है ही पर तप नहीं करने वाला भी 'तप' से परिचित होता है। परन्तु समाज में 'तप' शव्द विशेषकर वाह्यतप तरीके प्रसिद्ध हुआ है। तप क्यों करना है, ? कैसा करना है और कव करना चाहिए ? यह सव सोचना करीव-करीव लुप्त सा हो गया है।

संसार में सुखी जीव दिखते हैं और दुःखी जीव भी दिखते हैं। सुखी थोडे और दुखी ज्यादा है। सुखी सदा के लिए सुखी नहीं हैं और दुःखी भी हमेशा के लिए दुःखी नहीं हैं, यह ऐसा क्यों ? क्या यह आत्मा का स्वभाव है ? नहीं आत्मा का स्वभाव तो अनत सुख है, शाश्वत सुख है, परन्तु इसके ऊपर कर्म लगे हुए हैं, इसलिए जो जीव का वाह्य स्वरूप दिखता है वह कर्म जन्य स्वरूप है। यह निर्णय केवल ज्ञानी वीतराग ऐसे परमात्माओं ने किया था और संसार को यह निर्णय समझाया था।

परम सुख एव परम शान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्मों के वन्धन से मुक्त करना ही पडेगा। ये कर्मवन्धन

तोडने का अपूर्व साधन तप है। कर्मों के क्षय के लिए तपश्चर्या करनी है। इसलिए तप की व्याख्या इस तरह विद्वानों ने की हैं। कर्मणां तापनात् तपः। कर्मों को तपावे वह तप। तपावे का अर्थ है नाश करे, क्षय करे।

इसलिए तपस्वी का लक्ष्य कर्मक्षय ही होना चाहिए, यह तात्पर्य है। परन्तु तप किसको कहना ? तप मुख्यकर दो प्रकार के हैं। (१) बाह्य (२) आभ्यंतर।

कर्मों को क्षय करने वाला तप आभ्यंतर अंतरंग ही है। 'प्रशमरति' में भगवान् उमास्वाति कहते हैं:

'प्रायश्चितध्याने वैयावृत्यविनयावथोत्सर्गः।
स्वाध्याय इति तपः षट् प्रकारमाभ्यंतरं भवति ॥

प्रायश्चित, ध्यान, वैय्यावच्च, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय ये छः प्रकार के आभ्यंतर तप हैं। इन छः तपों में भी 'स्वाध्याय' को श्रेष्ठ बताते हुए आगम में कहा है—

"सज्झायसमो तवो नत्थि"

स्वाध्याय समान दूसरा कोई तप नहीं है। वह श्रेष्ठता कर्मक्षय की अपेक्षा से है। स्वाध्याय से विपुल कर्मक्षय होते हैं, जो दूसरे तपों से नहीं होता है।

तो क्या बाह्यतप का महत्व नहीं है ?

है। आभ्यंतर तप में प्रगति लाना चाहते हैं तो बाह्यतप चाहिये ही। उपवास करने से स्वाध्याय में प्रगति होती है तो उपवास करना ही चाहिए। कम खाने से स्वाध्याय आदि में स्फूर्ति आती हो तो कम ही खाना चाहिए। कम चीजें खाने से,

स्वाद का त्याग करने से काया को कष्ट देने से, एक जगह स्थिर बैठने से आभ्यंतर तप में तीव्रता आती हो, सहायता मिलती हो तो यह बाह्यतप करना ही चाहिए। बाह्यतप आभ्यंतर तप की सहायता के लिए है।

मानव ! तू ही यह आभ्यंतर तप करके कर्मों का क्षय करने में समर्थ है; शक्तिमान है। कर्मों का क्षयकर आत्मा का स्वरूप प्रगट करने के लिए तू तत्पर बन। जब तक कर्मों का क्षय कर आत्म स्वरूप नहीं प्रगटायेगा तब तक तेरे दुःखों का अंत नहीं आयेगा। कर्मों का अंत हो तो ही दुःखों का अंत होता है।

आनुश्रोतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता ।
प्रतिश्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तपः ॥२॥ २४२

श्लोकार्थ

अज्ञानी की, लोक-प्रवाह को अनुसरण करने की वृत्ति सुख शील है. ज्ञानी पुरुषों की विरुद्ध प्रवाह में चलने वाली वृत्ति. उत्कृष्ट तप है।

विवेचन

संसार का तीव्र प्रवाह है।

प्रवाह का तूफान है।

इस तूफान में बहने वालों का इतिहास अत्यन्त रोमांच-कारी है। चक्रवर्ती, वासुदेव, राजा-महाराजा, श्रीमंत, धीमंत आदि इस तूफान में बह गये। यह तूफान सतत् प्रवाह से बहता है। यह एक तरह का नहीं है परन्तु अनेक तरह का है।

"खाना, पीना और आनंद से रहना।"

"यह तो सब खा सकते हैं.........अपन संसारी हैं। सब चलता है।"

"मन शुद्ध रक्खो, तप करने से क्या ?"

ऐसे अनेक लोक प्रवाह हैं। ऐसे प्रवाहों में बहकर तप की उपेक्षा करने वाले अज्ञानी जीव तपश्चर्या नहीं करते हैं। सुखशीलता, जीव को इस प्रवाह में बहा देता है। जिस प्रवृत्ति में कोई कष्ट न हो, कोई मेहनत न करनी पड़े वह प्रवृत्ति ही वह करेगा।

परन्तु जो विचारक है, विद्वान है वह पुरुष इस लोक प्रवाह के विरुद्ध पूरी तरह से जायेगा। उसने सुखशीलता को भगा दिया है। कपट व आपत्ति को हंसते हंसते सहने की उसकी तैयारी होती है। वह धर्मबुद्धि से प्रेरित होकर उत्कृष्ट कोटि की तपश्चर्या करता है। वह विचार करता है-"चारित्र लेकर तीर्थंकर भी घोर तप करते हैं, जो जानते हैं कि उन्हें केवल ज्ञान होगा ही तो भी वे तप करते हैं। तो फिर हे जीव ! तुझे तो तप करना ही चाहिए।"

यहाँ मूलश्लोक में 'वृत्ति:' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ 'विचार' होता है। अर्थात् अज्ञानी जीवों की संसार प्रवाह को अनुसरण करने की वृत्ति (विचार) सुखशीलता है। परन्तु टव्वा में स्वयं ग्रंथकार ने 'वृत्ति' का अर्थ 'प्रवृत्ति' किया है। और मासखमण (महिना का उपवास) जैसी उग्र तपश्चर्या को प्रवृत्ति बताई है। याबी तपश्चर्या को मात्र विचार रूप नहीं परन्तु आचार रूप बताकर बाह्यतप पर जोर दिया है।

'वाह्यं तदुपवृंहकम्' वाह्यतप तो अंतरंग तप में सहायक है। ऐसा कहकर यह भास होता है कि कर्मक्षय करने के लिए अंतरंग तप ही करना चाहिए। वाह्य तप करो तो करो !" परन्तु उसी समय दूसरे श्लोक में अपने कथन का राज खोल दिया है। लोक प्रवाह में.........लोक संज्ञा में वहकर तू तप की उपेक्षा करता है तो यह तेरी सुख शीलता है और तू अज्ञानी है।

आभ्यंतर तप में सुदृढ़ रहने के लिए वाह्य तप की आवश्यकता है। इसलिए ग्रंथकार ने टव्वा में तद्भवमोक्षगामी तीर्थंकरों का दृष्टान्त देकर कहा है कि वे भी वाह्यतप का आचरण करते हैं। तो फिर अपन को कौन से भव में मोक्ष प्राप्त होगा ऐसा कोई चिन्ह नहीं दिखता फिर तप किये विना कैसे चलेगा।

करो, जितना हो सके उतना वाह्य तप करो............ शरीर का ममत्व तोड़कर तप करो। घोरवीर और उग्र तप करके आत्मा की शक्ति का इस संसार को परिचय कराओ। लोक प्रवाह के विरुद्ध सागर में घुसते जाओ। धीर और वीर वन कर घुसते चलो। कर्मक्षय का आदर्श रख कर, तप की आराधना करते जाओ। आराधना में वाधक विचारों पर अंकुश रखने की कला प्राप्त करो।

धनार्थिनां यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम्।
तथा भवविरक्तानां तत्व ज्ञानार्थिनामपि ॥३॥ २४३

श्लोकार्थ

जैसे धन के इच्छुक को शीत–गर्मी आदि कष्ट दुस्सह नहीं हैं उसी तरह संसार से विरक्त हुए तत्वज्ञान के इच्छुक को

भी शीत-गर्मी आदि कष्ट सहन करने के लिए तप दुःसहनीय नहीं है।

विवेचन

धन-संपत्ति की तीव्र इच्छा वाले को कडकडाती सर्दी या झुलसती गर्मी में भटकता हुआ देखा है? आप इन्हें पूछें:

तू ऐसी कडकडाती सर्दी में क्यों भटकता है? तू शरीर को गलाने वाली ऐसी ठंड सहन कर सकता है? तू तवे के समान गर्म गर्मी को भी सहन कर सकता है?"

वह आप को कहेगा: "कष्ट सहन किये बिना धन-संपत्ति नहीं मिलेगी भैया। और धन का ढेर चाहिए तब यह सब कष्ट भूल जाना है।"

भोजन का ठिकाना नहीं, कपड़ों की तरफ ध्यान नहीं और ऐशो-आराम का नाम निशान नहीं। धन के पीछे भटकने वाले को कष्ट कष्टस्वरूप नहीं लगता है। दुःख दुःखरूप नहीं लगता है।

तो फिर परम तत्व प्राप्त करने की जिनको लालसा जागृत हुई है उन्हें परम तत्व बिना समस्त संसार तुच्छ लगता है ऐसे भवविरक्त संसार-सुखों से विरक्त महात्मा को ठंड-गर्मी कष्टरूप लगेंगे?

परमतत्व प्राप्त करने के लिए, भव सुखों से विरक्त हो कर.........राजगृही के पहाड़ों में जाकर..........गर्म अग्नि के समान पत्थर की शिला पर नंगे शरीर से सोने वाले धन्नाजी और शालिभद्र को ये कष्ट कष्टस्वरूप नहीं लगे। न असाध्य लगे। उनके दिल में ये सब सहना स्वाभाविक लगता था।

जो मनुष्य भव से विरक्त नहीं, संसार सुखों से विरक्त नहीं और परम तत्व–आत्मस्वरूप प्राप्त करने की जिसको इच्छा जागृत नहीं हुई है, ऐसे मनुष्य को यह वात समझ में नहीं आवेगी। भव के.........संसार के सुखों में जिनका रुझान है, भौतिक सुखों का जिन्हें त्याग नहीं करना है और परमतत्व की वातें सुन कर, उसको प्राप्त करने के लिए जो चाहते हैं वे मनुष्य ऐसा मार्ग खोज करते हैं कि कष्ट सहे विना ही परमतत्व की प्राप्ति हो जावे।

भव विरक्ति के विना परमतत्व की प्राप्ति नहीं होती है। भव विरक्ति विना और परमतत्व की तीव्र लालसा के विना उपसर्ग.........परिषह सहन नहीं हो सकते हैं.........आप इतिहास देखें। जिन महात्माओं ने घोरउपसर्ग.........परिषह सहन किये थे वे भवविरक्त थे और परमतत्व के इच्छुक थे। गजसुकुमाल मुनि, खंधकमुनि आदि मुनिवर और चन्द्रावतंसक आदि राजाओं पर आप विचार करें तो उपसर्ग.........परिषह इनके मन में कोई उपद्रव नहीं लगे थे।

ध्येय का निर्णय हो जाना चाहिए। धन की तरह परम तत्व की कामना जग जानी चाहिए। जैसे धनार्थी को धन के सिवाय दूसरा कोई प्रिय नहीं होता है उसी तरह परमतत्व के सिवाय दूसरा कोई प्रिय नहीं होना चाहिए। इस परमतत्व की प्राप्ति करने के लिए वीरता पूर्वक तप करे। महिने.........महिने का उपवास भी इनके मन को सरल लगता है। घंटों तक ध्यान करना इन्हें कष्टप्रद नहीं लगता है।

संसार में सब से प्यारा तत्व जैसे पैसा है वैसे ही विवेकी पुरुषों को सव से प्यारा तत्व परमात्म तत्व होता है। इस तत्व

को प्राप्त करने के लिए जो कष्ट सहन किया जावे उसे तप कहते हैं। यह तप उसे सरल, उपादेय लगता है और पूर्ण लगन से करता है।

सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानंदवृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥४॥ २४४

श्लोकार्थ

अच्छे उपाय में प्रवृत्त हुए ज्ञानी तपस्वियों को मोक्ष रूप साध्य की मिठास से हमेशा आनंद की वृद्धि ही होती है।

विवेचन

जहाँ मिठास वहाँ आनंद !

जहां मीठा भोजन वहां आनंद। जहां मीठे वचन वहां आनन्द। जहां मीठा मिलन वहां आनंद। मिठास में ही आनंद अनुभव होता है।

परन्तु उन ज्ञानी तपस्वियों को मीठा भोजन आनद नहीं देता है। मधुर शब्द सुनने में उन्हें आनंद नहीं होता है और प्रिय मिलन की उन्हें उत्कंठा नहीं होती है। तो क्या उनका जीवन आनंद रहित, नीरस और उल्लास रहित होगा ?

नहीं ! उनका जीवन आनंद से भरापूरा होता है, रस से छलकता होता है.........उल्लास से फूला हुआ होता है। जानते हैं यह आनंद वे कहां से प्राप्त करते हैं ? साध्य की मिठास से। इनका साध्य मोक्ष है, इनको मोक्ष से.........शिव रमणी से मिलने की कल्पना से ही मिठास झरता है.........यह मिठास

इन तपस्वियों को आनन्द से भर देती है। इस शिव–रमणी को वरण करने के लिए तपस्वियों ने एक सुन्दर रास्ता पकड़ा है।

तपश्चर्या का !
देह दमन का !
वृत्तियों के शमन का !

तपस्वियों के पास ज्ञानदृष्टि होती है। वे इस उपाय से उनके साध्य की निकटता देखते हैं, जैसे-जैसे साध्य निकट देखते हैं वैसे-वैसे उनमें मिठास आती है और वे आनंद का अनुभव करते हैं..........क्रमशः आनन्द बढता ही जाता है।

"वैराग्यरति" ग्रंथ में कहा है :—

"रतिः समाधावरतिः क्रियासु
नात्यन्ततीव्रास्वपि योगिनां स्यात्।
अनाकुला वह्नि कणाशनेऽपि
न किं सुधापाने गुणाच्चकोराः :॥"

योगी पुरुषों को समाधि में रति–प्रीति होने से अत्यन्त तीव्र किया में भी अरति–अप्रीति नहीं होती है। चकोर पक्षी सुधा पीने के गुण वाले होने से अग्नि के कण खाने से क्या व्याकुलता रहित नहीं होते हैं ?

मिठास के बिना आनंद नहीं और आनंद के विना कठोर धर्म उपासना दीर्घकाल तक नहीं टिकती है। मिठास एवं आनंद कठोर और तीव्र धर्म आराधना में गति कराते हैं, प्रगति कराते हैं।

तपस्वी ज्ञानी होना चाहिए, यह महत्वपूर्ण बात यहां कही गई है। अगर तपस्वी ज्ञानी नहीं होगा तो उसे धर्मक्रिया

में अप्रीति होगी, अरति होगी। भले ही वह धर्मक्रिया करता होगा परन्तु वह मिठास अनुभव नहीं कर सकता है, आनंद का अनुभव नहीं कर सकता है।

ज्ञान उसे साध्य..........मोक्षदशा के सुख की कल्पना देता है। जो कल्पना उसे मिठास देती है वह कल्पना उसे आनंद से भर देती है। यह आनंद उसकी कठोर तपश्चर्या को जीवन देता है। ज्ञान युक्त तपस्वी की इस जीवनदशा का यहां कैसा अपूर्व दर्शन कराया है। अपन को ऐसे तपस्वी बनने का आदर्श रखना चाहिए, उसके लिए साध्य की कल्पना स्पष्ट करनी चाहिए..........कल्पना इतनी स्पष्ट हो कि उसमें से मधुरता—मिठास टपके। इसके लिए तपश्चर्या का सुन्दर उपाय करना चाहिए।

बस, आनंद की वृद्धि होती ही रहेगी, इस बढते आनंद में नित्य क्रीडा करते रहिए।

इत्थं च दुःख रूपत्वात् तपो व्यर्थ मितीच्छताम्।
बौद्धानां निहता बुद्धिर्बौद्धानन्दापरिक्षयात् ॥५॥२४५

'—इस प्रकार दुःख रूप होने से तप निष्फल है। ऐसी इच्छा करने वाले बौद्धों की बुद्धि कुंठित हुई है कारण कि बुद्धि जनित अंतरंग आनंद की धारायें खंडित नहीं होती हैं। अर्थात् तप में आत्मिक आनंद की धारा अखंडित होती है।

विवेचन

'—कर्मक्षय के लिए, दुष्ट वासनाओं के निरोध के लिए तप करना चाहिए," इस सिद्धान्त पर भारतीय धर्मों पर बौद्ध धर्म ने आक्रमण किया है। जो कि चार्वाकदर्शन तो आत्मा और

परमात्मा को ही नहीं मानता है इसलिए ये तप के सिद्धान्त को न मानें तो समझ में आने लायक हैं। परन्तु आत्मा को और निर्वाण को मानने वाला बौद्धदर्शन तप की अवहेलना करे तब जनता में संशय पैदा होता है और तप में अश्रद्धा हो जाती है।

जनता का..............जीव मात्र का हित चाहने वाले महात्माओं को इससे खेद होता है यह स्वाभाविक है। बौद्धों का तप विषयक प्रलाप कैसा है। वे कहते हैं:—

'दुःखात्मकं तपा केचिन्मन्यते तन्न युक्ति मत्।
कर्मोदयस्वरूपत्वात् वलीवर्दादि दुःखवत्॥

कितने ही (जैन आदि) बैल आदि पशु के दुःख की तरह अशाता वेदनीय के उदय रूप होने से तप को दुःख रूप मानते हैं। यह युक्ति युक्त नहीं है। बौद्ध कहते हैं: तप क्यों करना चाहिए? पशुओं की तरह दुःख सहन करने से क्या? यह तो अशाता वेदनीय कर्म का उदय है। हरिभद्रसूरिजी उन्हें कहते है:

"विशिष्ट ज्ञान—संवेग शमसारयतस्तपः।
क्षायोपशमिकंज्ञे यमव्यावाधसुखात्मकम्॥

'विशिष्ट ज्ञान—संवेग—उपशमगर्भिततप क्षायोपशमिक और अव्यावाध सुख रूप है।' अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से हुई परिणतिरूप है। अशाता वेदनीय का उदय रूप नहीं है।

यशो विजयजी उपाध्याय कहते हैं कि तपश्चर्या में अंतरंग आनंद की धारा अखडित रहती है, उसका नाश नहीं होता है इसलिए तपश्चर्या मात्र कष्ट रूप नहीं है। पशु के दुःख के साथ

मनुष्य के तप की क्या बराबरी है ? पशु के हृदय में क्या अंतरंग आनंद की धारा बहती है ? पशु क्या स्वेच्छा से कष्ट सहन करता है ?

तपश्चर्या की आराधना में तो स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है; किसी का बन्धन नहीं है, भय या परतंत्रता नहीं है। स्वेच्छा से कष्ट सहन करने में अंतरंग आनंद हिल्लोरें लेता है। इस अंतरंग आनंद के प्रवाह को नहीं देख सकने वाले बौद्धों ने तप को मात्र दुःख रूप ही देखा है। तपश्चर्या करने का मात्र बाह्य स्वरूप ही देखा है........इनका कृश देह देखकर उसे लगा कि आहा....यह विचारा कितना दुःखी है ? न खाना और न पीना.......शरीर कैसा सूख गया है। तपश्चर्या की शरीर पर होती असरों को देख कर तप के प्रति घृणा करना क्या यह आत्मवादी के लिए योग्य है ?

तप करने वाला........घोर तप को भी वीरता पूर्वक आराधना करने वाले महा पुरुषों के आंतरिक आनंद को नापने के लिए इन महापुरुषों का निकट परिचय चाहिए। चम्पा श्राविका के छः महिनों के उपवास ने अकबर सरीखे क्रूर हिंसक बादशाह को भी अहिंसक बनाया था....कैसे ? अकबर ने इस चम्पा श्राविका का निकट परिचय किया....चंपा के आंतरिक आनंद को देखा........तपश्चर्या को कष्ट रूप नहीं परन्तु आनंद रूप समझने की चम्पा की महानता देखी तब अकबर तपश्चर्या के चरण में झुक गया था। तपस्वी को आंतरिक आनंद का कुआ........पाताल कुआ खोद देना चाहिए।

यत्र ब्रह्म जिनार्चा च कषायाणां तथा हतिः।
सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तपः शुद्धि मिष्यते ॥६॥२४६

श्लोकार्थ

जब ब्रह्मचर्य होता है, जिन की पूजा होती है तथा कषायों का क्षय होता है और अनुबंध सहित जिन की आज्ञा प्रवर्ते, वह तप शुद्ध इच्छा वाला है।

विवेचन

देखो, ऐसे ही विना विचारे तप करने से काम चलेगा। इनका परिणाम देखो........हा, यह परिणाम इस जोवन में ही चाहिए। मात्र परलोक के सुख को कल्पना में रखकर तप करने से नहीं चलेगा। आप देखें, जैसे जैसे आप तप करते हैं वैसे वैसे वे चार परिणाम आते हुए दिखते हैं ?

(१) ब्रह्मचर्य में वृद्धि होती है ?

(२) जिन पूजा में प्रगति होती है ?

(३) कषाय घटते जाते हैं ?

(४) सानुबंध जिनाज्ञा का पालन होता है ?

तपश्चर्या की आराधना का आरंभ करते समय ये चार आदर्श नेत्र के सम्मुख रखने हैं। तपश्चर्या जैसे-जैसे करते हैं उस समय इन चार बातों की प्रगति होती है या नहीं, यह देखते रहना चाहिए। इसी जीवन में इन चार बातों की विशिष्ट प्रगति होनी चाहिए। तपश्चर्या का तेज यहीं है। तपश्चर्या का प्रभाव यहीं है।

ज्ञान मूलक तपश्चर्या ब्रह्मचर्य के पालन में दृढता लाती है। अब्रह्म की........मैथुन की वासना मंद पडती जाती है, मैथुन के विचार भी नहीं आते है। मन वचन काया से ब्रह्मचर्य का

पालन होता है। तपस्वी को ब्रह्मचर्य का पालन सरल हो जाता है। तपस्वी के लिए मैथुन का त्याग सरल हो जाता है। तपस्वी का लक्ष्य ही होता है कि "मुझे ब्रह्मचय के पालन में निर्मलता, पवित्रता और दृढ़ता लानी है।"

जिन पूजा में तपस्वी प्रगति करता जाता है। जिनेश्वर के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा, भक्ति बढ़ती जाती है। शरणागति की इच्छा बढ़ती जाती है। जिनेश्वर की भाव पूजा और द्रव्य पूजा में हृदय का उल्लास बढ़ता जाता है।

कषायों का क्षयोपशम होता जावे। क्रोध, मान, माया और लोभ कम होते जाते हैं। कषायों को उदय में नहीं आने दे। उदय में आये हुए कषायों को सफल नहीं होने देवे। 'तपस्वी में कषाय शोभा नहीं देता है'' यह उसका मुद्रा लेख हो। तपस्वी कषायी नहीं शोभा देता है। कषाय करने वाला तपस्वी तप की निन्दा कराता है, तप का मूल्य कम कराता है। तपश्चर्या का ध्येय कषायों का क्षयोपशम होना चाहिए।

सानुबंध जिनाज्ञा का पालन! कोई भी प्रवृत्ति करते हुए "इसके लिए जिनाज्ञा क्या कहती है? जिनाज्ञा का खंडन तो नहीं होता है?" यह जागृति होना चाहिए।

"आज्ञा राद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च"

आज्ञा की आराधना कल्याण के लिए होती है। जिनाज्ञा की सापेक्षता के लिए यह तपस्वी हमेशा जागृत रहता है। तपश्चर्या के ये चार परिणाम उपयोग में लाये जावें और तपश्चर्या की जावे तो तप कितना उच्च कोटि का हो जाता है? ध्येय हीन, दिशा शून्य""मात्र परलोक में भौतिक सुखों के लिए शरीर को कष्ट देने आदि से कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा

"किसी भव में तो मोक्ष मिलेगा ही... ...." ऐसे अधूरे अन्तिम लक्ष्य से भी किया हुआ तप आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता है। इसके लिए तो ये चार बातें ही चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन, जिनेश्वर का पूजन, कषायों का क्षय और जिनाज्ञा का पारतंत्र्य। ऐसा पारतंत्र्य हो कि भवोंभव जिनचरण की शरण मिले। भव भ्रमण टल जावे।

तदेव ही तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥७॥ २४७

श्लोकार्थ

जहां बिलकुल दुर्ध्यान न हो, जिससे मन-वचन-काया के योगों को हानि न हो और इन्द्रियां क्षय न हों (कार्य करने के लिए अशक्त न हों) वही तप करने योग्य है।

विवेचन

"कुछ भी हो परन्तु यह तप तो करना ही है।" ऐसी दृढ़ता किसे हर्षित नहीं करती है? ऐसी दृढ़ता बताने वाले को लाखों अभिनन्दन मिलते हैं।

तपस्वी में दृढ़ता आवश्यक है। लिए हुए तप को पूर्ण करने की दृढ़ता होनी ही चाहिए। परन्तु मात्र तप को पूर्ण करने की दृढ़ता से वीरता नहीं प्राप्त होती है। इसके लिए निम्नलिखित सतर्कता आवश्यक है।

(१) दुर्ध्यान न होना चाहिए।

(२) मनोयोग-वचन योग—काया योग इनकी हानि नहीं होनी चाहिए अथवा मुनि जीवन में कर्तव्य रूप योगों की हानि नहीं होनी चाहिए।

(३) इन्द्रियों को नुकसान नहीं होना चाहिए।

दुर्ध्यान अनेक प्रकार के होते हैं। कभी तो दुर्ध्यान करने वाले को ख्याल भी नहीं होता है कि यह दुर्ध्यान कर रहा है। दुर्ध्यान यानी खराब विचार, न करने योग्य विचार। तपस्वी से कौन से विचार न किये जायें, यह क्या कहने का होता है ? देखिये इनके कुछ नमूने। "मैंने यह तप नहीं किया होता तो अच्छा होता.......मेरी तपश्चर्या की कोई इज्जत नहीं करता है....कब पारणा करूंगा ?....

तपश्चर्या करते हुए शरीर कमजोर हो जाता है तब कोई सेवा भक्ति न करे तो दुर्ध्यान हो जाता है। यह न होना चाहिए। आर्तध्यान से बचना चाहिए।

योगों की हानि नहीं होनी चाहिए। मन की दुर्ध्यान से, वचन की कषाय से और काया की प्रमाद से हानि होती है।

साधु जीवन के योग : प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, गुरु सेवा, ग्लान सेवा, शासन प्रभावना इत्यादि योगों में शिथिलता नहीं आनी चाहिए। ऐसा तप नहीं करना चाहिए कि इन योगों की आराधना में खलल पहुँचे। सुबह के प्रतिक्रमण में साधु को जो तप चिंतन का काउस्सग्ग करना होता है उसमें यह विचार करना पड़ता है कि "आज मेरे विशिष्ट कर्तव्यों में यह तप बाधक तो नहीं बनेगा न ? "मुझे आज उपवास है.... अट्ठम है....इसलिए मेरे से स्वाध्याय नहीं होगा, मेरे से बीमार की सेवा नहीं होगी....मैं पडिलेहण नहीं करूं.... ऐसा तप नहीं करना चाहिए।

इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होनी चाहिए। जिन इन्द्रियों से संयम की आराधना की जाती है वे इन्द्रियां क्षीण हो जायें

तो संयम की आराधना भी क्षीण हो जायेगी। नेत्र ज्योति चली जावे तो ? कान बहरे हो जायें तो ? शरीर को लकवा मार जाये तो ? साधु जीवन तो स्वावलम्वी जीवन है। अपने काम स्वयं करने पड़ते हैं। पाद विहार करना और गौचरी से जीवन निर्वाह करना होता है। अगर इन्द्रियों को क्षति पहुंचे तो साधु के आचार को भी क्षति पहुँचती है।

कर्तव्य और इन्द्रियों की सुरक्षा का लक्ष्य तपस्वी को नहीं चूकना चाहिए। मन को दुर्ध्यान से बचाना चाहिए। यह साव-धानी खास कर बाह्य तप की आराधना करने वाले के लिए है। अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश और संलीनता ये छः प्रकार के वाह्य तप करने वाले को ऊपर की तीन सावधानी रखनी आवश्यक है।

सावधानी के नाम पर प्रमाद का पोषण न हो इसकी भी सावधानी रखनी चाहिए।

मूलोत्तरगुण श्रेणि–प्राज्य साम्राज्य सिद्धये।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं तपः कुर्यान्महामुनिः ॥८॥ २४८

श्लोकार्थ

मूल गुण और उत्तर गुण की श्रेणी-रूप विशाल साम्राज्य की सिद्धि के लिए महामुनि वाह्य और अंतरंग तप करते हैं।

विवेचन

मुनीश्वर को साम्राज्य चाहिए।

राजेश्वर के साम्राज्य से विलक्षण विशाल और व्यापक। यह साम्राज्य मूल गुणों का एवं उत्तर गुणों का है।

मूल गुण हैं सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र । मूल गुण हैं पांच महाव्रत । प्राणातिपात विरमण महाव्रत, मृषावाद विरमण महाव्रत, अदत्तादान विरमण महाव्रत, मैथुन विरमण महाव्रत और परिग्रह विरमण महाव्रत ।

उत्तर गुण हैं पांच समिति और तीन गुप्ति । दस प्रकार का श्रमण धर्म और बारह प्रकार का तप, संक्षेप में कहें तो चरण सित्तरि और करण सित्तरि—यह मुनीश्वर का साम्राज्य है । इस साम्राज्य को सिद्धि के लिए मुनीश्वर तपश्चर्या करते हैं । बाह्य और आभ्यन्तर तप करते हैं ।

ये छट्ठ–अट्ठम–अट्ठाई मास खमण जैसे अनशन करते हैं । जब आहार करते हैं तो भूख से कम खाते हैं । जहां तक हो कम द्रव्य काम में लाते हैं । रस से भरपूर सामग्रियों का त्याग करते हैं । काया को कष्ट देते हैं अर्थात् उग्र विहार करते हैं । ग्रीष्म में मध्यान्ह में सूर्य के सामने दृष्टि लगाकर आतापना करते हैं । शीत काल में वस्त्रहीन बनकर कड़कड़ाती सर्दी में ध्यान करते हैं—ऐसे कष्ट सहन करते हैं । एक ही स्थान पर निश्चल बन कर घंटों बैठे रहते हैं । बिलकुल न हिलते हैं न डुलते हैं····मानो पाषाण की मूर्ति हो ।

छोटी या बड़ी कोई गलती हुई, संयम को अतिचार लगने से तुरन्त प्रायश्चित करते हैं । पंच परमेष्ठी भगवन्तों का···· ओंकार का ध्यान करते हैं । कोई गुरुजन हो, बालमुनि हो या ग्लानमुनि हो····उनकी सेवा वैयावच्च करने का अवसर नहीं खोते हैं । सब काम छोड़कर भी बीमार की सेवा में तत्पर रहते हैं । ग्लानमुनि की सेवा को परमात्मा की सेवा समझते हैं । विनय तो उनका प्राण है । आचार्य, उपाध्याय आदि का विनय

करते हैं। अतिथि का विनय करते हैं। इनका व्यवहार विनय से शोभता है। इनमें इतनी मृदुता होती है कि जिससे अभिमान उनको सता नहीं सकता है।

रात्रि में निद्रा त्याग कर मुनिराज कायोत्सर्ग करे। खड़े होकर एकाग्र मन से षड्द्रव्यों का चिंतन करे और दिन-रात के आठ प्रहर में से पांच प्रहर (२४ घंटों में १५ घंटे) स्वाध्याय करे। शास्त्रों को विनयपूर्वक गुरुजनों से पढ़े। इन पर विचार करते समय शंका पैदा हो उसका समाधान करावे। पढ़ा हुआ भूल न जाये इसके लिए वह वापिस दुहरावे। उनके ऊपर अनुप्रेक्षा-चिंतन करे, चिंतन से स्पष्ट और पुष्ट बने हुए पदार्थों का दूसरे प्राणियों को उपदेश देवे। उनका मन स्वाध्याय में लवलीन रहे।

ऐसे गुणों का विशाल साम्राज्य प्राप्त करने के लिए मुनीश्वर वाह्य-आभ्यन्तर १२ प्रकार के तप के आराधन में पुरुषार्थशील बनें। कर्मों के बंधनों को तोड़ने के लिए कटिबद्ध हुए महामुनि अपना जीवन तपश्चर्या के चरणों में रख देते हैं। तप के व्यापक स्वरूप की आराधना, यही उनका जीवन होता है।

उन्मत्त वृत्तियों का शमन करने के लिए और उत्कृष्ट वृत्तियों को जाग्रत करने के लिए तप, त्याग और तितिक्षा का ही श्रेष्ठ मार्ग है। आराधना उपासना का उत्कृष्ट मार्ग है।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

३२. सर्वनयाश्रय

कोई एक नयवाद को पकड़ कर जब एक विद्वान् प्रजा को धर्म समझाने का प्रयत्न करता है तब कैसा कोलाहल फैल जाता है ? क्या यह अनजाना है ? विश्व के तमाम क्षेत्रों में एकान्तवाद अभिशाप रूप ही सिद्ध हुआ है ।

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी ने अनेकान्त दृष्टि दी है । कोई भी व्यक्ति, वस्तु या प्रसंग को अनेकान्त दृष्टि से देखने की कला सीखनी है । इस कला को प्राप्त कर मन में तमाम प्रश्नों का समाधान किया जाये तो कैसी अपूर्व शान्ति मिले ?

यह अन्तिम प्रकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसका गम्भीरतापूर्वक परिशीलन करें ।

धावन्तोऽपि नयाः सर्वेस्युर्भावे कृतविश्रमाः ।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ।।१।। २४९

श्लोकार्थ

अपने-अपने अभिप्राय में दौड़ते हुए भी वस्तु स्वभाव में जिसने स्थिरता की है ऐसे वहुत से नय होते हैं। चारित्र गुण में आसक्त हुए साधु सर्व नयों के आश्रय करने वाले होते हैं।

विवेचन

नयवाद।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसमें कोई एक धर्म को ही नय मानता है। दूसरे धर्मों को स्वीकार नहीं करता है....अपलाप करता है। इसलिए नयवाद को मिथ्यावाद कहा गया है। यशोविजय जी उसे 'नयाभास' कहते हैं।

नय सात हैं: नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

हरएक नय का अपना अपना अभिप्राय होता है। एक का अभिप्राय दूसरे के अभिप्राय के साथ मिलान नहीं होता है। हरएक नय ने हरएक वस्तु के लिए अपना मन्तव्य बांध दिया है। ये सातों एक साथ मिलकर कोई सर्व सम्मत निर्णय नहीं कर सकती हैं। हां, कोई समदृष्टि चिंतक महापुरुष इन सातों का समन्वय कर सकते हैं। ये महापुरुष हरएक नय को उनकी उनकी भूमिकाओं से न्याय देते हैं।

ऐसे महापुरुष चारित्र गुण सम्पन्न महामुनि होते हैं। वे जब-जब कोई एक नय का मन्तव्य स्वीकार करते हैं तब-तब दूसरे नयों के मन्तव्यों की अवगणना नहीं करते हैं। उनको वे

कहते हैं : 'आपके मन्तव्यों को भी यथा समय स्वीकार करूंगा, इस समय इस नय के मन्तव्य की मुझे आवश्यकता है' यानी जड़ बुद्धि नहीं है, संघर्ष नहीं होता है। महामुनि की चारित्र-सम्पत्ति लुटती नहीं है....नहीं तो चिढ़ाये हुए नय का तूफान चारित्र-सम्पत्ति का नाश कर देता है।

पृथग्नयाः मिथः पक्षप्रति पक्ष कदर्थिताः ।
समवृत्ति सुखास्वादो ज्ञानी सर्वनयाश्रितः ॥२॥ २५०

श्लोकार्थ

अलग-अलग नय परस्पर वाद-प्रतिवाद से विडंवित है। समभाव सुख का अनुभव करने वाला महामुनि (ज्ञान) सर्व नयों के आश्रित होता है।

विवेचन

कलिकाल सर्वज्ञ ने परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा है—"परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव से अन्य प्रवाद द्वेष से भरे हुए है। परन्तु सर्व नयों को समान रूप से देखने वाला अपना सिद्धान्त पक्षपाती नहीं है।" वेदान्त कहता है : आत्मा नित्य ही है।

वौद्ध दर्शन कहता है : आत्मा अनित्य ही है।

ये हुए पक्ष और प्रतिपक्ष। दोनों परस्पर लड़ते हैं, वाग्युद्ध होता है और समय व शक्ति को नष्ट करता है। नहीं इसमें शान्ति या समता है, न इसमें मैत्री या प्रमोद है।

महामुनि वेदान्त और वौद्ध दोनों मान्यता को स्वीकार करके कहते हैं। आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य दृष्टि से नित्य है पर्याय दृष्टि से अनित्य है। द्रव्य दृष्टि से

वेदान्त दर्शन की मान्यता को बौद्ध दर्शन स्वीकार कर ले और पर्याय दृष्टि के बौद्ध दर्शन की मान्यता को वेदान्त दर्शन स्वीकार कर ले तो पक्ष प्रति पक्ष मिट जाये, संघर्ष टल जाये और परस्पर मैत्री स्थापित हो जाये।

ज्ञानी पुरुष इस तरह सर्व नयों का आदर करके सर्व के प्रति समभाव धारण कर सकते हैं और सुख का अनुभव करते हैं। कौन सा नय किस अपेक्षा से बात करता है, इस अपेक्षा को जानकर अगर सत्य का निर्णय किया जाये तो समभाव बना रहता है। सर्व नयों के दृष्टि बिन्दुओं का ज्ञान होना चाहिए। इसलिए तो कहा है कि "ज्ञानी सर्वनयाश्रितः।"

नाप्रमाणं प्रमाणं वा सर्वमप्यविशेषितम् ।
विशेषितं प्रमाणं स्यादिति सर्वनयज्ञता ॥३॥ २८१

श्लोकार्थ

सब वचन विशेष रहित हो तो वे एकान्त अप्रमाण नहीं हैं और प्रमाण भी नहीं है। विशेष सहित हो तो प्रमाण हैं। इस प्रकार सर्व नयों का ज्ञान होता है।

विवेचन

विशेष रहित अर्थात् निरपेक्ष।

विशेष सहित अर्थात् सापेक्ष।

कोई भी शास्त्र वचन""शास्त्र कथन से प्रामाणिकता का निर्णय करने की यह पद्धति है। सच्ची रीति है। विचारिये कि यह वचन अपेक्षा वाला है? अन्य नय की सापेक्षता से कहा गया है? तो सच्चा। अगर अन्य नयों की निरपेक्षता से कहा गया है तो यह झूठा है। अप्रमाण है।

उपदेश माला में कहा है :

"अपरिच्छियसुयनिहसस्स केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स
सव्वुज्जमेण वि कयं अन्नाणतवे बहु पडई ।।"

"जिसने श्रुत-सिद्धान्त का रहस्य जाना नहीं और केवल सूत्र के अक्षरों के अनुसार चलते हैं उनका सर्व पुरुषार्थ से किया हुआ क्रियानुष्ठान अत्यन्त अज्ञान तप में आता है।"

जो शास्त्र वचन अपने सम्मुख आते हैं वे वचन किस अपेक्षा से कहे गये हैं, यह रहस्य जानना ही पड़ेगा। अपेक्षा जाने विना निरपेक्षता से वचन को पकड़ना""अप्रमाण है""असत्य है।

सब नयों का ज्ञान कब कहा जाता है जबकि वचन की अपेक्षाओं का ज्ञान होता है। तब साधक आत्मा को अपूर्व समता का अनुभव होता है। ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

लोके सर्वनयज्ञानां ताटस्थ्यं वाऽप्यनुग्रहः ।
स्यात् पृथग्नयमूढानां स्मयार्तिर्वाऽतिविग्रहः ।।४।। २५२

श्लोकार्थ

संसार में सर्व नयों को जानने वाले में मध्यस्थता अर्थात् उपकार बुद्धि होती है। अलग-अलग नयों में ममत्व वाले में अभिमान की पीड़ा अथवा अत्यन्त क्लेश होता है।

विवेचन

मध्यस्थ दृष्टि। उपकार बुद्धि।

सर्व नयों की जानकारी के ये दो फल हैं। ज्यों-ज्यों नयों की अपेक्षा का ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों एकान्त दृष्टि डिगती जाती है। मध्यस्थ दृष्टि खुलती जाती है। यह किसी भी पक्ष

की तरफ झुकती नहीं हैं। किसी के मत का आग्रही नहीं बनता है। इनकी दृष्टि समन्वय की होती है।

हाँ, व्यवहार दशा में वह अपनी मध्यस्थ दृष्टि का परोपकार में उपयोग करता है। जहाँ एक नयवाद को पकड़ कर मतवाले वाद-विवाद के युद्ध में जूझ जाते हैं वहाँ यह मध्यस्थ दृष्टि महात्मा अपनी विवेक दृष्टि से उसको समझाने की कोशिश करता है।

अलग-अलग नयों में आग्रही बने हुए अभिमान से पीड़ित होते हैं। कितने ही अत्यन्त क्लेश से शोकाकुल होते हैं। यह उनके लिए स्वाभाविक ही है। इन्द्र भूति गौतम भगवान् महावीर के पास आये थे..............तब क्या था ? अभिमान का ज्वर। मन में क्लेश कितना था ? क्योंकि वे एक ही नय दृष्टि को पकड़ कर उसके आग्रही बने थे। भगवन्त ने उनको सर्वनय की दृष्टि प्रदान की। सर्वनयों का आश्रय लेने वाला कर दिया।

किसी एक ही मत............एक ही वाद............एक ही मन्तव्य पर मोहित न बन कर सर्वनयों का आश्रय का मध्यस्थ बनना चाहिए, यही सच्ची शान्ति का मार्ग है।

श्रेयः सर्वनयज्ञानां विपुलं धर्मवादतः।
शुष्कवादाद् विवादाच्च परेषां तु विपर्ययः ॥५॥ २५३

श्लोकार्थ

सर्वनय को जानने वाले को धर्मवाद से अत्यन्त कल्याण होता है। दूसरे एकान्त दृष्टियों को तो शुष्कवाद और विवाद से विपरीत (अकल्याण) होता है।

वाद नहीं चाहिए, विवाद नहीं चाहिए परन्तु संवाद चाहिए।

वाद-विवाद में अकल्याण है और संवाद में कल्याण है। ऐसा संवाद सिर्फ धर्मवाद में ही है।

तत्वज्ञान का इच्छुक मनुष्य धर्मवाद के लिए पूछता है। तत्व ज्ञान विषयक जिज्ञासा प्रकट करता है और तत्वज्ञ इन जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट करता है..............यह धर्मवाद है। सिर्फ अपना मत दूसरों पर थोपने के लिए शुष्क तर्क करे वह धर्मवाद नहीं है। सिर्फ विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए, दूसरों को पराजित करने के लिए तत्वों की चर्चा करे तो वह धर्मवाद नहीं है।

सर्वनयों का ज्ञाता महापुरुष ऐसा शुष्क वाद करेगा ही नहीं। वे तो मुमुक्षु ऐसे जिज्ञासु आत्माओं की शंका का समाधान करते हैं। इसमें ही कल्याण समाया हुआ है। इसमें ही शान्ति अनुभव करते हैं।

जिनभद्रसूरिजी ने जिज्ञासा से आये हुए हरिभद्र पुरोहित के साथ धर्मवाद किया था; तो हरिभद्र पुरोहित हरिभद्रसूरि बने और जिन शासन को एक महान आचार्य प्राप्त हुआ...... परन्तु बौद्धों के साथ जब हरिभद्र सूरि ने विवाद किया............ तब? उनके मन में कितना रोष और संताप था? याकिनी महत्तरा को गुरुदेव के पास दौड़ना पड़ा और गुरुदेव ने उनको विवाद से उबारा।

धर्मवाद के संवाद से ही कल्याण का पुनीत प्रवाह बहता है। इसलिए सर्वनयों का ज्ञान प्राप्त कर मध्यस्थ दृष्टि बना कर धर्मवाद में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्रकाशितं जनानां यैर्मतं सर्वनयाश्रितम् ।
चित्त परिणतं चेदं येषां तेभ्यो नमो नमः ॥६॥२५४

श्लोकार्थ

जिन पुरुषों ने सर्वनयों को आश्रित करके प्रवचन लोकों में प्रकाशित किया है और जिनके चित्त में जमा हुआ है उन्हें वारम्वार नमस्कार है ।

विवेचन

पूज्य उपाध्यायजी उन महापुरुषों पर न्योछावर हो जाते हैं जिन्होंने सर्वनयों को आश्रय करने वाला प्रवचन मनुष्यों के लिए प्रकाशित किया है और जिन पुण्यात्माओं ने इसको स्वीकार किया है, मन में धारण किया है और हृदय से प्रेम किया है । उनको वारम्वार नमस्कार करते हुए उपाध्यायजी गद्‌गद हो जाते हैं ।

उन त्रिभुवनपति श्रमण भगवान् महावीर को वारम्वार नमस्कार हो..............कि जिन्होंने ऐसा सर्वनयाश्रित प्रवचन प्रकाशित करके जीवों पर अनन्त उपकार किया है । उन सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रसूरि, मल्लवादी हरिभद्रसूरि.......... आदि महान् आचार्यों को पुनः पुनः नमस्कार हो जिन्होंने सर्वनयाश्रित धर्मशासन की मनुष्यों के लिए प्रभावना की है............और अपने मन में इस शासन को हृदयंगम करके अद्‌भुत दृष्टि प्राप्त की है ।

'भव भावना में' ऐसे महान् आचार्यों के इस दृष्टि से ही गुण गाये हैं ।

"भद्दं बहुसुयाणं बहुजण संदेह पुच्छाणिज्जाणं ।
उज्जोइअ भुवणाणं झिणंमि वि केवल मयंके ॥"

केवल ज्ञान रूप चन्द्र अस्त हो गये हैं, जिन्होंने जगत को प्रकाशित किया है। और अनेक मनुष्यों की शंकायें जिन से पूछ सकते हैं ऐसे बहुश्रुतों को धन्य है।"

बहुश्रुत सर्वनयज्ञ महापुरुषों के प्रति भक्ति............. बहुमान बताया गया है। उन्हें बारम्बार वन्दना की है। इनका सर्वोपरि महत्व गाया गया है।

निश्चय व्यवहारे च त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि ।
एकपाक्षिक विश्लेषमारूढाः शुद्धभूमिकाम् ॥७॥२५५
अमूढलक्ष्याः सर्वत्र पक्षपातविवर्जिताः ।
जयन्ति परमानन्दमयाः सर्वनयाश्रयाः ॥८॥२५६

श्लोकार्थ

निश्चय नय में, व्यवहार नय में, ज्ञान नय में और क्रिया नय में एक पक्ष में रहे हुए भ्रान्ति के स्थान को छोड़कर, शुद्ध भूमिका ऊपर चढ़े हुए लक्ष्य न चूके ऐसे सब पक्षपात रहित परमानन्द रूप सर्वनय के आश्रयभूत (ज्ञानी) की जय हो।

विवेचन

इन्हें किसी का भी पक्षपात नहीं होता है चाहे वह निश्चयनय का हो या व्यवहारनय का, न किसी का आग्रह होता है ज्ञाननय का हो या क्रियानय का।

निश्चयनय तात्विक अर्थ को स्वीकार करती है और व्यवहारनय लोकों में प्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार करती है। निश्चयनय सर्वनयों के अभिमत अर्थ का अनुसरण करती है

और व्यवहारनय कोई एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करती है।

सर्वनयों का आश्रय करने वाला ज्ञानी पुरुष इसमें से कोई एक नय में नहीं अटकेगा भ्रान्ति में नहीं फंसेगा। न तो यह निश्चय नय की मान्यता को पकड़ के रक्खेगा और न व्यवहार नय की मान्यता का आग्रही बनेगा। वह उन उन नय के तर्कों को सुनेगा पर उसमें ही नहीं अटकेगा।

मात्र ज्ञान की प्रधानता मानने वाला ज्ञान नय की दलीलों में नहीं फंसेगा और मात्र क्रिया की प्रधानता स्वीकार करने वाला क्रिया नय की बातां में आकर ज्ञान नय से तिरस्कार नहीं करेगा। दोनों नयों के प्रति उसकी दृष्टि मध्यस्थ रहती है। वह उन उन नय की मान्यता उनकी उनकी अपेक्षा से ही लेता है।

नयों के एकान्त आग्रह से ऊपर उठे हुए……… अलिप्त हुए ये महाज्ञानी आत्मा की परम विशुद्ध भूमिका पर आरूढ होते हैं, उनके अन्तिम लक्ष्य की तरफ एकाग्र होते हैं। उन्हें कोई पक्षपात नहीं, आग्रह नहीं है।

मानो साक्षात परमामन्द को मूर्ति हैं। उनके पावन दर्शन से परमानन्द की अनुभूति होती है। सर्व नयों का आश्रय करने वाले इन परमानन्दी आत्माओं की जय हो!

जिन परमानन्दी आत्माओं की जय अपन बोलते हैं उनके पद चिन्हों पर चलने के लिए अपन को दृढ निश्चयी होना चाहिए। एकांत आग्रह की लोहे की वेड़ियों को तोड़कर अनेकांत के स्वतंत्र प्रदेश में विचरण करने का सौभाग्य करना चाहिए।

पूर्णानंदी ही परमानंदी है। पूर्णानंदी वनने के लिए इतने सोपान चढिये तब परमानंदी वन जावेंगे। इस जीवन का लक्ष्य पूर्णानंदी वनने का वनाकर, दिशा वदलकर लक्ष्य की तरफ आगे वढना चालू रक्खें। विचारों में सर्वनय दृष्टि आजावे तो वस। परमानन्द अपने आत्म प्रदेश में फैल जायेंगे और रोग, शोक के आक्रंद धुल जायेंगे।

'ज्ञानसार के' ३२ अष्टकों के इस अंतिम श्लोक में एकांत दृष्टि का त्याग कर अनेकांत दृष्टि प्राप्त करने का उपदेश दिया है। किसी भी वादविवाद में पड़े विना संवादी धर्मवाद का आश्रय लेने को कहा गया है। परमानन्द का यह परमपथ है। पूर्णानंदी वनने के लिए यह अद्भुत उपाय है। आत्मा को परमशान्ति देने का यह एकमात्र मार्ग है।

परमानन्दी जयवंत हो।





विषयक्रम-निर्देश



पूर्णो मग्नः स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः ।
त्यागी क्रिया परस्तृप्तो निर्लेपो निःस्पृहो मुनिः ॥१॥
विद्याविवेक संपन्नो मध्यस्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसक स्तत्वदृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥२॥
ध्याताकर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः ।
लोकसंज्ञा विनिर्मुक्तः शास्त्रदृग् निष्परिग्रहः ॥३॥
शुद्धानुभववान् योगी नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसां भूमिः सर्वनयाश्रितः ॥४॥

श्लोकार्थ

ज्ञानादि से परिपूर्ण, ज्ञान में मग्न, योग की स्थिरता वाला, मोहरहित तत्वज्ञ, उपशमवंत, जितेन्द्रिय, त्यागी, क्रिया तत्पर, आत्मसंतुष्ट, निर्लेप, स्पृहारहित ऐसे मुनि होते हैं। (१)

विद्यासहित, विवेकसंपन्न, पक्षपातरहित, निर्भय, स्वयं की प्रशंसा नहीं करने वाले, परमार्थ में दृष्टिवाले और आत्मा की संपत्ति वाले ऐसे (मुनि होते) हैं। (२)

कर्म के फल का विचार करने वाले, संसार समुद्र से भयभीत, लोकसंज्ञा से रहित, शास्त्र दृष्टि वाले और परिग्रह रहित (मुनि होते) हैं। (३)

शुद्ध अनुभव वाले, योगी, मोक्ष को प्राप्त करने वाले, भावपूजा के आश्रयी, ध्यान के आश्रयी, तप के आश्रयी और सर्वनयों के आश्रयी ऐसे मुनि होते हैं। (४)

विवेचन

आठ-आठ श्लोक का एक अष्टक।
ऐसे बत्तीस अष्टक और बत्तीस विषय।

इन विषयों को क्रमानुसार गठित करना, गठित करने में संकलन है। गठित में साधना का मार्ग दर्शन है। इन चार श्लोकों में बत्तीस विषयों के नाम हैं। ग्रंथकार ने 'टबा' में हेतुपुरस्सर इनका क्रम समझाया है।

★पहला अष्टक है पूर्णता का।

लक्ष्य रहित प्रवृत्ति का कोई मूल्य नहीं है; कोई फल नहीं है। इसलिए पहले ही अष्टक में पूर्णता का लक्ष्य बताया है: आत्मा की पूर्णता का। यह लक्ष्य जीव, प्राणी का होता है, "मुझे आत्मगुणों की पूर्णता प्राप्त करनी ही है।" ऐसा संकल्प हो तो ही जीव ज्ञान में मग्न हो सकता है; इस लिए।

★दूसरा अष्टक है मग्नता का।

ज्ञान में मग्न। पर ब्रह्म में लीन। आत्मज्ञान में ही मग्नता। ऐसी स्थिति प्राप्त हो तब ही जीव की चंचलता दूर होती है और वह स्थिर बनता है। इसलिए मग्नता के बाद।

★तीसरा अष्टक है स्थिरता का।

मन–वचन–काया की स्थिरता। मन की स्थिरता प्राप्त करनी है। तो ही क्रियाओं का औषध काम करता है। स्थिरता का रत्न दीपक प्रगट करेंगे तो ही मोह–वासनाएँ कमजोर पड़ेंगी। इसलिए।

★चौथा अष्टक है अमोह का।

'अहं' और 'मम' ये दो मोहराजा के मंत्र हैं। इन दो मंत्रों में मोह का विष 'नाहं' 'न मम' के प्रतिपक्षी मंत्रों से उतारने का उपदेश दिया गया है। इस तरह मोह का विष उतरे तो ही ज्ञानी बन सकते हैं। इसलिए।

★पांचवां अष्टक है ज्ञान का।

ज्ञान की परिणति होनी चाहिए। ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होना चाहिए। ज्ञान का अमृत, ज्ञान का रसायन और ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहिए। तो ही शान्त बन सकते हैं, कषायों का शमन हो सकता है। इसलिए।

★छट्ठा अष्टक है शम का।

कोई विकल्प नहीं और आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलंबन। ऐसी आत्मा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकती है। इसलिए।

★सातवां अष्टक है इन्दिय-जय का।

विषयों के बन्धन से आत्मा को बाँधने वाली इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले महामुनि ही सच्चे त्यागी बन सकते हैं। इसलिए।

★आठवां अष्टक है त्याग का।

जब स्वजन-धन और इद्रियों के विषयों का त्यागी मुनि भयरहित और क्लेश रहित बनता है, अहंकार और ममत्व से मुक्त होता है; तब उनमें शास्त्र वचन अनुसरण करने की शक्ति प्रगट होती है, इसलिए।

★नौवाँ अष्टक क्रिया का है।

प्रीति पूर्वक क्रिया, भक्ति पूर्वक क्रिया, जिनाज्ञानुसार क्रिया और निःसंगतापूर्वक क्रिया करने वाला महात्मा परम तृप्ति का अनुभव करता है, इसलिए।

★दसवां अष्टक तृप्ति का है।

स्वगुणों में तृप्ति। शान्तिरस की तृप्ति। ध्यानामृत से तृप्त। 'भिक्षुरेकः सुखी लोके ज्ञान तृप्तो निरंजनः।' भिक्षुमुनि

ही ज्ञान तृप्त वन कर परम सुख अनुभव करते हैं। ऐसी आत्मा ही निर्लेप रह सकती है। इसलिए।

★ग्यारहवां अष्टक है निर्लेप का।

भले ही पूरा संसार पापों से-कर्मों से लिप्त रहता है परन्तु ज्ञानसिद्ध पुरुष इससे लिप्त नहीं रहता है। ऐसी ही आत्मा निःस्पृह वन सकती है; इसलिए।

★वारहवां अष्टक है निःस्पृहता का।

निःस्पृही आत्मा को यह संसार तृण समान है। उसे न कोई भय है और न कोई इच्छा है। फिर उन्हें कहना ही क्या? फिर उन्हें संकल्प विकल्प भी कैसे हो? ऐसी आत्मा ही मौन धारण कर सकती है, इसलिए।

★तेरहवां अष्टक मौन का है।

न वोलने लायक मौन तो एकेन्द्रिय भी पालन करते हैं। यह तो विचारों का मौन है। अशुभ·········अपवित्र विचारों का मौन पालन करना चाहिए। ऐसा मौन जो पालन कर सकता है वही आत्मा विद्या संपन्न हो सकती है, इसलिए।

★चौदहवां अष्टक है विद्या का।

अविद्या का त्याग और विद्या को स्वीकार करती हुई आत्मा ही आत्मा को हमेशा अविनाशी देखती है। ऐसी आत्मा विवेक संपन्न वन जाती है, इसलिए।

★पंद्रहवां अष्टक है विवेक का।

दूध और पानी की तरह मिले हुए कर्म और जीव को मुनिरूपी राजहंस भिन्न करते हैं। ऐसी भेदज्ञानी आत्मा ही मध्यस्थ बनती हैं, इसलिए।

★सोलहवां अष्टक है मध्यस्थता का।

कुतर्क का त्याग..........राग-द्वेष का त्याग किया और अंतरात्म भाव में रमणता आई यानी मध्यस्थ बन गये, ऐसी आत्मा निर्भय होती है। इसलिए।

★सत्रहवां अष्टक है निर्भयता का।

भय की भ्रान्ति नहीं। जो आत्मस्वभाव में अद्वैत में लीन बन गया हो वह निर्भयता के आनंद को अनुभव करता है। उसको स्वप्रशंसा रुचिकर नहीं लगती है, इसलिए।

★अट्ठारहवां अष्टक है आत्म प्रशंसा का।

गुणों से जो परिपूर्ण है यानी संतुष्ट है, उन्हें अपनी प्रशंसा करना रुचिकर नहीं लगता है, स्वप्रशंसा सुनने की भी उन्हें इच्छा नहीं होती है। ज्ञानानंद की मस्ती में, परपर्याय का उत्कर्ष क्या करना ? इनको तत्व दृष्टि मिलती है। इसलिए।

★उन्नीसवां अष्टक है तत्वदृष्टि का।

तत्वदृष्टि रूपी को नहीं देखता है, अरूपी को देखता है। अरूपी को देखकर उसमें मग्न होता है। ऐसी आत्मा सर्व समृद्धि को अपने स्वयं में ही देखता है, इसलिए।

★वीसवां अष्टक है सर्वसमृद्धि का।

इन्द्र, चक्रवर्ती, शेषनाग, महादेव, कृष्ण आदि की समृद्धि वैभव उन्हें अपनी आत्मा में दिखाई देती है। ऐसा आत्मदर्शन हमेशा बना रहे इसके लिए मुनि कर्मविपाक का चिंतन करे। इसलिए।

★इक्कीसवां अष्टक है कर्मविपाक का।

कर्मों के फल का विचार। शुभाशुभ कर्मों के उदय का

विचार करने वाली आत्मा स्वयं की आत्मसमृद्धि में संतुष्ट रहती है और संसार समुद्र से वे भयभीत होते हैं, इसलिए।

★बाईसवां अष्टक है, भवोद्वेग का।

संसार के वास्तविक स्वरूप को समझी हुई आत्मा चारित्र क्रिया में एकाग्रचित बने जिससे उन्हें लोकसंज्ञा स्पर्श न करे, इसलिए।

★तेईसवां अष्टक है लोक संज्ञा त्याग का।

लोकसंज्ञा की महानदी में मुनि वह न जावे यह तो उल्टे प्रवाह पर चलने वाला वीर होता है। लोकोत्तर मार्ग पर चलता हुआ वह मुनि शास्त्र दृष्टि वाला होता है, इसलिए।

★चौवीसवां अष्टक शास्त्र का है।

इनकी दृष्टि ही शास्त्र है। "आगम चक्खू साहू" साधु की आंखे शास्त्र ही होती हैं। ऐसा मुनि परिग्रही हो सकता है ? वह तो अपरिग्रही होता है, इसलिए।

★पच्चीसवां अष्टक है परिग्रह त्याग का।

वाह्य-अंतरंग के त्यागी महात्मा के चरण में देव भी नमन करते हैं, ऐसे मुनिवर ही शुद्ध का अनुभव कर सकते हैं, इसलिए।

★छब्वीसवां अष्टक है अनुभव का।

अतीन्द्रिय परमब्रह्म को पाने वाला अनुभव का अनुभवी महात्मा कैसा महान् योगी बन जाता है ? इसलिए।

★सत्ताईसवां अष्टक योग का है।

मोक्ष के साथ समन्वय करने वाले योग की आराधना करने वाले योगी स्थान वर्णादि योग और प्रीति भक्ति आदि

अनुष्ठानों में लीन योगी ज्ञान योग करने के लिए सुयोग्य बनता है। इसलिए।

★अट्ठाईसवां अष्टक नियाग का है।

ज्ञानयज्ञ में आसक्ति। सर्व उपाधि रहित शुद्धज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्म में ही सर्वस्व अर्पण करने वाला मुनि भाव-पूजा की भूमि स्पर्श करता है, इसलिए।

★उनतीसवां अष्टक है भाव पूजा का।

आतमदेव के नौ अंग ब्रह्मचर्य की नौ वाडों से पूजन करता हुआ मुनि अभेद–उपासना रूप भावपूजा में लीन होता है। ऐसी आत्मा ध्यान में लीन होती है, इसलिए।

★तीसवां अष्टक ध्यान का है।

ध्याता–ध्येय और ध्यान की एकता साधता हुआ महा-मुनि कभी भी दुःखी नहीं होता है। निर्मल अंतरात्मा में पर-मात्मा की छाया पड़ती है..........जिससे तीर्थंकर नाम कर्म बाँधता है..........और तप का मार्ग पकड़ता है। इसलिए।

★इकतीसवां अष्टक है तप का।

बाह्य और आभ्यंतर तप की आराधना से सब कर्मों के क्षयरूप मोक्षदशा की प्राप्ति होती है। उस ही की पूर्ण विशुद्धि होती है। ऐसा महात्मा परम प्रशम..........परम माध्यस्थ भाव को धारण करता है इसलिये।

★बत्तीसवां और आखिरी अष्टक है सर्वनयाश्रय का।

सर्वनयों को वह स्वीकार करता है। कोई पक्षपात नहीं ....परमानन्द से भरपूर ऐसी सर्वोत्कृष्ट आत्म-भूमिका प्राप्त कर वह कृतकृत्य बन जाता है।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का यह कैसा अपूर्व मार्ग है। बस, अब सिर्फ लक्ष्य चाहिए। अपना दृढ निर्णय चाहिए। आत्मा की यह सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने का पुरुषार्थ चाहिए। क्रमशः बत्तीस विषयों को हृदयंगम कर, इन पर चिंतन कर इस तरफ प्रयाण करना है।

*आत्म तत्व की श्रद्धा, आत्म तत्व की प्रीति और आत्म तत्व के उत्थान की तीव्र तमन्ना.........क्या सिद्धि नहीं कर सकते हैं? कायरता, अशक्ति और आलस्य को भगा दो और स्फूर्ति से सिद्धि के मार्ग में प्रस्थान करो इसके सिवाय दुःख क्लेश और संताप का अंत नहीं हो सकता है। जन्म-मरण का चक्कर रुके ऐसा संभव नहीं है। कर्मों की श्रृंखला टूटना संभव नहीं है।

यह मानव जीवन आत्म तत्व के उत्थान के लिए ही लगादो, जीवन का दूसरा कोई उपयोग करो ही नहीं।

---

*तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः।।

—मुण्डकोपनिषद्

उप संहार



स्पष्टं निष्टङ्कितं तत्त्वमष्टकैः प्रतिपन्नवान् ।
मुनिर्महोदयं ज्ञानसारं समधिगच्छति ॥१॥

श्लोकार्थ

अष्टकों से स्पष्ट निश्चित किये हुए तत्व को पाये हुए मुनि महान् अभ्युदय करने वाले ज्ञान के सारभूत चारित्र को प्राप्त करते हैं ।

विवेचन

इन ३२ तत्वों को प्राप्त किये हुए मुनि ऐसा विशुद्ध चारित्र प्राप्त करते हैं कि जिससे उनका महान् अभ्युदय होता है ।

ज्ञान का सार चारित्र है ।

"ज्ञानस्य फलं विरतिः" यह भगवान उमास्वाति का वचन है । यशोविजयजी महाराज कहते हैं, "ज्ञानस्य सारः चारित्रम्" ज्ञान का सार चारित्र है । इससे भी आगे बढ़ कर वे ज्ञान का सार मुक्ति बताते हैं । अर्थात् ज्ञान का सार चारित्र और चरित्र का सार मुक्ति है !

सामाइअमाइअं सुअनाणं जाव बिन्दुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं सारो चरणस्स निव्वाणं ॥

सामायिक से चौदहवें पूर्व 'बिन्दुसार' तक श्रुतज्ञान है । उनका सार चारित्र है और चारित्र का सार निर्वाण है ।

३२ अष्टकों को प्राप्त करने का अर्थ सिर्फ पढ़ना ही नहीं है परन्तु इन ३२ विषयों को आत्मसात करना है । मन-वचन-काव्या को इन ३२ विषयों से रंग देना चाहिए । ज्ञानसार चारित्र को अंगीकार करना है । चारित्रमय बन जाना है ।

निर्वाण के लक्ष्य को लेकर अगर इन ३२ विषयों का चिंतन मनन हो तो आत्मा की अपूर्व उन्नति हो सकती है । कर्मों के बन्धन से आत्मा मुक्त होती जाती है । आत्म सुख का अनुभव करने वाले बनते जावें । इस लक्ष्य से यशोविजयजी महाराज ने इन ३२ विषयों का संकलन कर तत्वनिर्णय किया है ।

निर्विकारं निराबाधं ज्ञानसारंमुपेयुषाम् ।
विनिवृत्तपराशानां मोक्षोऽत्रैव महात्मनाम् ।।२।।

श्लोकार्थ

विकाररहित, पीड़ारहित ज्ञानसार को प्राप्त करने वाले, पर की आशा से निवृत्त हुए महात्माओं को इस भव में ही मोक्ष है ।

विवेचन

ज्ञानसार !

कोई विचार नहीं, कोई पीड़ा नहीं । ऐसा ज्ञानसार जिन्हें मिल गया उन्हें क्या परपदार्थ की आशा हो सकती है ? क्या ये विकारी और कष्टदायक परपदार्थों की इच्छा करेंगे ?

ज्ञान के सारभूत चारित्र में निर्विकार स्थिति है । निराबाध अवस्था है । जिससे इस महात्मा को कर्मबन्ध न हो । कर्मों का बन्धन विकारों से होता है । परपदार्थों की स्पृहा में से जन्मे हुए विकार कर्मबन्धन कराते हैं ।

चारित्रवान आत्मा के कर्मबन्ध नहीं होते हैं, यही मोक्ष है । पूर्वकृत कर्मों का उदय होता है परन्तु नये कर्मों का बन्धन नहीं होता है । कर्मों के उदय के समय ज्ञानसार होने से नये

कर्म नहीं बंधने देते हैं। नये कर्मबन्धन न हो यही मोक्ष है।

परपदार्थों की स्पृहा में से जन्मे हुए विकार और इन विकारों से जन्मी हुई पीडायें जिन महात्मा को स्पर्श न करे उन महात्मा को यहां ही मोक्ष सुख का अनुभव होता है। अर्थात् पर आशाओं से निवृत होना यह मोक्ष के लिए अनिवार्य शर्त है। आत्मा के सिवाय सब पर हैं।

"अन्योऽहं स्वजनात् परिजनात् विभवात् शरीरकाच्चेति।
यस्य नियता मतिरियं न बाधते तस्य शोककलिः॥"

इस अन्यत्व भावना को दृढ़ करने वाला महात्मा निर्विकार, निराबाध चारित्र का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्त करता है।

चित्तमार्द्रीकृतं ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभिः।
नाप्नोति तीव्रमोहाग्निप्लोषशोषकदर्थनाम् ॥३॥

श्लोकार्थ

ज्ञान सार रूप सरस्वती की तरंगों से कोमल हुआ मन मोहरूपी तेज अग्नि के दाह के दुःख से दुःखी नहीं होता है।

विवेचन

ज्ञानसार की पवित्र सरिता सरस्वती है।

सरस्वती के पवित्रजल में निष्प्राण अस्थि एवं भस्मि प्रवाह करने से सद्गति नहीं होती है; स्वर्ग नहीं मिलता है। इस सरस्वती के निर्मल प्रवाह में अपना मन प्रवाहित करना है। ज्ञानसार की सरस्वती में बार बार मन को डुबकी लगवाओ और कोमल बनने दो, इन्हें सरस्वती की तरंगों की फुहारों से सरोबार होने दो।

फिर कितना ही मोह दावानल सुलगता रहे, भले ही मन को इनकी अग्नि की झुलस हो परन्तु मन को कोई दर्द नहीं होगा। अरे; भीगा..........पानी से भीगे हुए कपड़े को आग जला सकती है? तो फिर सरस्वती की तरंगों से भीगे हुए मन को मोह अग्नि जला सकती है क्या?

यह ज्ञानसार ग्रन्थ पवित्र सरस्वती है। ज्ञानसार की पवित्र वाणी से मन को भीगा ही रखना चाहिए। मोह-वासनाओं की आग मन को जला नहीं सकती है।

मोह..........दावानल से वचने के लिए निरंतर 'ज्ञान सार' की वाणी का पान करने के लिए उपाध्यायजी महाराज उपदेश देते हैं। सर्व दुःख, सर्व वेदनायें और सर्व अशान्ति का मूल मोह ही है। मोह के असर से मन मुक्त हुआ कि दुःख–अशान्ति या वेदना नहीं रहेगी।

अचिन्त्या काऽपि साधूनां ज्ञानसार गरिष्ठता।
गतिर्ययोर्ध्वमेव स्याद् अधः पातः कदापि न ॥४॥

श्लोकार्थ

मुनियों को ज्ञानसार का भार कुछ समझ में नहीं आये ऐसा है। जिस भार से ऊँच गति ही होती है। कभी भी नीचे नहीं गिरते हैं।

विवेचन

हाँ, 'ज्ञानसार' यह वजन है। न समझ सकने लायक वजन। इस वजन को उठाने वाला वजनदार हो जाता है। ज्ञानसार के भार से–वज़न से वजनदार बना हुआ मुनि जब नीचे गिरने की बजाये ऊर्ध्वगति करता है तब आश्चर्य होता है।

'वजन से मानव ऊँच गति प्राप्त करता है !' ज्ञानसार का वजन ऐसा समझने लायक है, अचिन्त्य है! उपाध्यायजी महाराज ने सरल भाषा में ज्ञानसार के प्रभाव का कैसा सरल वर्णन किया है ।

'ज्ञानसार से वजनी वनो । ज्ञानसार का वजन वढ़ाओ । आपकी ऊर्ध्वगति ही होगी । अधःपतन कभी भी नहीं होगा । यह उपदेश ग्रन्थकार ने लाक्षणिक शैली में दिया है । वे दृढता पूर्वक विश्वास दिलाते हैं कि ज्ञानसार को प्राप्त करने वाले महात्मा की उन्नति ही होती है, अधःपतन होगा ही नहीं । ज्ञानसार को प्राप्त कर आप निर्भय वनें, दुर्गति का भय छोड़ देवें, पतन का भय छोडदें । ज्ञानसार के अचिन्त्य प्रभाव से आप उन्नति के पथ पर आगे ही वढ़ते जावेंगे ।

"भारी वस्तु नीचे जावेगी, ऊँची नहीं जायेगी ।" यह प्रकृति का नियम है । इस नियम का यहां विरोधाभास है । "भारी होते हुए भी ऊँचे जाती है !" ज्ञानसार के भार से–वजन से भारी हुआ मुनि सद्गति का, मोक्ष का अधिकारी होता है ।

क्लेशक्षयो हि मण्डूक चूर्णतुल्य क्रियाकृतः ।
दग्धतच्चूर्ण सदृशो ज्ञानसार कृतः पुनः ।।५।।

श्लोकार्थ

क्रिया से किया हुआ दुःखों का नाश मेंढक के शरीर के चूर्ण के समान है ।

विवेचन

मेंढक के शरीर का चूर्ण वन गया हो परन्तु ज्यों ही

उस पर वर्षा की बून्दें पड़ती हैं तो उनसे नये मेंढक पैदा हो जाते हैं। इसी तरह क्रियाओं से..........धर्म क्रियाओं से जो क्लेश एवं अशुभकर्मों का नाश होता है वे कम निमित्त मिलते हो पुनः पैदा हो जाते हैं।

मेंढक के शरीर का चूर्ण जला दिया जावे फिर इन पर वर्षा की झड़ी भी लगे तो भी मेंढक उत्पन्न नहीं होंगे। इसी तरह ज्ञान से जले हुए कर्म वापिस अंकुरित नहीं होते हैं; भुगतने नहीं पड़ते हैं।

इसका अर्थ यह है कि ज्ञान के माध्यम से कर्मों का क्षय करे। शुद्ध क्षयोपशमभाव से कर्मों का क्षय करे। वापिस ये कर्मबंधन न हो। ज्ञानसार की यह महत्ता है। ज्ञानसार से किया हुआ कर्मक्षय ही सचमुच सार्थक है।

मात्र क्रियाओं द्वारा ही कर्मक्षय मानने वालों को इस बात का सोचना जरूरी है। भले ही वे अशुभ कर्मों का नाश करते हों परन्तु आश्रव की वर्षा होते ही पुनः अशुभ कर्मबन्धन होंगे ही। इसलिए ज्ञान के माध्यम से कर्मक्षय करें। ये कर्म पुनः पुनः भोगने नहीं पड़ेंगे।

आप अपने ज्ञानानन्द में मस्त रहें। ज्ञान मग्न रहें.......
कर्मों का क्षय होता ही रहेगा। आप को चिंता नहीं करनी है कि "मेरा कर्मक्षय हो गया है या कर्मक्षय होने बाकी हैं? निश्चिन्त और निर्भय बनकर ज्ञानानंद में लीन रहें।

ज्ञानपूतां परेऽप्याहुः क्रियां हेमघटोपमाम्।
युक्तं तदपि तद्भावं न यद् भग्नाऽपि सोज्झति ॥६॥

श्लोकार्थ

दूसरे मत भी ज्ञान की पवित्र क्रिया को स्वर्ण के घड़े के समान कहते हैं क्योंकि वह टूटी हुई क्रिया, क्रिया की भावना को त्यागती नहीं है (स्वर्ण घट टूट जावे तो भी सोने की कीमत तो रहती ही है।

विवेचन

सोने का घड़ा हो,

मानलो यह घड़ा टूट गया, तो भी सोना तो रहेगा ही। सोना कहीं पर भी नहीं जावेगा। ऐसे स्वर्ण घट की उपमा के माध्यम से ग्रंथकार ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्व समझाते हैं।

ज्ञान युक्त क्रिया सोने का घड़ा है। मानलो क्रिया टूट गई तो भी स्वर्ण के समान ज्ञान तो रहेगा ही। ज्ञान युक्त क्रिया से जिन कर्मों का क्षय किया वे पुनः बंधते नहीं हैं।

ऐसे स्वर्ण घट के समान ज्ञान युक्त क्रिया का महत्व बौद्ध दर्शन आदि भी स्वीकार करते हैं। ज्ञान हीन क्रिया करने का विधान कोई भी दर्शन नहीं करता है। ज्ञान रहित........भाव विहीन क्रिया से क्या लाभ ?

जिन जिन क्रियाओं के अनुरूप भाव होना चाहिए। भाव से क्रिया प्राणवान बनती है, मूल्यवान बनती है। ज्ञान रहित क्रिया मिट्टी के घड़े के समान है। घड़ा फूटने के वाद कोई काम नहीं आ सकता है। इसलिए अपनी धर्म क्रियाओं को ज्ञानयुक्त बनावें, भाव भीनी बनावें। 'कर्म क्षय' करने के लक्ष्य से हर एक धर्म क्रिया करें।

क्रियाशून्यं च यज्झानं ज्ञानशून्या च या क्रिया।
अनयोरंतरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥७॥

श्लोकार्थ

जो ज्ञान क्रिया रहित है और ज्ञान रहित जो क्रिया है, इन दोनों का अन्तर सूर्य एवं जुगनू के समान है।

विवेचन

क्रिया रहित ज्ञान सूर्य समान है और ज्ञान रहित क्रिया जुगनू के समान है। सूर्य से जुगनू के प्रकाश की क्या तुलना ? लाखों करोड़ों जुगनू एकत्रित करें तो भी सूर्य के प्रकाश की समानता नहीं कर सकते हैं। इसी तरह ज्ञान विना कितनी भी क्रिया की जावे तो भी सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञान की तुलना में नहीं तुल सकती है।

भले ही क्रिया रहित ज्ञान है; अर्थात् ज्ञान के अनुसार इनके जीवन में क्रिया नहीं है तो भी इनका प्रकाश तो इनको ही रहने वाला है। भले ही सूर्य वादलों से घिरा हुआ हो तो भी इसके प्रकाश से संसार का व्यवहार चलता है जब कि क्षीण अग्नि के प्रकाश में क्या आप कोई कार्य कर सकते हैं ?

हां, क्रियारहित ज्ञान का अर्थ यह न करें कि क्रिया निरपेक्ष ज्ञान ! क्रियाओं की अवहेलना या तिरस्कार नहीं, परन्तु क्रियाओं की उपादेयता स्वीकार करने वाला ज्ञान। ज्ञान युक्त क्रिया करते करते क्रिया छूट गई हो और क्रिया का भाव टिका हुआ हो ऐसा ज्ञान।

ज्ञान विना क्रिया के जुगनू वनकर संतोष मानने वाले और आजीवन ज्ञान की उपेक्षा करने वाले ग्रंथकार के इन वचनों का मनन करें और ज्ञानोपासक बनें। ज्ञान सूर्य बनें।

चारित्र विरतिः पूर्णा ज्ञानस्योत्कर्ष एव ही।
ज्ञानाद्वैतनयेदृष्टि र्देया तद् योग सिद्धये ॥८॥

श्लोकार्थ

संपूर्ण विरतिरूप चारित्र सचमुच ज्ञान का अतिशय ही है इसीलिए योग की सिद्धि के लिए मात्र ज्ञाननय में दृष्टि केन्द्रित करनी लायक है।

विवेचन

ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था चारित्र है। ज्ञान में लीनता, चारित्र है।

पूर्ण विरति रूप चारित्र क्या है ? ज्ञान का ही विशिष्ट अतिशय है। ज्ञानाद्वैत में दृष्टि स्थापित करें। ज्ञानाद्वैत में ही लीन हो जावें, यदि आपको योग सिद्धि करनी है तो। अगर आत्मा का परम विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करना है तो।

ज्ञान और क्रिया के द्वैत का त्याग करो। द्वैत में विडंबना है, अशान्ति है। अद्वैत में आनन्द एवं शान्ति है। ज्ञानाद्वैत अर्थात् आत्मा द्वैत। आत्मा के अद्वैत में दृष्टि केन्द्रित करें। इसके सिवाय दृष्टि कहीं पर भी न जावे।

ज्ञानसार का उपसंहार करते हुए भगवान यशोविजयजी ज्ञानाद्वैत का शिखर फतह करते हैं। ज्ञान–क्रिया के द्वैत से बाहर निकलने के लिए जोर देकर विधान करते हैं। ज्ञान की उत्कृष्ट परिणति ही पूर्ण चारित्र है। इस चारित्र के पीछे भागता हुआ जीव ज्ञानाद्वैत में लीन हो तो ही वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

निश्चयनय का यह दिव्य प्रकाश देने वाले उपाध्यायजी महाराज ने ज्ञान में ही साध्य–साधन और सिद्धि बताकर ज्ञानमय बनने के लिए कहा है। क्रिया मार्ग की जड़ता को झाड़ कर ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी है।

ज्ञानाद्वैत में लीनता हो।

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दर पुरस्पर्धावहे लब्धवाँ—
श्चिद्दीपोयमुदारसार महसा दीपोत्सवे पर्वणि।
एतद् भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां
तैस्तैर्दीपशतैः सुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः॥

श्लोकार्थ

श्रेष्ठ और सारभूत तेज सहित यह ज्ञान दीपक इन्द्र के नगर से स्पर्धा करने वाले सिद्धपुर में दीवाली के पर्व में समाप्त हुआ है। यह ग्रन्थ, भावना के रहस्य से पवित्र हुए मन में हुए चमत्कार वाले जीवों को, वे वे अच्छे निश्चय मत रूप सैकडों दीपावली के समान हमेशा दीवाली का उत्सव हो।

विवेचन

यह 'ज्ञानसार' का दीपक दीपावली के महापर्व में पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ है। सिद्धपुर में ग्रंथकार चातुर्मास काल में विराजमान थे तब यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

ज्ञान दीपक का प्रकाश श्रेष्ठ है। सब प्रकाशों में यह प्रकाश सारभूत है। जो मानव इस ग्रन्थ का अध्ययन, परिशीलन करे उसे रहस्यमय ज्ञान प्राप्त होता है। रहस्य से मन पवित्र होता है और आश्चर्य से चमत्कृत होता है। ऐसे जीवों को ग्रन्थकार कहते हैं:

हे मानवो! आप हमेशा निश्चयनय के सैकडों दीपक जलावो और हमेशा दीवाली का महोत्सव मनावो।

इस ग्रन्थ के चिंतन से संसार के जीव हमेशा आत्मज्ञान के दीपक प्रगट कर आनन्द का अनुभव करें, ऐसी ग्रन्थकार

भावना व्यक्त करते हैं। साथ ही साथ इस ग्रन्थ के चिंतन मनन से मन पवित्र वनेगा और प्रसन्नता अनुभव करेंगे ऐसा पूर्ण विश्वास देते हैं।

निश्चय नय से आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न-शील वनने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा—
वेगोदर्ककुतर्क मूर्च्छित मथान्येषां कुवैराग्यतः।
लग्नालर्कमबाधकूपपतितं चास्ते परेषामपि
स्तोकानां तु विकारभाररहितं तज्ज्ञानसाराश्रितम् ॥

श्लोकार्थ

अहो ! कितने ही लोगों का मन विषय रूप ज्वर से पीड़ित है, उनका मन विष के समान तीव्र असर कारक ऐसे कुतर्क से मूर्च्छित है, कईयों का मन गलत वैराग्य के पागल पन की तरह है, दूसरों का मन भी अज्ञानरूपी कुवें में पड़ा हुआ है परन्तु कुछ लोगों का मन विकार के भार से रहित है वे ज्ञानसार से आश्रित हैं।

विवेचन

संसार में भिन्न भिन्न वृत्ति वाले जीव रहते हैं। जीवों के मन अलग अलग तरह से वासनाओं से घिरे हुए हैं। इनका स्वरूप दर्शन यहां ग्रन्थकार कराते हैं और इनमें ज्ञानसार से रंगे हुए मन कितने होते हैं, यह वताते हैं।

★ कईयों के मन शब्द आदि विषयों की स्पृहा और उपभोग से पीड़ित हैं।

★ कई मानव कुतर्क के सर्पों से काटे हुए हैं। कुतर्क विषधर के तीव्र जहर से मूर्च्छित हो गये हैं।

★ कई स्वयं को वैरागी कहते हैं परन्तु यह भी एक तरह का पागलपन है। इनकी स्थिति पागल कुत्ते के समान है।

★ कई मोह अज्ञान के गहरे कुवें में पड़े हुए हैं, इनकी दृष्टि कुवें के बाहर कैसे पड़ सकती है।

★ हां, कुछ जीव इस संसार में ऐसे हैं जिनके मन विकार के भार से दबे हुए नहीं है। "ज्ञानसार" का आश्रय ऐसे जीव ही लेते हैं और ले सकते हैं।

जातोद्रेक विवेक तोरणततौ धावल्य मातन्वति
हृद्गेहे समयोचितः प्रसरति स्फीतश्च गीतध्वनिः।
पूर्णानन्दघनस्य किं सहजया तद्भाग्य भङ्गयाऽभव-
न्नैतद् ग्रन्थमिषात् कर ग्रहमहश्चित्रं चरित्र श्रियः॥

श्लोकार्थ

जहां अधिकतर विवेक रूपी तोरण की माला बांधी हैं और उज्ज्वलता को बढ़ाने वाले हृदय रूप घर में समय के योग्य गीत की ध्वनि प्रसारित होती है, पूर्ण आनन्द से भरपूर आत्मा का, स्वाभाविक उसके भाग्य की रचना से इस ग्रन्थ रचना के बहाने से चारित्र रूपी लक्ष्मी के साथ आश्चर्य करने वाले पाणिग्रहण का महोत्सव क्या नहीं हुआ है ?

विवेचन

पूर्णानन्दी आत्मा का चारित्र-लक्ष्मी से लग्न आपने देखा है ? ग्रन्थकार लग्नोत्सव बताते हैं, देखिये :-

ये जगह जगह बंधे हुए तोरण देखो। ये विवेक के तोरण हैं। यह लग्न का मण्डप देखा ? यह हृदय का मण्डप है। प्रकाश से उज्ज्वल है। इसमें आपको लग्नोत्सव के गीतों की ध्वनि

सुनाई देती हैं क्या ? इसमें ३२ गीत गाये हैं, और आतमराम कैसे आनन्द से भरपूर दिखाये गये हैं ?

यह 'ज्ञानसार' ग्रन्थ की रचना का तो बहाना मात्र है। इसके माध्यम से चारित्र रूपी लक्ष्मी के संग पूर्णानन्दी आत्मा ने लग्न महोत्सव आयोजित किया है। कितना इनका अहो भाग्य है।

ग्रंथकार पूज्य उपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि "इस ग्रन्थरचना के महोत्सव में मैंने चारित्र रूपी लक्ष्मी के साथ लग्न किया है।"

महोत्सव, सचमुच आश्चर्य चकित करने वाला है।

भावस्तोम पवित्र गोमयरसैः लिप्तैव भूः सर्वतः
संसिक्ता समतोदकैरथ पथिन्यस्ता विवेकस्रजः।
अध्यात्मामृतपूर्णकामकलशश्चक्रेऽत्र शास्त्रे पुरः
पूर्णानन्दघने पुरं प्रविशति स्वीयं कृतं मंगलम् ।।

श्लोकार्थ

इस शास्त्र में भावना के समूह रूप गोबर से भूमि लीपी हुई है। चौतरफ समभाव रूप पानी से छिडकाव हुआ है, मार्ग में विवेक रूप पुष्पों की मालायें रखी हैं, आगे अध्यात्म रूप अमृत से भरा हुआ काम कुंभ रखा है, ऐसे पूर्णानन्द से भरपूर आत्मा नगर में प्रवेश करती है तब स्वयं का मंगल हुआ है।

विवेचन

इस "ज्ञानसार" नगर में जिस पूर्णानन्दी आत्मा ने प्रवेश किया, उनका कल्याण हो गया।

इस नगर की भूमि पवित्र भावों के कंडो से लिपी हुई है। सर्वत्र समभाव का पानी छांटा हुआ है। इस नगर के विशाल राज मार्ग पर जगह जगह विवेक पुष्पों की मालायें लटकाई गई हैं। मुख्य स्थानों पर अध्यात्म के अमृत से भरे हुए काम कुंभ रक्खे हुए हैं।

यह नगर कितना भव्य और रमणीक है। ऐसे नगर में सव जीव प्रवेश नहीं कर सकते हैं। वहुत थोड़े लोग ही इस नगर में प्रवेश कर सकते हैं, अगर इसमें अपना प्रवेश हो गया हो तो 'सर्व मंगलमांगल्यम्' हो जाये।

पूर्णानन्दी आत्मा ही इस नगर में प्रवेश कर सकती है। पूर्णता के आनन्द के लिए तड़पता जीव ही ऐसे नगर की खोज करता है। ग्रन्थकार अपन को 'ज्ञानसार' का नगर वताते हैं। इसमें प्रवेश करके कृत–कृत्य वनिए।

गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः
प्रौढि प्रौढिमधाम्नि जीत विजय प्राज्ञाः परामैयरूः।
तन्सातीर्थ्य भृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानाँ शिशोः
श्री मन्नयामविशारदस्य कृति नामेषा कृतिः प्रीतये॥

श्लोकार्थ

सद्गुरु श्री विजयदेव सूरि के गुणों के समूह से पवित्र महान् गच्छ में जीत विजय नामक पंडित अत्यन्त महत्वशाली हुए हैं। उनके गुरूभाई नय विजय पंडित के शिष्य श्रीमद् न्याय-विशारद (यशो विजयजी उपाध्याय) को यह कृति महा-भाग्यवंत पुरुषों की प्रीति पात्र हो।

विवेचन

ग्रंथकार स्वयं की गुरू परंपरा का वर्णन करते हैं।

श्री विजय देव सूरि का गच्छ..........गुणों से पवित्र और विशाल है। उस गच्छ में श्री जीत विजयजी नामक महान विद्वान महात्मा हुए हैं। उनके गुरूभाई श्री नय विजयजी थे।

ये श्री नय विजयजी ग्रंथकार–उपाध्याय श्री यशोविजयजी के गुरूदेव थे।

ग्रंथकार ने अपना नाम निर्देश न करके स्वयं को काशी में प्राप्त हुई न्याय-विशारद की उपाधि का उल्लेख किया है।

आपने अपनी इस रचना के लिए आशा व्यक्त करते हुए कहा है कि :

"यह कृति महाभाग्यशाली पुरुषों की प्रेम पात्र हो।" इस 'ज्ञानसार' के अध्ययन, चिंतन मनन से प्रीति और आनन्द प्राप्त करने वाली आत्मायें महान् भाग्यवंत हैं।

'ज्ञानसार' से ज्ञानानन्द प्राप्त करने का सब जीवों को सौभाग्य प्राप्त हो।



ॐ ह्रीं अर्हं नमः

परिशिष्ट
(ज्ञानसार)

१. उपसर्ग–परिसह
२. पांच शरीर
३. वीस स्थानक तप
४. उपशम श्रेणी
५. चौदह पूर्व
६. पुद्गलपरावर्तकाल
७. कारणवाद
८. चौदह राजलोक
९. यति धर्म
१०. समाचारी
११. गोचरी: ४२ दोष
१२. चार निक्षेप
१३. चार अनुयोग
१४. ब्रह्म अध्ययन
१५. ४५ आगम

१ : उपसर्ग—परिसह

उपसर्ग का अर्थ है कष्ट, आपत्ति।

जव श्रमण भगवान महावीर देव ने संसार त्याग किया था तव इन्द्र ने प्रभु से प्रार्थना की थी :

"प्रभो ! तवोपसर्गाः भूयांसः सन्ति ततो द्वादशवर्षो यावत् वैयावृत्यनिमित्तं तवान्तिके तिष्ठामि।"

'हे प्रभो ! आपको अनेक उपसर्ग हैं इसलिए वारह वर्ष तक मैं वैयावच्च (सेवा) के लिए आपके पास रहता हूं।"

★ भगवान को उपसर्ग आये अर्थात् कष्ट हुए। ये उपसर्ग तीन वर्गों से आते हैं। १. देव २. मनुष्य ३. तिर्यंच। इन तीन तरफ से दो प्रकार के उपसर्ग होते हैं: १. अनुकूल २. प्रतिकूल

(१) भोग-संभोग की प्रार्थना आदि अनुकूल उपसर्ग हैं।

(२) मारना, लूटना, तंग करना आदि प्रतिकूल उपसर्ग हैं।

शास्त्रीय भाषा में अनुकूल उपसर्ग को "अनुलोम उपसर्ग" कहते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग को 'पडिलोम उपसर्ग' कहते हैं।

जिनको अन्तरंग शत्रु काम-क्रोध-लोभ आदि पर विजय प्राप्त करने की साधना करनी हो उन्हें ये उपसर्ग समता भाव से

★ जे केइ उपसग्गा उप्पज्जंति तं जहादिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्ख-जोणिया वा, अणुलोमा वा पडिलोमा वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहइ, खमइ, तितिक्खइ, अहियासेइ।

—कल्पसूत्रः सूत्र ११८

सहन करने चाहिए। भगवान महावीर ऐसे उपसर्ग सहकर ही वीतराग–सर्वज्ञ बने थे।

परिसह :

मोक्ष मार्ग में स्थिर होना और कर्म निर्जरा के लिए सम्यक् सहन करने को परिसह कहते हैं। परन्तु यह परिसह जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों में से उत्पन्न हुए कष्ट होते हैं। परिसह में कोई देव, मनुष्य या तिर्यञ्च के अनुकूल प्रतिकूल हमले नहीं होते हैं। परिसह का उद्भव स्थान मनुष्यों के स्वयं का मन होता है। बाह्य निमित्तों को प्राप्त कर मन में उठता हुआ क्षोभ है। ये परिसह २२ प्रकार के हैं 'नवतत्व प्रकरण' आदि ग्रन्थों में इनका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

(१) क्षुधा : भूख लगना।
(२) पिपासा : प्यास लगना।
(३) शीत : सरदी लगना।
(४) ऊष्ण : गरमी लगना।
(५) दंश : मच्छरों आदि की तकलीफ।
(६) अचेल : जीर्ण वस्त्र पहनने।
(७) अरति : संयम में अरुचि।
(८) स्त्री : स्त्री को देख कर विकार होना।
(९) चर्या : उग्र विहार।
(१०) नैषेधिकी : एकान्त स्थान में रहना।
(११) शय्य : ऊंची नीची खड्डे वाली जमीन पर रहना।
(१२) आक्रोश : दूसरों का क्रोध या तिरस्कार होना।
(१३) वध : प्रहार होना।
(१४) याचना : भिक्षा मांगना।

(१५) अलाभ : इच्छित वस्तु नहीं मिलना ।
(१६) रोग : रोग की पीड़ा होना ।
(१७) तृण स्पर्श : संथारे पर बिछाये हुए घास का स्पर्श ।
(१८) मल : शरीर पर मैल (कचरा) जमना ।
(१९) सत्कार : मान सम्मान मिलना ।
(२०) प्रज्ञा : बुद्धि का गर्व ।
(२१) अज्ञान : ज्ञान प्राप्त नहीं होना ।
(२२) सम्यक्त्व : जिनोक्त तत्त्व में संदेह करना ।

★ इन परिसहों में विचलित नहीं होना । सम्यक् भाव से सहन करना । साधू जीवन में आते हुए इन विघ्नों को समता भाव से सहन करना चाहिए । इससे मोक्ष मार्ग में स्थिर रहा जाता है और कर्मों की निर्जरा होती है ।

२. पांच शरीर

इस विश्व में जीवों का शरीर सिर्फ एक तरह का ही नहीं है । चारगतिमय इस विश्व में पांच प्रकार के शरीर होते हैं । ये पांच भेद शरीर के आकार के माध्यम से नहीं हैं परन्तु शरीर जिन पुद्गलों से बनता है इन पुद्गलों के वर्ण के माध्यम से है ।

यहाँ शरीर के अंगों का विवेचन 'विचारपञ्चाशिका' नामक ग्रंथ के आधार से किया गया है ।

★ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिसहाः ॥८॥
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ।

—तत्वार्थसूत्र : अध्याय ९

शरीर के नाम

(१) औदारिक

(२) वैक्रिय

(३) आहारक

(४) तैजस

(५) कार्मण

शरीर की वनावट

पाँच प्रकार के द्रव्यों में एक द्रव्य है पुद्गलास्तिकाय। यह पुद्गल चौदह राजलोक में व्याप्त है। इनके २६ वर्गणायें (विभाग) है। इसमें जीवनोपयोगी केवल ८ वर्गणायें है। इसमें जो "औदारिक वर्गणा" है, उससे औदारिक शरीर वनता है। ''वैक्रिय वर्गणा' के पुद्गलों से वैक्रिय शरीर वनता है। 'आहारक वर्गणा के पुद्गलों से 'आहारक शरीर' वनता है। तैजस वर्गणा के पुद्गलों से तैजस शरीर वनता है और कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से कार्मण शरीर वनता है। जैसे मिट्टी के पुद्गल से मिट्टी के घड़े वनते हैं, सोने के पुद्गल से सोने का घड़ा और चांदी के पुद्गल से चांदी का घड़ा वनता है उसी तरह इन पुद्गलों से उसी अनुरूप शरीर वनता है।

किन के कौन सा शरीर होता है।

★ तिर्यञ्च एवं मनुष्य को औदारिक शरीर होता है।

★ देव और नारकीय जीव को वैक्रिय शरीर होता है। (वैक्रियलब्धिवाला तिर्यञ्च और मनुष्य को भी वैक्रिय शरीर होता है।)

★ चौदह पूर्व के ज्ञानी मनुष्यों का आहारक शरीर होता है।

★ सर्व गति के सर्व जीवों का तैजस और कार्मण शरीर होता है।

शरीरों का प्रयोजन :

★ औदारिक शरीर से सुख दुःख का अनुभव करना, चारित्र धर्म का पालन करना और निर्वाण प्राप्त करने का कार्य होता है।

★ वैक्रिय शरीर वाले जीव अपना स्थूल एवं सूक्ष्म अनेक रूप कर सकते हैं। शरीर लम्बा या छोटा बना सकते हैं।

★ आहारक शरीर चौदह पूर्व धर ज्ञानी पुरुष आवश्यकता होती है तब ही बनाते हैं। आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ज्ञान बल से खेंच कर शरीर बनाते हैं। वे शरीर के माध्यम से महाविदेह क्षेत्र में जाते हैं वहां तीर्थंकर भगवंतों से अपने संशयों का निराकरण करते हैं फिर शरीर का विसर्जन कर देते हैं।

★ तैजस शरीर खाये हुए आहार को परिपाक करता है। इस शरीर के माध्यम से शाप दे सकते हैं और आशीर्वाद भी दे सकते हैं।

★ कार्मण शरीर द्वारा जीव एक भव से दूसरे भव में जा सकता है।

इन पांचों शरीर से आत्मा की मुक्ति हो तब ही आत्मा सिद्ध हुआ ऐसा कह सकते हैं। मुक्त होने का पुरुषार्थ औदारिक शरीर से होता है।

३. बीस स्थानक तप

'कर्मणां तापनात् तपः' कर्मों को तपावे—नष्ट करे उसे तप कहते हैं। ऐसे तरह तरह के तप करना शास्त्रों में बताया

है। 'तीर्थंकर नाम कर्म' वंधाने वाला मुख्य तप वीस स्थानक की ग्राराधना का तप है।

नीचे के सात स्थानों में ग्रनुराग, गुण स्तुति ग्रौर भक्ति सेवा, ये ग्राराधना करनी पड़ती है।

(१) तीर्थंकर : ग्रष्ट प्रातिहार्य की शोभा के योग्य।

(२) सिद्ध : सर्व कर्म रहित, परम सुखी ग्रौर कृत कृत्य।

(३) प्रवचन : द्वादशांगी ग्रौर चतुर्विध संघ।

(४) गुरू : यथावस्थित शास्त्रार्थ कहने वाले। धर्म उपदेश ग्रादि देने वाले।

(५) स्थविर : वयस्थविर (६० वर्ष से ज्यादा)
श्रुत स्थविर (समवायांग तक के ज्ञाता)
पर्याय स्थविर (२० वर्ष का दीक्षित)

(६) वहुश्रुत : जो महान ज्ञानी हो।

(७) तपस्वी : ग्रनेक प्रकार के तप करने वाले तपस्वी मुनि।

(८) निरंतर ज्ञानोपयोग :

(९) दर्शन : सम्यग् दर्शन

(१०) विनय : ज्ञान ग्रादि का विनय

(११) ग्रावश्यक : प्रतिक्रमणादि दैनिक धर्म क्रिया

(१२-१३) शील-व्रत : शील यानी उत्तर गुण, व्रत यानी मूलगुण।

(१४) क्षण-लव-समाधि : क्षण, लव ग्रादि काल के नाम हैं। ग्रमुक समय निरंतर संवेगभावित होकर ध्यान करना।

(१५) त्याग समाधि : त्याग दो प्रकार के हैं; द्रव्य त्याग ग्रौर भाव त्याग।

अयोग्य आहार, उपधि आदि का त्याग और सुयोग्य आहार–उपधि आदि साधुजनों को वितरण। यह द्रव्य त्याग है। क्रोध आदि अशुभ भावों का त्याग और ज्ञान आदि शुभ भावों का साधुजनों को वितरण–यह भाव त्याग है। इन दोनों तरह के त्याग में शक्ति अनुसार निरंतर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

(१६) तप समाधि : बाह्य–आभ्यंतर बारह प्रकार के तप में शक्ति अनुसार प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

(१७) दस विध वैयावच्च : आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्षक, कुल, गुण, संघ और सार्धमिक आदि १३ प्रकार की वैयावच्च करनी चाहिए। (१) भोजन, (२) पानी (३) आसन (४) उपकरण-पडिलेहण (५) पाद प्रमार्जन (६) वस्त्र प्रदान (७) औषध प्रदान (८) मार्ग में सहायता (९) दुष्टों से रक्षण (१०) दंड(डंडा) ग्रहण (११) मात्रक अर्पण (१२) संज्ञा मात्रक अर्पण, और (१३) श्लेष्मात्रक अर्पण।

(१८) अपूर्व ज्ञान ग्रहण : नया नया ज्ञान प्राप्त करना।

(१९) श्रुत भक्ति : ज्ञान भक्ति।

(२०) प्रवचन प्रभावना : जिनोक्त तत्वों का उपदेश आदि देना।

पहले और अंतिम तीर्थंकर ने (ऋषभदेव और महावीर स्वामी) इन बीस स्थानकों की आराधना की थी। मध्य के २२ तीर्थंकरों में से किसी ने दो, किसी ने तीन.......किसी ने सब स्थानकों की आराधना की थी।

—प्रवचन सारोद्धार : द्वार : १० के अनुसार

बीस स्थानक तप की आराधना की प्रचलित विधि निम्न प्रकार है।

★ एक एक स्थानक की एक एक ओली की जाती है।

एक ओली २० अट्ठम की होती है। अट्ठम (उपवास) करने की शक्ति न हो तो २० छठ्ठ (दो उपवास) करके ओली हो सकती है। अगर यह भी शक्ति न हो तो २० उपवास, २० आयंबिल या २० एकासणां करके भी ओली हो सकती है।

★ एक ओली ६ महिनों में पूर्ण करनी चाहिए।

★ ओली की आराधना के दिन पौषधव्रत करना चाहिए। सब पदों की आराधना में पौषधव्रत नहीं कर सकते हैं तो पहले सात पद की ओली में तो पौषधव्रत करना ही चाहिए। पौषध में अनुकूलता न हो तो देशावगासिक व्रत (८ सामायिक और २ प्रति क्रमण) करे।

★ ओली के दिनों में प्रति क्रमण, देव वंदन, ब्रह्मचर्य पालन, भूमि शयन आदि नियम पालन करने चाहिए। हिंसा-मय व्यापार का त्याग, असत्य और चोरी का त्याग....प्रमाद का त्याग करना चाहिए।

★ २० स्थानक की २० ओली पूर्ण करने पर महोत्सव करे; प्रभावना करे, उजमरण करके इस महान तप की आरा-धना पूर्ण होने का आनंद व्यक्त करे।

★ अगर ६ महिनों में एक ओली न हो तो वापिस ओली चालू करनी पड़ती है।

★ हर एक ओली के दिन जिनेश्वर भगवान के समक्ष स्वस्तिक, खमासमरण और काउसग्ग करना चहिए। हर एक पद की २० नवकारवाली गिननी चाहिए।

★ ये सब क्रिया करके उन उन पद के गुणों का स्मरण चिंतन करके आनंदित होना चाहिए।

जप का पद	स्वस्तिक	खमासमण	काउ. लो.	नवकार वाली
ॐ नमो अरिहंताणं	१२	९२	१२	२०
ॐ नमो सिद्धाणं	३१	३१	३१	२०
ॐ नमो पवयणस्स	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो आयरियाणं	३६	३६	३६	२०
ॐ नमो थेराणं	१०	१०	१०	२०
ॐ नमो उवज्झायाणं	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो लोये सव्व साहूणं	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो नाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो दंसणस्स	६७	६७	६७	२०
ॐ नमो विणय संपन्नस्स	५२	५२	५२	२०
ॐ नमो चारित्तस्स	७०	७०	७०	२०
ॐ नमो बंभवय धारिणं	१८	१८	१८	२०
ॐ नमो किरियाणं	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो तवस्स	१२	१२	१२	२०
ॐ नमो गोयमस्स	११	११	११	२०
ॐ नमो जिणाणं	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो संयमस्स	१७	१७	१७	२०
ॐ नमो अभिनव नाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो सुयस्स	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो तित्थस्स	३८	३८	३८	२०

'बीस स्थानक पद पूजा' तथा 'विधिप्रपा' आदि ग्रन्थों से यह विधि-संकलित की गई है।

४. उपशम श्रेणी

'अप्रमत्तसंयत' गुण स्थानक में रही हुई आत्मा उपशम श्रेणी का प्रारंभ करती है। इस श्रेणी में 'मोहनीय कर्म' की उत्तर प्रकृतियों का क्रमशः उपशम होता है इसलिए इसको 'उपशम श्रेणी' कहा जाता है।

दूसरा मत यह है कि अनंतानुबंधी कषाय की उपशम का अप्रमत संयम ही नहीं परन्तु अविरत, देश विरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत भी कर सकते हैं।

परंतु दर्शनत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशम तो संयत ही कर सकता है, यह सर्वसम्मत नियम है।

अनंतानुबंधी कषाय की उपशमता :

★ ४–५–६–७ गुणस्थानको में से कोई एक गुण स्थान में रहता है।

★ तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या में से कोई एक लेश्या वाला।

★ मन, वचन, काया के योग से किसी योग में वर्तमान।

★ साकार उपयोग वाला।

★ अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपमस्थिति वाला।

★ श्रेणि के करण–काल पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त काल तक विशुद्ध चित्तवाला।

★ परावर्तमान प्रकृतियां (शुभ) बांधने वाला।

प्रति समय शुभ प्रकृति में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृति में अनुभाग की हानि करता है। पहले कर्मों की जितनी स्थिति बांधता था अब वे कर्म पूर्व स्थिति बन्ध की अपेक्षा पल्योपम का असंख्यात भाग स्थिति बांधता है।

इस तरह अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होने के बाद यथा प्रवृत्ति-करण, पूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करते हैं। हर एक करण

का समय अन्तर्मुहूर्त होता है। फिर आत्मा उपशम काल में प्रवेश करती है।

यथा प्रवृत्तिकरण में व्यवहार करती आत्मा (प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुण विशुद्ध होने से) शुभ प्रकृतियों के रस में अनन्त गुणी वृद्धि करते हैं। अशुभ प्रकृति के रस में हानि करते हैं, पूर्व स्थिति बंध की अपेक्षा से पल्योपम के असंख्यात भाग न्यून.......न्यून........स्थिति बंध करता है। परन्तु यहां स्थिति-घात, रसघात, गुणश्रेणि या गुण संक्रम नहीं होता है, क्योंकि उसके लिए आवश्यक विशुद्धि का अभाव होता है।

अन्तर्मूहूर्त के बाद अपूर्वकरण करते हैं। यहाँ स्थिति-घात आदि पांचों होते हैं। अपूर्वकरणकाल समाप्त होने के बाद अनिवृत्तिकाल होता है उसमें भी स्थिति घातादि पांचों होते हैं। उनका काल भी अन्तर्मुहूर्त का ही होता है। इस अनिवृत्तिकरण का संख्यात भाग बीतने पर जब एक भाग बाकी रहता है तब अन्तरकरण करता है। अनन्तानुबंधी कषाय का एक आवलिका प्रमाण निषेकों को छोड़कर ऊपर के निषेकों का अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण के दलिकों को वहाँ से उठा उठा कर बध्यमान अन्य प्रकृतियों में डालते हैं; और नीचे की स्थिति तो एक आवलिका प्रमाण होती है उनके द लक को भुगतवाकर अन्य प्रकृति में 'स्तिवुक संक्रम' द्वारा डालकर भोगकर क्षय करते हैं।

अन्तरकरण के दूसरे समय में अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति वाले दलिकों का उपशम करते हैं। पहले समय में कुछ दलिकों को उपशम करते हैं, दूसरे समय में असंख्याता-गुणा तीसरे समय में उससे असंख्यातागुणा इस प्रकार

प्रति समय असंख्यातागुरणा २ दलिकों का उपशम करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होते ही संपूर्ण अनन्तानुवंधी कषायों का उपशम होता है।

उपशम की व्याख्या :

धूल के ऊपर पानी डालकर घन के द्वारा कूटने से जैसे धूल जम जाती है इसी तरह कर्मों पर विशुद्धिरूप जल छांट कर अनिवृत्तिरूपी घन द्वारा कूटने से जम जाती है! वह उपशम कहलाती है। उपशम होने के वाद उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना आदि करण नहीं लग सकते हैं अर्थात् उपशम हुए कर्मों का उदय............उदीरणा आदि नहीं होती हैं।

अन्य मत :

कितने ही आचार्य अनंतानुवंधी कषाय का उपशमन नहीं मानते हैं, परन्तु विसंयोजना या क्षपरण ही मानते हैं।

दर्शनत्रिक की उपशमना :

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि आत्मा (संयम में रहते हुए) एक अन्तर्मुहूर्त काल में दर्शनत्रिक, (समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशमन करते हैं। उपशमन करते हुए—पूर्वोक्त तीन करण करते हुए बढ़ती विशुद्धि वाला अनिवृतिकरण काल के असंख्य भाग के बाद अन्तरकरण करता है। अंतरकरण में सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है और मिथ्यात्व—मिश्र की आवलिका प्रमाण स्थिति करता है। इसके वाद तीनों प्रकृति के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अंतरकरण के दलिक को वहाँ से उठा उठा करके सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति में डालता है।

मिथ्यात्व और मिश्र का एक आवलिका प्रमाण जो प्रथम स्थिति गत दलिक है उन्हें स्तिवुक संक्रम द्वारा सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति में संक्रमण कराता है। सम्यक्त्व के प्रथम स्थितिगत दलिकों को भोग कर क्षय करता है। इस तरह क्रमशः दर्शनत्रिक का क्षय होने के उपरान्त उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दर्शनत्रिक की उपर्युक्त स्थिति में रहे हुए दलिकों का उपशमन करता है। इस प्रकार दर्शनत्रिक का उपशमन करते हुए प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानक में सैकड़ों बार आवागमन करके वापिस चारित्र मोहनीय का उपशमन करने से प्रवृत्त होता है।

चारित्र मोहनीय का उपशमन :

चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करने के लिए पुनः तीन करण करने पड़ते हैं। उसमें यह विशेष है कि यथाप्रवृत्त करण अप्रमत्त गुणस्थानक में होता है। अपूर्वकरण अपूर्वकरण -गुणस्थानक में होता है। अपूर्वकरण में स्थितिघातादि पांचों कार्य होने के बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानक में अनिवृत्तिकरण करता है। यहाँ भी पूर्वोक्त पांचों कार्य होते हैं।

अनिवृत्तिकरण—करणकाल के संख्यात भाग गये बाद मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों का अंतरकरण करता है। [दर्शन सप्तक के अलावा २१ प्रकृति] वहाँ जो वेद और संज्वलन कषाय का उदय हो उसका उदयकाल प्रमाण प्रथम स्थिति करता है। शेष ११ कषाय और ८ नोकसाय की आव-लिका—प्रमाण प्रथम स्थिति करता है।

अन्तरकरण करके अंतर्मुहूर्त काल में नपुंसकवेद का उपशमन करता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल में स्त्री वेद का

उपशमन करता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में हास्यादिषट्क का शमन करते हैं और उसी समय पुरुष वेद का बंध-उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त दो आवलिका काल में (एक समय कम) सम्पूर्ण पुरुष वेद का विच्छेद करता है।

फिर अन्तर्मुहूर्त काल में एक साथ ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-कषाय का उपशमन करता है। ये उपशांत होते ही उसी समय संज्वलन क्रोध का वन्ध-उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके वाद दो आवलिका (एक समय कम) में संज्वलन क्रोध का उपशमन करता है। काल के इस क्रम से ही अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण मान का एक साथ ही उपशमन करता है। फिर संज्वलन मान का उपशमन करता है। (बंध-उदय-उदीरणा का विच्छेद करता है।)

इसके उपरांत वह लोभ का वेदक वनता है।

लोभ वेदनकाल के तीन विभाग है :

(१) अश्वकर्ण—करण काल।

(२) किट्टिकरण—काल

(३) किट्टिवेदन—काल ।

(१) प्रथम विभाग में संज्वलन लोभ की दूसरी स्थिति से दलिकों को ग्रहण कर प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। अश्वकर्ण-करण-काल में रहा हुआ जीव प्रथम समय में ही अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन इन तीनों लोभ का एक साथ उपशमन प्रारम्भ करता है। विशुद्धि में चढता हुआ जीव अपूर्व स्पर्धक करता है। इसके वाद संज्वलन

माया को समयन्यून दो आवलिका काल में उपशमन करता है। इस तरह अश्वकर्ण करण समाप्त होता है।

(२) किट्टिकरण—काल में पूर्व स्पर्धक और अपूर्व स्पर्धकों में से द्वितीय स्थिति में रहे हुए दलिकों को लेकर प्रति समय अनंत किट्टियाँ करता है। किट्टीकरण काल के चरम-समय में एक साथ अप्रत्याख्यानावरण—प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशमन करता है। यह उपशमन होते ही संज्वलन लोभ के वंध का विच्छेद होता है और वादर संज्वलन लोभ का उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त जीव सूक्ष्म संपरायवाला बनता है।

(३) किट्टिकरण—काल दसवां गुण स्थानक का काल है, (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है।) यहाँ दूसरी स्थिति से कितनी ही किट्टियें ग्रहण करके सूक्ष्म संपरायन काल जितनी प्रथम स्थिति वनाता है और वेदन करता है। समय न्यून दो आव-लिका में वंधे हुए दलिक का उपशमन करता है। सूक्ष्म संपराय के अन्तिम समय में संपूर्ण संज्वलन लोभ उपशान्त होता है। आत्मा उपशान्त मोहवाली वनती है।

उपशान्तमोह—गुणस्थानक का जघन्यकाल एक समय का है और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त का है, इसके वाद वे अवश्य गिरते हैं।

पतन :

उपशान्त मोही आत्मा का पतन दो तरह से होता है।

(१) आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु होती है और अनुत्तर देवलोक में अवश्य जाते हैं। देवलोक में उन्हें प्रथम समय में ही चौथा गुणस्थानक प्राप्त होता है।

(२) उपशान्तमोह—गुणस्थानक का काल पूर्ण होने से जो जीव गिरे वह नीचे किसी भी गुण स्थानक में पहुँच जाता है। दूसरा सास्वादन गुण स्थानक से होकर पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक में भी जाता है।

उपशम श्रेणी कितनी बार ?

★ एक जीव को समस्त संसार चक्र में पांच बार उपशम श्रेणी की प्राप्ति होती है।

★ एक जीव एक भव में ज्यादा से ज्यादा दो वार उपशम श्रेणी प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो दो वार उपशम श्रेणी पर चढ़ता है वह इसी भव में क्षपक श्रेणी प्राप्त नहीं कर सकता है। यह मंतव्य कर्म ग्रन्थ के रचयिता आचार्यों का है। आगम ग्रन्थों का मत है कि एक भव में एक ही श्रेणी प्राप्त कर सकता है। उपशम श्रेणी मांडने वाला क्षपक श्रेणी दो भव में कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है।

"मोहोपशमो एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः।
यस्मिन् भवे तूपशम क्षयो मोहस्य तत्र न ॥"

वेदोदय और श्रेणी

★ ऊपर जो उपशम श्रेणी का वर्णन किया गया है वह पुरुष वेद के उदय श्रेणी प्राप्त करने वाली आत्मा को लेकर किया गया है।

★ जो आत्मा नपुंसक वेद के उदय में श्रेणी मांडता है वे सर्वप्रथम अनन्तानुवंधी और दर्शन त्रिक का तो उपशमन करते ही हैं परन्तु स्त्रीवेद या पुरुषवेद के उदय में श्रेणी माँडने वाली आत्मा जहां नपुंसकवेद का उपशमन करते हैं वहाँ नपुंसक वेद में श्रेणी मांडने वाली आत्मा भी नपुसंक वेद का ही उपशमन करता है। इसके वाद स्त्रीवेद

और नपुंसकवेद दोनों का उपशमन करता है। यह उपशमन नपुंसकवेद के उदयकाल के उपान्त्य समय तक होती है। वहां स्त्रीवेद का पूर्ण रूपेण उपशमन होता है। आगे सिर्फ नपुंसक-वेद की एक समय की उदयस्थिति शेष रहती है वह भी भोगने पर आत्मा अवेदक वनती है। इसके बाद पुरुषवेद वगैरह ७ प्रकृति का एक साथ उपशमन करना चालू करता है।

★ जो आत्मा स्त्रीवेद के उदय में श्रेणी मांडता है। वे दर्शन त्रिक के वाद नपुंसकवेद का उपशमन करता है, इसके वाद चरम समय जितनी उदय स्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद के शेष दलिकों का उपशमन करता है। चरम समय के दलिक भोग कर क्षय होने के वाद अवेदी बनता है। अवेदक वनने के वाद पुरुषवेद आदि ७ प्रकृति का उपशमन करता है।

५. चौदह पूर्व

पूर्व पद संख्या	विवरण
१. उत्पाद ११ क्रोड पद	जिसमें 'उत्पाद' के आधार पर सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायों की प्ररूपणा की गई है।
२. आग्रायणीय ९६ लाख पद	जिसमें सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय और जीवों के परिमाण का वर्णन किया गया है।
३. वीर्य प्रवाद ७० लाख पद	जिसमें जीव और अजीवों के वीर्य का वर्णन किया गया है। [अग्र–परिमाण, अयनम् – परिच्छेद अर्थात् ज्ञान]

४. अस्ति नास्ति प्रवाद ६० लाख पद	जो खरशृंगादि पदार्थ विश्व में नहीं हैं और जो धर्मास्तिकायादि पदार्थ हैं, उनका वर्णन इस पूर्व में है। अथवा हर एक पदार्थ का स्व-रूपेण अस्तित्व और पर-रूपेण नास्तित्व प्रतिपादन किया गया है।
५. ज्ञान प्रवाद १ क्रोड पद [एक कम]	इस पूर्व में पांच ज्ञान के भेद-प्रभेद उनका स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।
६. सत्य प्रवाद १ क्रोड ६ पद	सत्य यानी संयम उसका विस्तृत वर्णन इस पूर्व में किया गया है।
७. आत्म प्रवाद २६ क्रोड पद	अनेक नयों द्वारा आत्मा के अस्तित्व का और आत्मा के स्वरूप का इस पूर्व में वर्णन है।
८. कर्म प्रवाद १ क्रोड ८० लाख पद	ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता आदि का इसमें भेद-प्रभेद के साथ वर्णन है।
९. प्रत्याख्यान प्रवाद ८४ लाख पद	प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) का भेद-प्रभेद के साथ इस पूर्व में वर्णन किया है।
१०. विद्या प्रवाद ११ क्रोड १५ हजार पद	विद्याओं की साधना की प्रक्रियायें और उससे होने वाली सिद्धियों का वर्णन इस पूर्व में है।
११. कल्याण प्रवाद २६ क्रोड पद	ज्ञान, तप आदि शुभ योगों की सफलता और प्रमाद निद्रा आदि अशुभ योगों के अशुभ फल का वर्णन।

१२. प्राणायु १ क्रोड ५६ लाख	इस पूर्व में जीव के दस प्राणों का वर्णन और जीवों के आयुष्य का वर्णन किया गया है।
१३. क्रिया विशाल ६ क्रोड पद	इस पूर्व में कायिकी आदि क्रियाओं का उनके भेद–प्रभेद के साथ वर्णन किया गया है।
१४. लोक बिन्दुसार १२॥ क्रोड पद	जैसे श्रुतलोक में अक्षर के ऊपर रहा हुआ बिन्दु श्रेष्ठ है उसी तरह 'सर्वाक्षर सन्निपात लब्धि' प्राप्त करने के इच्छुक साधक के लिए यह पूर्व सर्वोत्तम है।

पूर्व का अर्थ क्या ?

यह पूर्व शब्द शास्त्र……ग्रंथ जैसे अर्थ में काम में लाया हुआ शब्द है। तीर्थंकर जब धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं तब इस पूर्व का उपदेश देते हैं। फिर गणधर इन उपदेशों के आधार पर 'आचारांग' आदि सूत्रों की रचना करते हैं।

६. पुद्गल परावर्त काल

जहां गणित का प्रवेश असंभव है, ऐसे काल को जानने के लिए 'पल्योपम' 'सागरोपम' 'उत्सर्पिणी' अवसर्पिणी' 'काल चक्र' 'पुद्गल परावर्त'……जैसे शब्दों को काम में लिया है। ऐसे शब्दों की स्पष्ट परिभाषा ग्रन्थों में दी गई है। यहां अपन 'प्रवचन सारोद्धार' ग्रंथ के आधार पर 'पुद्गल परावर्त' काल को समझेंगे।

१० कोडा कोडी [१० क्रोड × १० क्रोड] सागरोपम
= १ उत्सर्पिणी
= १ अवसर्पिणी

☆ ऐसे अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का समूह हो तब एक पुद्गल परावर्त कहा जाता है। अतीत काल अनन्त पुद्गलपरावर्त का होता है।

अतीतकाल से अनंत गुणा ज्यादा भविष्य काल है। अर्थात् अनागतकाल में जो पुद्गल परावर्त हैं वे अतीतकाल से अनन्त गुणा ज्यादा हैं।

❀ यह 'पुद्गल परावर्त' चार तरह का है।

(१) द्रव्य पुद्गल परावर्त

(२) क्षेत्र पुद्गल परावर्त

(३) काल पु० प०

(४) भाव पु० प०

ये चारों पुद्गलपरावर्त २-२ तरह के हैं : (१) बादर (२) सूक्ष्म

(१) बादर : द्रव्य पुद्गलपरावर्त :

एक जीव संसार अटवी में भ्रमण करता हुआ, अनंत भवों में औदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-भाषा श्वासोच्छ्वास और मन रूप सर्व पुद्गलों को (१४ राजलोक में रहे हुए) ग्रहण कर, भोगकर रखदे............इसमें जितना समय लगे

★ 'ओसप्पिणी अणंता पोग्गल परियट्ठओ मुणेयव्वो।
तेऽणंता तीयद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥'

❀ 'पोग्गलपरियट्ठो इह दव्वाइचउव्विहो मुणेयव्वो।'

—प्रवचन सारोद्धार

उतना काल बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त का काल कहलाता है। (आहारक शरीर तो एक जीव मात्र चार बार ही बनाता है अर्थात् पुद्गलपरावर्त काल में वह उपयोगी नहीं होने से उसे नहीं लिया है।)

(२) सूक्ष्म : द्रव्य पुद्गलपरावर्त काल :

औदारिक आदि शरीरों में से किसी एक शरीर से एक जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ सब पुद्गलों को पकड़ कर, भोगकर छोड़ दे, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते हैं। विवक्षित शरीर के अलावा दूसरे शरीर से जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं और भोगे जाते हैं वे नहीं गिने जाते हैं।

(३) बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त :

क्रम से या उत्क्रम से एक जीव लोकाकाश के सब प्रदेशों को मृत्यु से स्पर्श करने में जितना समय लगाता है उस काल विशेष को बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहते हैं। अर्थात चौदह राज लोक के असंख्य आकाश प्रदेश (आकाश का एक ऐसा भाग कि जिसका और भाग न हो सके) है। उन एक एक आकाश प्रदेश में उस जीव की मृत्यु होती है इसमें जो समय लगता है उसे 'बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त' कहते हैं।

(४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त :

जीव की कम से कम अवगाहना भी असंख्य प्रदेशात्मक है। फिर भी कल्पना करें कि जीव की कोई एक आकाश प्रदेश, में मृत्यु हुई है। इसके बाद इसके पास के आकाश प्रदेश में मृत्यु होती है:—फिर इसके पास के तीसरे आकाश प्रदेश में मृत्यु होती है, इस तरह क्रमशः एक के बाद एक आकाश प्रदेश

को मृत्यु से स्पर्श करता है और इस तरह समस्त लोकाकाश को मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाता है तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल-परावर्त काल कहा जाता है।

परन्तु मान लो कि जीव के पहले आकाश प्रदेश में मरने के बाद तीसरे या चौथे आकाश प्रदेश में मृत्यु हो जाती है तो उसकी गणना नहीं होगी। अगर पहले के बाद दूसरे आकाश प्रदेश में मृत्यु हो तब ही गणना हो सकती है।

(५) बादर काल पुद्गल परावर्त :

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का जितना समय (परम सूक्ष्म काल विभाग) है, उस समय को एक जीव स्वयं की मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पर्श करे तब बादर काल पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

(६) सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त :

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समयों को एक जीव अपनी मृत्यु से क्रम से स्पर्श करे उसे सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त कहते हैं। जैसे कि अवसर्पिणी के प्रथम समय में किसी जीव की मृत्यु हुई उसके बाद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी बीत गई और वापिस अवसर्पिणी के दूसरे समय में मृत्यु प्राप्त की हो तो वह दूसरे समय के मृत्यु स्पर्श गिना जावेगा।

(७) बादर भाव पुद्गलपरावर्त

असंख्य लोकाकाश प्रदेशों के जितने अनुभाग बंध के अध्यवसाय स्थान हैं, उन अध्यवसाय स्थानों को एक जीव मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पर्श करने में जितना समय लगाता है उस काल को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते हैं।

(८) सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त :

★ क्रमशः सब अनुभाग बंध के अध्यवसाय स्थानों को जितने समय में मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाता है, उस काल विशेष को सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्त कहते हैं।

जो कि ऊपर के वादर पुद्गल परावर्त कहीं भी सिद्धांत में उपयोगी नहीं है परन्तु वादर समझाने से सूक्ष्म का ज्ञान सरलता से हो सकता है, इसलिए वादर का वर्णन किया गया है। ग्रन्थों में जहाँ जहाँ 'पुद्गल परावर्त' आता है। वहाँ अधिकतर "सूक्ष्म-क्षेत्र-पुद्गल परावर्त" समझना चाहिए।

७. कारणवाद

कारण के बिना कार्य नहीं होता है, जितने कार्य दिखते हैं उनके कारण होते ही हैं। ज्ञानियों ने विश्व में ऐसे पांच कारण खोजे हैं जो संसार के किसी भी कार्य के पीछे होते ही हैं।

(१) काल

(२) स्वभाव

(३) भवितव्यता

★ अनुभागवंध स्थान का वर्णन 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ में इस प्रकार है :

तिष्ठति अस्मिन् जीव इति स्थानं; एकेन काषायिकेणा···ध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानाँ विवक्षितैकसमयबद्धरस–समुदाय परिमाणम्।

अनुभाग वन्ध स्थानानां निष्पादका ये कषायोदय रूपा अध्यवसाय विशेषा तेऽप्यनुभागवन्ध स्थानानि।

(४) कर्म

(५) पुरुषार्थ

कोई भी कार्य इन पांच कारणों के विना नहीं होता है। अब अपन एक एक कारण को देखते हैं।

काल :

विश्व में ऐसे भी कई कार्य दिखते हैं जिसमें काल (समय) ही कार्य करता हुआ दिखता है परन्तु वहाँ काल को मुख्य कारण समझना चाहिए और शेष ४ कारणों को गौण समझना चाहिए।

(१) स्त्री गर्भवती होती है अमुक समय में ही बच्चे को जन्म देती है। (२) दूध से अमुक समय में ही दही जमता है। (३) तीर्थंकर भी अपना आयुष्य बढ़ा नहीं सकते हैं और निश्चित समय में उनकी भी मृत्यु होती है (४) छः ऋतु अपने अपने समय से आती और बदलती हैं। इन सब में काल प्रमुख कारण है।

स्वभाव :

स्त्री के मूछ क्यों नहीं आती है ? यह स्वभाव है। हथेली में बाल क्यों नहीं उगते ? नीम के वृक्ष पर आम क्यों नहीं आते ? मोर के पंख ऐसे रंग विरंगे और कला युक्त क्यों होते हैं ? वेर के काँटे ऐसे अणीदार क्यों होते हैं। फल फूलों के ऐसे विविध रंग क्यों ? पर्वत स्थिर और वायु चंचल क्यों ? इन सब प्रश्नों का समाधान एक ही शब्द है : स्वभाव।

भवितव्यता :

आम के पेड़ पर फूल आते हैं और कितने ही झड़ जाते हैं..........कई आम मीठे और कई खट्टे..........ऐसा क्यों ?

जिन्हें स्वप्न में भी आशा न हो वह वस्तु उन्हें मिल जाती है.........ऐसा क्यों ? एक मनुष्य युद्ध से जीवित आता है और घर में मर जाता है..............ऐसा क्यों ? इन सब कार्यों में मुख्य भाग भवितव्यता का है।

कर्म :

जीव चार गति में परिभ्रमण करता है। यह कर्म के कारण से ही है। राम को वनवास में रहना पड़ा और सती सीता पर कलंक लगा ये कर्म के कारण ही हुआ। भगवान महावीर के कानों में कीलें ठोकी गई.......ऐसा सब कर्म के कारण ही हुवा, भूखा चूहा टोकरी को देखकर काटता है........ ....उसमें घुसता है..........अन्दर बैठा हुआ भूखा सांप उस चूहे को निगल जाता है..........यह कर्म के कारण ही। इन सब कार्यों का मुख्य कारण कर्म है।

पुरुषार्थ :

राम ने पुरुषार्थ से लंका विजय की...........तिल से तैल कैसे निकलता है ? लता मकान पर कैसे चढ़ जाती है ? पुरुषार्थ से ! कहावत है कि, 'बून्द बून्द सरोवर भर जाता है........' पुरुषार्थ के बिना विद्या, ज्ञान, धन वैभव प्राप्त नहीं होता है।

यहां एक बात महत्वपूर्ण है, इन पांच कारणों में से कोई एक कारण कार्य को पैदा नहीं कर सकता है। हां, एक कारण मुख्य होता है और दूसरे चार गौण होते हैं। उपाध्याय श्री विनय विजयजी ने कहा है "ये पांचों समुदाय मिले विना कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता है।"

उदाहरणार्थ—तन्तुओं से कपड़ा बनता है, यह स्वभाव है। कालक्रम से तन्तु बनते हैं। भवितव्यता हो तो कपड़ा तैयार

हो जाता है नहीं तो विघ्न आते हैं और काम अधूरा रह जाता है। कातने वाले का पुरुषार्थ और भोगने वाले का कर्म चाहिए।

इसी तरह जीव के विकास में पांचों कारण काम करते हैं।

भवितव्यता के योग से ही जीव निगोद से बाहर निकलता है। पुण्यकर्मके उदय से मनुष्य भव प्राप्त करता है। भवस्थिति (काल) परिपक्व होने से उनका वीर्य (पुरुषार्थ) उल्लसित होता है। और भव्य स्वभाव हो तो वह मोक्ष प्राप्त करता है। श्री विनय विजय जी उपाध्याय सज्भाय में कहते हैं :

"नियति वशे हलु करमी थई ने निगोद थकी निकलीयो,
पुण्ये मनुष्य भवादि पामी सदगुरु ने जई मलीयो;
भव स्थिति का परिपाक थयो तव पंडित वीर्य उल्लसीयो।
भव्य स्वभावे शिवगति पामी शिवपुर जइने वसीयो।

प्राणी ! समकित—मति मन आणो,
नय एकांत न ताणो रे.........

कोई एक कारण से ही कार्य होता है। ऐसे मानने वालों में से अलग अलग मत अलग अलग दर्शन पैदा होते हैं।

८. चौदह राजलोक

कोई कहता है, "यह मैदान ४० मीटर लम्बा है" कोई कहता है "वह घर ५० फुट ऊंचा है" अपन को तुरंत कल्पना हो जाती है। क्योंकि 'मीटर' फुट आदि नापों से अपन परिचित हैं। "राजलोक" यह भी एक नाप है। सब से नीचे 'तमः

तमः प्रभा' नरक से शुरू होकर सबसे ऊपर सिद्धशिला तक विश्व १४ राजलोक ऊंचा है।

★ यह १४ राजलोक प्रमाण विश्व का आकार कैसा होगा, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। एक मनुष्य अपने दोनों पैर चौड़े करके और दोनों हाथ कमर पर रख कर खड़ा हो और जो आकार बनता है, ऐसा आकार इस १४ राजलोक प्रमाण विश्व का है।

विश्व की बाबत कितनी ही मूलभूत बातें स्पष्ट करनी चाहिए।

(१) इस लोक (विश्व) की उत्पत्ति किसी ने नहीं की थी।

(२) इस लोक को किसी ने उठाया हुआ नहीं है। अर्थात् किसी के सहारे पर ठहरा हुआ नहीं है।

(३) यह लोक अनादिकाल से है। और अनंत काल तक रहेगा।

(४) यह विश्व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय से परिपूर्ण है।

लोक के तीन भाग हैं :

(१) ऊर्द्ध्वलोक।

(२) अधोलोक।

(३) मध्यलोक।

★ वैशाख स्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकर युग्मः।

—प्रशम रतिः

ऊर्द्ध्वलोक :

ऊर्द्ध्वलोक में वैमानिक देव और सिद्ध आत्मायें रहती है।

बारह देव लोक :

(१) सौधर्म
(२) ईशान
(३) सनत् कुमार
(४) माहेन्द्र
(५) ब्रह्मलोक
(६) लान्तक
(७) महाशुक्र
(८) सहस्रार
(९) आनत
(१०) प्राणत
(११) आरण
(१२) अच्युत

बारह देव लोक पूरे होने के बाद उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक देवलोक हैं। उनके ऊपर अनुत्तर देव लोक हैं।

पांच अनुत्तर-देवलोक :

(१) विजय
(२) विजयंत
(३) जयंत
(४) अपराजित
(५) सर्वार्थसिद्ध

अधोलोक :

अधोलोक में नारकी, भवन पति देव, व्यंतर आदि देव रहते हैं।

सात नरक

(१) रत्न प्रभा
(२) शर्करा प्रभा
(३) वालुका प्रभा
(४) पंक प्रभा
(५) धूम प्रभा
(६) तमः प्रभा
(७) तमः तमः प्रभा

क्रमशः एक के बाद एक नरक में ज्यादा ज्यादा दुःख-वेदना होती है।

सात नरक सात राजलोक प्रमाण हैं।

सातमी नरक सात राजलोक समान विस्तृत है।

मध्यलोक

मध्य लोक में मनुष्य, ज्योतिषदेव, तिर्यंच जीव रहते हैं। मध्यलोक में असंख्यद्वीप और समुद्र हैं। अपन मध्यलोक में हैं।

६. यति धर्म

यति यानी मुनि–साधु श्रमण का जो धर्म है वह यति धर्म कहलाता है। साधु जीवन की भूमिका में मनुष्य को इन दस प्रकार के धर्म की आराधना करनी पड़ती है।

(१) क्षान्ति : क्षमा धर्म का पालन करना ।
(२) मार्दव : मद का त्याग कर नम्र बनना ।
(३) आर्जव : माया का त्याग कर सरल बनना ।
(४) मुक्ति : निर्लोभता ।
(५) तप : इच्छाओं का निरोध ।
(६) संयम : इन्द्रियों का निग्रह ।
(७) सत्य : सत्य का पालन करना ।
(८) शौच : पवित्रता । व्रत में दोष नहीं लगने देना ।
(९) आकिंचन्य : बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह का त्याग ।
(१०) ब्रह्म : ब्रह्मचर्य का पालन

इन दस प्रकार के धर्म की आराधना में साधुता है। साधु जीवन के ये दस विध धर्म प्राण हैं। इनका वर्णन "नव-तत्व प्रकरण" 'प्रवचन सारोद्धार' 'बृहत्कल्प सूत्र' इत्यादि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

१०. सामाचारी

साधु जीवन के परस्पर व्यवहार की आचार संहिता ★'दश विध सामाचारी नाम से प्रसिद्ध है।

(१) **इच्छाकार** : साधु को अपना काम दूसरों से कराना हो तो अगर दूसरे की इच्छा होतो कराना चाहिए, जबरदस्ती से नहीं। इसी तरह दूसरों का काम करने की इच्छा हो तो भी उन्हें पूछ कर करना चाहिए। जो कि निष्प्रयोजन तो दूसरों से अपना काम तो कराना ही नहीं चाहिए। परन्तु

★ सेव्य: क्षान्तिर्मार्दवमार्जव शौचे च संयमत्यागौ।
सत्यतपो ब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्म विधि: ॥
—प्रशम रति:

अशक्ति, वीमारी, अज्ञानता आदि कारण से दूसरों को (जो दीक्षा पर्याय में अपने से छोटे हों उनसे) कहे : "मेरा यह काम करोगे ? "

इसी तरह सेवा भाव से कर्म निर्जरा के हेतु से दूसरों का काम स्वयं को करना हो तो भी पूछे "आपका यह काम मैं कर सकता हूँ ?"

(२) **मिथ्याकार** : साधु जीवन के व्रत नियम पालन करने में जाग्रत होते हुए भी अगर कोई गलती हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए "मिच्छामि दुक्कडं" कहना चाहिए। उदाहरण के लिए, छींक आई और वस्त्र मुँह के आगे नहीं रहा फिर वाद में ध्यान आने पर तुरन्त "मिच्छामि दुक्कडं" कहना चाहिए। परन्तु जान वूझ कर जो दोष करना है और वार वार करता है तो उन दोषों की शुद्धि 'मिच्छामि दुक्कडं' से नहीं होगी।

(३) **तथाकार** : स्वयं के स्वीकार किये हुए सुगुरू का वचन कोई विकल्प विना "तहत्ति" कह कर स्वीकार कर लेना चाहिए।

(४) **आवश्यकी** : (आवस्सही) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए मकान के वाहर निकलते ही "आवस्सही" वोलकर निकलना चाहिए। आवश्यक कार्य के लिए वाहर जाना उसे आवश्यकी कहते हैं।

(५) **नैषेधिकी** : (निस्सीही) आवश्यक कार्य पूर्ण करके साधु मकान में आवे तव प्रवेश करते ही 'निस्सीही' वोलकर प्रवेश करे।

(६) **आपृच्छा** : कोई काम करना हो तो गुरूदेव को पूछे। "भगवन् ! यह काम मैं करू ?"

(७) **प्रतिपृच्छा** : पहले किसी काम के लिए गुरूदेव ने मना कर दिया हो परन्तु वर्तमान में वह काम उपस्थित हो गया हो तो गुरूमहाराज को पूछे कि : भगवन् ! पहले आप ने यह काम करने के लिए मना किया था परन्तु अब इसका तो प्रयोजन है, अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं यह कार्य करूं ?" गुरु महाराज जैसा कहे वैसा करे।

'प्रतिपृच्छा' का दूसरा अर्थ यह है कि किसी काम के लिए गुरुमहाज ने अनुमति दे दी हो तो भी वह कार्य करने से पहले पुन : गुरुमहाराज को पूछना चाहिए।

(८) **छंदणा** : साधु गोचरी लाकर सहवर्ती साधुओं को कहे, "मैं गोचरी (भिक्षा) लेकर आया हूँ, जिन्हें जो उपयुक्त हो वे इच्छानुसार ग्रहण करें।"

(९) **निमंत्रण** : गोचरी जाने के समय सहवर्ती साधुओं को पूछे (निमंत्रण दे) कि "मैं आपके लिए योग्य गोचरी लाऊँगा।"

(१०) **उपसंपत** : विशिष्टज्ञान–दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए एक गुरुकुल से दूसरे गुरुकुल में जाना।

इन दस प्रकार के व्यवहार को सामाचारी कहते हैं। साधु-जीवन में इस व्यवहार का पालन मुख्य कर्तव्य है।

११. गोचरी के ४२ दोष

साधु जीवन का निर्वाह भिक्षावृत्ति पर होता है। साधु-साध्वी गृहस्थों के घर से भिक्षा लाते हैं। परन्तु इन गोचरी के सतर्कता के नियम हैं। इन नियमों का अनुसरण करके भिक्षा लानी चाहिए। अगर इन नियमों का पालन न करे तो साधु को दोष लगता है, उसका उन्हें प्रायश्चित करना पड़ता है। महाव्रतों को सुरक्षित रखने के

लिए इन दोषों से बचना पड़ता है। ४२ दोषों को टालने के लिए इन दोषों का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ इन दोषों के नाम और उनकी संक्षेप जानकारी दी गई है। विस्तृत ज्ञान के जिज्ञासुओं को 'प्रवचन सारोद्धार' 'ओघनिर्युक्ति' 'पिंड-निर्युक्ति' आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

(१) आधाकर्म : साधु के लिए बनाया हुआ अन्न पानी।

(२) औदेशिक : विचरण करते हुए साधु सन्यासियों के लिए बनाया हुआ।

(३) पूति कर्म : आधा कर्म से मिश्र।

(४) मिश्रजात : ज्यादा बनावे।

(५) स्थापना : अलग निकाल कर रक्खे।

(६) प्राभृतिक : लग्न आदि प्रसंगों में साधु निमित्त देर या पहले करे, इसी तरह सुबह या शाम को साधु निमित्त क्रमशः देर से और जल्दी भोजन बनावे।

(७) प्रादुष्करण : खिड़की खोलें; बत्ती करे।

(८) क्रीत : साधु के लिए खरीद कर लावे।

(९) प्रामित्य : साधु के लिए उधार लावे।

(१०) परावर्तित : अदल बदल करे।

(११) अभ्याहृत : साधु के स्थान के सामने लाकर देना।

(१२) उद्भिन्न : सील तोड़कर या ढक्कन खोलकर दे।

(१३) मालापहृत : छींके में रक्खा हुआ उतार कर दे।

(१४) आच्छेद्य : पुत्र आदि की इच्छा न हो तो भी उनके पास से लेकर दे।

(१५) अनुत्सृष्ट : अनुमति बिना (पति पत्नी की, पत्नी पति की।)

(१६) अध्वपूरक : भोजन पकाने की शुरूआत अपने लिए करे फिर इसमें साधु के लिए और बढ़ा देवे ।

(१७) धात्रीदोष : साधु धाय मा का काम करे ।

(१८) दूतिदोष : संदेश ले जाना और लाना ।

(१९) निमित्त कर्म : ज्योतिष शास्त्र से निमित्त कहे ।

(२०) आजीवक पिंड : अपने आचार्य का कुल बताना ।

(२१) वनीयक पिंड : ब्राह्मण अतिथि, भिखारी के समान बन कर भिक्षा मांगे ।

(२२) चिकित्सा पिंड : दवा बताये या करे ।

(२३) क्रोध पिंड : क्रोध से भिक्षा मांगे ।

(२४) मान पिंड : अभिमान से भिक्षा लावे ।

(२५) माया पिंड : नये नये वेश करके लावे ।

(२६) लोभ पिंड : कोई खास वस्तु लाने की इच्छा करे ।

(२७) संस्तवदोष : माता, पिता, और ससुराल का परिचय देवे ।

(२८) विद्या पिंड : विद्या से भिक्षा लावे ।

(२९) मंत्र पिंड : मंत्र से भिक्षा लावे ।

(३०) चूर्ण पिंड : चूर्ण से भिक्षा लावे ।

(३१) योग पिंड : योग शक्ति से भिक्षा प्राप्त करे ।

(३२) मूल कर्म : गर्भपात करने के उपाय बतावे ।

(३३) शंकित : दोष की शंका होतो भी भिक्षा लेवे ।

(३४) भ्रक्षित : काम में लिया हुआ जूठा द्रव्य लेवे ।

(३५) पीहित : सचित्त या अचित्त से ढकी हुई वस्तु लेवे ।

(३६) दायक : नीचे लिखे लोगों से भिक्षा लेने से यह दोष लगता है।

(१) बेडी से जकड़ा हुआ (२) जूते पहने हुए। (३) बुखारवाला (४) बालक (५) कुबड़ा (६) वृद्ध (७) अंधा (८) नपुंसक (९) उन्मत्त (१०) लंगड़ा (११) खांड़ने वाला (१२) पीसने वाला (१३) धुनकने वाला (१४) कातने वाला (१५) दही बिलोने वाला (१६) गर्भवती स्त्री (१७) दूध पीते बच्चे की माँ। (१८) मालिक की अनुपस्थिति में नोकर

(३७) उन्मिश्र : सचित्त-अचित्त मिला कर देवे वह लेना।

(३८) अपरिणत : पूर्ण अचित्त न हुआ हो वह लेना अथवा दो साधु में एक को निर्दोष लगे और दूसरे को सदोष लगे वह लेना।

(३९) लिप्त : शहद, दही से लिपा हुआ लेना।

(४०) छर्दित : भूमि पर गिरा हुआ लेना।

(४१) निक्षिप्त : सचित्त के साथ संघट्टा वाला लेना।

(४२) संहृत : एक बर्तन को दूसरे बर्तन में खाली करके, खाली बर्तन से वोहराना।

साधु साध्वी को इन ४२ दोषों की जानकारी होनी ही चाहिए तभी वे भिक्षा लाने के योग्य बन सकते हैं।

१२. ४ निक्षेप

किसी भी शब्द का अर्थ निरूपण करना हो तो वह 'निक्षेप' पूर्वक किया जाये तो स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है 'निक्षेपणं निक्षेप' निरूपण करने को निक्षेप कहते हैं। यह निक्षेप जघन्य से चार प्रकार का है और उत्कृष्ट अनेक प्रकार का है। यहां हम चार प्रकार के निक्षेप का विवेचन करेंगे।

(१) नाम ।

(२) स्थापना ।

(३) द्रव्य ।

(४) भाव ।

नाम निक्षेप :

★यद् वस्तुनोऽभिधानं स्थित मन्यार्थे तदर्थ निरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेयं च नाम याहच्छिकं च तथा ॥

(१) यथार्थ में एक नाम सर्वत्र वहुत प्रसिद्ध होता है और वही नाम दूसरे लोग भी रखते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्र यह नाम देवों के अधिपति की तरह प्रसिद्ध है और यह नाम ग्वाले के लड़के का भी रख देते हैं।

(२) 'इन्द्र' शब्द का जो 'परमऐश्वर्यवान्' अर्थ है वह ग्वाले के लड़के के लिए प्रयुक्त नहीं होगा।

(३) 'इन्द्र' शब्द के जो पर्याय 'शक्र' 'पुरन्दर' शचिपति' आदि हैं वे पर्याय ग्वाले के पुत्र इन्द्र के लिये प्रयुक्त नहीं होंगे।

'याहच्छिक' प्रकार में ऐसे नाम आते हैं कि जिनका व्युत्पत्तिअर्थ नहीं होता है अथवा जो स्वेच्छा से नाम दिये जाते हैं।

ये नाम जीव और अजीव के हो सकते हैं।

स्थापना निक्षेप :

❀ यत्तु तदर्थ वियुक्त तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि ।
लेप्यादि कर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च ॥

★अनुयोग द्वार—सूत्र

❀ अनुयोग—सूत्र

★ भाव इन्द्र आदि के अर्थ रहित (परन्तु अर्थ के अभिप्राय से) साकार या निराकार जो किया जाता है उसे स्थापना कहते हैं।

★ भाव-इन्द्रादि के साथ समानता हो उसे साकार स्थापना कहते हैं।

★ भाव—इन्द्रादि के साथ असमानता हो उसे निराकार स्थापना कहते हैं।

काष्ठ. पत्थर, हाथीदांत की मूर्तियाँ, प्रतिमायें आदि को साकार स्थापना कहते हैं। ये दो तरह की होती हैं। (१) शाश्वत (२) अशाश्वत। देवलोक आदि में शाश्वत जिन प्रतिमा होती हैं जबकि दूसरी प्रतिमायें शाश्वत नहीं भी होती हैं।

★ शंख आदि में जो स्थापना की जावे उसे अनाकार स्थापना कहते हैं।

शाश्वत जिन प्रतिमाओं में 'स्थापना' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्थाप्यत इति स्थापना' चरितार्थ नहीं होती है। क्योंकि वे शाश्वत हैं। शाश्वत को कोई स्थापित नहीं कर सकता है। इसलिए वहां 'अर्हदादिरूपेण तिष्ठतीति' स्थापना 'अरिहंत आदि रूप से रहते हैं वह स्थापना' ऐसा व्युत्पति अर्थ करना चाहिए।

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में इस तरह बहुत अन्तर है। परमात्मा की स्थापना (मूर्ति) देवों की स्थापना, गुरुवरों की स्थापना.......के दर्शन-पूजन से इच्छित लाभों की प्राप्ति प्रत्यक्ष दिखती है। इसके अलावा प्रतिमा के दर्शन से विशिष्ट कोटि के भाव भी जाग्रत होते हैं।

द्रव्य निक्षेप :

★ "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके ।
तद्द्रव्यं तत्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥"

जो चेतन-अचेतन द्रव्य भूतकाल भाव का कारण हो या भविष्य काल के भाव का कारण हो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं ।

उदाहरणार्थ भूतकाल में वकील हो या डाक्टर परन्तु वर्तमान में वकालात न करते हो या दवाई नहीं करते हो तो भी जनता उन्हें वकील या डाक्टर कहती है । यह द्रव्य निक्षेप के वकील या डाक्टर कहे जाते हैं । इसी तरह अभी तक वकालात पढ़ रहे हों या मेडिकल कालेज में पढ़ रहे हों तो भी लोग उन्हें वकील या डाक्टर कहते हैं क्योंकि वे भविष्य में वकील या डाक्टर होने वाले हैं । इसी तरह भूलकालीन पर्याय का जो कारण वर्तमान में हो उसे द्रव्य-निक्षेप कहते हैं ।

द्रव्य निक्षेप की दूसरी परिभाषा इस तरह की जाती है "अणुवओगो दव्वं" अनुपयोग अर्थात् भाव शून्यता बोध-शून्यता……उपयोग शून्यता । जिस क्रिया में भाव, बोध, उपयोग न हो उस क्रिया को द्रव्य क्रिया कहते हैं ।

लोकोत्तर द्रव्य-आवश्यक की चर्चा करते हुए अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है जो श्रमण गुण रहित और जिनाज्ञा रहित बन कर 'स्वच्छंदता से विचरण कर, उभयकाल प्रतिक्रमण के लिए खड़ा हो उस साधु वेषधारी का प्रतिक्रमण वह लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक है ।"

★ अनुयोग द्वार-सूत्र

द्रव्य निक्षेप की विस्तृत चर्चा के लिए 'अनुयोग द्वार सूत्र' का अध्ययन करना आवश्यक है ।"

भाव–निक्षेप :

तीर्थङ्कर भगवन्त को लेकर जहाँ भाव–निक्षेप का विचार किया गया है वहाँ कहा है "समवसरणठ्ठा भाव जिर्दिणा" समवसरण में बैठे हुए........धर्म देशना देते हुए तीर्थङ्कर भगवन्त भाव तीर्थङ्कर हैं ।

"श्री अनुयोग द्वार सूत्र" में कहा है : वक्तृ विवक्षित परिणामस्य भवनं भावः। वक्ता के कहे हुए परिणाम जाग्रत होने को भाव कहते हैं ।

भाव से प्रतिक्रमण आदि क्रियायें दो प्रकार होती हैं : (१) आगम से (२) नो आगम से ।

★ प्रतिक्रमण के सूत्रों के अर्थ के उपयोग को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं। इसी तरह जो क्रिया की जाती है उस क्रिया के अर्थ के उपयोग हो तो वह क्रिया भाव क्रिया कही जाती है ।

★ नो आगम की भाव क्रिया तीन प्रकार है : (१) लौकिक (२) कुप्रावचनिक (३) लोकोत्तर

(१) लौकिक : लौकिक शास्त्रों के श्रवण में उपयोग ।

(२) कुप्रावचनिक : होम, जप........योगादि क्रियाओं में उपयोग ।

(३) लोकोत्तरिक : तच्चित आदि आठ विशेषताओं से युक्त धर्मक्रिया (प्रतिक्रमण आदि)

सारांश यह है कि प्रस्तुत क्रिया छोड़कर दूसरी तरफ मन–वचन–काया का उपयोग नहीं करके जो क्रिया की जाती है उसे भाव क्रिया कहते हैं ।

१३. चार अनुयोग

☆ राग, द्वेष और मोह से अभिभूत संसारी जीव शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखों से पीड़ित है। इन समस्त दुःखों को दूर करने के लिए हेय और उपादेय पदार्थ के परिज्ञान में यत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न विशिष्ट विवेक के बिना नहीं हो सकता है। विशिष्ट विवेक अनन्त अतिशय युक्त आप्त पुरुष के उपदेश बिना नहीं हो सकता है। राग, द्वेष और मोह आदि दोषों को सर्वथा क्षय करने वाले को 'आप्त' कहते हैं। ऐसे आप्त पुरुष 'अरिहंत' ही हैं।

अरिहंत भगवंत का उपदेश ही राग-द्वेष के बन्ध को तोड़ने में समर्थ है। इसलिए इस अर्हद् वचन की व्याख्या करनी चाहिए। पूर्वाचार्यों ने चार अनुयोगों में अर्हद्वचन को विभाजित किया है।

(१) धर्मकथा—अनुयोग
(२) गणित—अनुयोग
(३) द्रव्य— अनुयोग
(४) चरण-करण—अनुयोग

अनुयोग अर्थात् व्याख्या। धर्म कथाओं का वर्णन श्री उत्तराध्ययन आदि में है। गणित का विषय सूर्यप्रज्ञप्ति आदि में वर्णित है। द्रव्यों की चर्चा-विचार चौदह पूर्व में और सन्मति-तर्क आदि ग्रन्थों में है। चरण करण का विवेचन आचारांग सूत्र आदि में किया गया है।

इस तरह वर्तमान में उपलब्ध ४५ आगमों को इन चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है।

☆ आचारांग सूत्र टीका। श्री शिलांकाचार्यजी।

१४. ब्रह्म-अध्ययन

'नियाग-अष्टक में कहा है :

ब्रह्माध्ययन निष्ठावान् परब्रह्म समाहितः।
ब्राह्मणो लिप्यते नाघैः नियागप्रतिपत्तिमान् ॥

इस श्लोक के विवेचन में 'ब्रह्म-अध्ययन' में निष्ठा, श्रद्धा, आस्था रखने के लिए कहा है।

श्री आचारांग सूत्र का प्रथम भाग यही ब्रह्म अध्ययन है। जो कि यह श्रुतस्कंध है परन्तु श्री यशोविजय जी महाराज ने अध्ययन की तरह निर्देश किया है। इस प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन थे परन्तु इनका 'महापरिज्ञा' नामक सातवां अध्ययन करीब हजार वर्षों से लुप्त हैं।

'सत्थ परिण्णा लोग विजओ य सीओसणिज्ज सम्मतं।
तह लोगसारनामं धुयं तह महापरिण्णायं ॥

अट्ठएम य विमोक्खो उवहाणसुयं च नवमंग भणिया
—आचारांग-निर्युक्ति ३१-३२

(१) शस्त्र परिज्ञा
(२) लोक विजय
(३) शीतोष्णीय
(४) सम्यक्त्व
(५) लोकसार
(६) धूताध्ययन
(७) महा परिज्ञा
(८) विमोक्ष
(९) उपधानश्रुत

श्री शीलांकाचार्यजी कहते हैं "ये नौ अध्ययन संयमी आत्मा को मूल गुण और उत्तर गुणों में स्थिर करते हैं इसलिए कर्म निर्जरा के लिए इन अध्ययनों का परिशीलन करना चाहिए।"

१५. ४५ आगम

आज से २५०० वर्ष पहले श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वज्ञता प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उन्होंने ग्यारह विद्वान् ब्राह्मणों को दीक्षा देकर उन्हें 'गणधर' की पदवी दी। भगवंत ने ११ गणधरों को "त्रिपदी" दी। "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा।" इस त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने "द्वादशांगी" (बारह शास्त्रों) की रचना की।

पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ने जो द्वादशांगी की रचना की, उनमें से बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है। जो ग्यारह अंग रहे हैं उनमें से भी बहुत सा भाग नष्ट हो गया है तो भी जो रहा है उनको आधार मानकर कालांतर में अन्य आगमों की रचना की गई है।

इस तरह पिछले सैंकड़ों वर्षों से '४५ आगम' प्रसिद्ध हैं उन आगमों के ६ विभाग हैं।

११ अंग

१२ उपांग

४ मूल सूत्र

६ छेद सूत्र

१० प्रकीर्णक

२ चूलिका सूत्र

इन ४५ आगमों पर जो विवरण लिखे गये हैं वे चार प्रकार के हैं—(१) निर्युक्ति (२) भाष्य (३) चूर्णी (४) टीका। ये विवरण संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

अंग	उपांग	मूल सूत्र	छेद सूत्र	प्रकीर्णक	चूलिका सूत्र
आचार*	औपपातिक	आवश्यक	निशीथ	देवेन्द्र स्तव	नन्दी
सूत्रकृत्	राज प्रश्नीय	उत्तराध्ययन	दशाश्रुत	तंदुल वैचारिक	अनुयोग
स्थान	जीवाभिगम	दश वैकालिक	बृहत्कल्प	गणि विद्या	द्वार
समवाय	प्रज्ञापना	ओघ निर्युक्ति	व्यवहार	आतुर प्रत्याख्यान	
व्याख्या प्रज्ञप्ति	सूर्यप्रज्ञप्ति		जीतकल्प	महा प्रत्याख्यान	
ज्ञाता धर्म कथा	चंद्र प्रज्ञप्ति		महानिशीथ	गच्छाचार	
उपासक दशा	जंबू द्वीप प्रज्ञप्ति			भक्त परिज्ञा	
अंतत् दशा	निरयावलिका			मरण समाधि	
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतंसिका			संस्तारक	
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिता			चतुः शरण	
विपाक श्रुत	पुष्प चुलिका				
	वृष्णि दशा				

* आगम साहित्य की विशेष जानकारी के लिए देखिये "आर्हत आगमोनु अवलोकन" और पैंतालीस आगम" (लेखक प्रो० हीरालाल र० कापड़िया)

श्री विश्व कल्याण प्रकाशन, जयपुर

वार्षिक कार्य-विवरण

भादवा सुद १ सं० २०२५ को जयपुर नगर में चातुर्मासार्थ विराजित युवक मुनि महान् प्रवचनकार श्री भद्रगुप्त विजयजी महाराज सा० की प्रेरणा से सरल सुबोध एवं ज्ञान वर्धक साहित्य के प्रकाशन हेतु इस संस्था का जन्म हुआ। तीन वर्ष के इस अल्प शिशु संस्थान ने जो कार्य सम्पन्न किया वह स्वतः ही इस संस्था के कार्य व परिचय के लिये काफी है।

तीन वर्ष में योजनानुसार १२ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं अब तक ३०) रु० कीमत की १२ पुस्तकें सदस्यों के पास पहुंच चुकी हैं अभी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ६ पुस्तकें और प्रकाशित होनी हैं जिनकी कीमत भी करीब २०) रु० बनेगी। इस तरह इस योजना के अन्तर्गत ३१) रु० वाले सदस्य को ५१) रु० कीमत का साहित्य पांच वर्ष में प्राप्त हो सकेगा।

इस संस्था के अब तक ४०० के करीब सदस्य बन चुके हैं हैं इनमें हिन्दी भाषी प्रदेश के बाहर के भी सदस्य काफी संख्या में हैं। इन तीन वर्षों में प्रकाशन के अन्तर्गत २७ हजार पुस्तकें छप चुकी हैं। सदस्यता एवं पुस्तक बिक्री के करीब २४ हजार रुपये प्राप्त हुये हैं जबकि प्रकाशन व सामान खरीद में करीब २२ हजार रुपया खर्च भी हो चुका है।

प्रकाशन का साहित्य ग्रीष्म शिविरों (शीक्षा सत्र) में पाठ्य पुस्तकों के तौर पर भी चल रहा है। पूज्य भद्रगुप्त विजय जी म० की लेखनी से लिखा यह साहित्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। उत्तम छपाई, आकर्षक टाइटल एवं सुरुचि पूर्ण साहित्य के कारण हिन्दी साहित्य के प्रकाशन में इस संस्था ने थोड़े समय में ही अपना अच्छा स्थान बना लिया है। पूज्य

महाराज साहब का वरद् हस्त इस संस्था पर है इसीसे संस्था अबाध गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

संस्था चे पास जगह की अत्यधिक कमी है—साहित्य को सुव्यवस्थित रखना भी मुश्किल हो रहा है। इस ओर भी संस्था के सहयोगियों एवं शुभेच्छुओं को ध्यान करना ही है।

प्रारम्भ से ही संस्था को श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ, जयपुर का हार्दिक सहयोग मिल रहा है उसके लिये प्रकाशन आभारी है।

संस्था ने अपने कार्य के साथ ही कुछ दूसरे काम भी हाथ में ले रखे हैं। दिव्यदर्शन प्रकाशन की ३ पुस्तकों के प्रकाशन में भी अपना पूर्ण सहयोग दिया है। इसी प्रकाशन की चौथी पुस्तक 'आवश्यक सूत्र चित्रावली' जिसके प्रकाशन में करीब १५ हजार रुपया खर्च होगा, के कार्य में इस संस्था का पूरा योगदान है। इन पुस्तकों के विवरण में भी संस्था सक्रिय है।

पूज्य विशाल विजयजी म० सा० द्वारा लिखित 'सुदर्शना चरित्रम्' संस्कृत ग्रन्थ का प्रकाशन भी विश्व कल्याण प्रकाशन के सहयोग से हो रहा है। इस पुस्तक का प्रकाशन जल्दी ही श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ देरासर की पेढी, दौलत नगर, बम्बई की ओर से हो रहा है।

संस्था आपसे हर तरह के सहयोग की इच्छुक है संस्थायें ५०१) रु० भेजकर आजीवन सदस्य व साहित्य प्रेमी १०१) रु० भेजकर संरक्षक व ३१) रु० भेजकर पंचवर्षीय सदस्य जल्दी से जल्दी बने यही विनती है।

हीराचन्द बैद
पारसमल कटारिया
मानद् मंत्री

आय–व्यय परिशिष्ट (विश्व कल्याण प्रकाशन)

(भादवा सुद १ सं० २०२५ से भादवा बद ऽऽ सं० २०२८ तक)

(सं० २०२७ के भादवा बद ऽऽ को प्रकाशित आंकड़े सहित)

१९७३८) श्री विश्व कल्याण प्रकाशन सदस्यता शुल्क खाते जमा
१७४५४) गत वर्ष तक
२२८४) इस वर्ष के
१९७३८)

४२३३.२५ श्री पुस्तक एवं चित्र विक्री खाते जमा
३७७२) गत वर्ष तक
४६१)२५ इस वर्ष के
४२३३)२५

१३३)१० श्री सहायता खाते जमा
७६)१० गत वर्ष के
५७) इस वर्ष के
१३३)१०

२०५२०)२९ श्री पुस्तक प्रकाशन खाते नामे (पंचवर्षीय योजना की ११ पुस्तकें एवं अन्य ४ पुस्तकों एवं कर्म विज्ञान चित्र की छपाई, बाइंडिंग, ब्लाक, कागज, डाक व्यय, स्टेशनरी आदि में)
१४५७२)८८ गत वर्ष तक
५९४७)४१ इस वर्ष में
२०५२०)३९

११२८)५० श्री सामान खरीद खाते
गत वर्ष तक

८६) श्री खर्च खाते नामे
६०) गत वर्ष तक
२६) इस वर्ष में
८६)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] जयपुर

हीराचन्द जैन

[illegible] कटारिया

[illegible]

न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय यशोविजयजी को शत-सहस्र वंदन हो। जिन्होंने इस "ज्ञानसार" ग्रंथ की रचना कर भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग बताया। मोक्षमार्ग के प्रकाशक ऐसे महर्षि को पुनः पुनः वंदन करते है।



हे आत्मन् ! अनन्तकाल से अज्ञान दशा में तूने कितने पाप किये? अब तू ज्ञान नयन खोल संसार का स्वरूप देख। कितना दुःखमय यह संसार है? क्यों ऐसे संसार में फंस कर आत्मा को काला करता है? मोक्ष मार्ग पर चल। मोक्ष में ही शाश्वत सुख प्राप्त होगा।



सदस्य सूची

आजीवन सदस्य

१. श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ	जयपुर
२. श्री संपतराम जी लूंकड	शोलापुर
३. श्री भेरुबाग जैन संघ	जोधपुर
४. श्री शान्तिलाल जी बाफना	जयपुर
५. श्री पुनमचन्दजी हरीश्चन्द जी वडेर	जयपुर
६. श्री गुप्त एक सदस्य गृहस्थ	जयपुर
७. श्री शा फोजमलजी कपुरचंद जी	दावणगीरी
८. श्री ए माणकचंद जी वेताला	मद्रास
९. श्री पार्श्वनाथ जैन पेढी	रोहीडा
१०. श्री विजयसिंह जी सिंघवी	उदयपुर
११. श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ	उदयपुर

मानद सदस्य

१. श्री गोड़ीदास जी ढढ्ढा	जयपुर
२. श्री केशरी सिंह जी उमरावमल जी पालेचा	जयपुर
३. श्री गुजराती बहिन C/o मनसुखभाई, लीलाधरजी	जयपुर
४. श्री एम० मिलाप चंद जी	मद्रास
५. श्री चांद सिंह जी फतेहसिंह जी कर्नावट	जयपुर
६. श्री आचार्य चंद्र कांती सागर जी	अलवर
७. शा धर्माजी लखमाजी	दावणगीरी
८. शा० पुनमचंद जी चम्पकलाल जी	दावणगीरी

३१. श्री गेनमल जी जावंत राज जी पीरगल — सिकंद्रावाद
३२. श्री केवलचंद जी नाहर के परिवार — सिधनूर
३३. श्री जैन मूर्तिपूजक संघ — रायचुर
३४. श्री राणमल जी गोतमचंद जी — कुरनूल
३५. श्रीं धूपचंद जी गेवरचंद जी — कुरनूल
३६. अनराज जी सम्पतराज जी सोनी — सिकंद्रावाद
३७. पन्नालाल जी जुगराजजी वांठिया — सिकंद्रावाद
३८. शाह शान्तिलाल लुम्वाजी कोठारी — गदग